करके निर्माण की है। इस परिस्थिति में मेरे अन्तेवासी सुमित्त भिक्खु ने यथा सभव इस पुस्तकके प्रुफ देखकर सहायता की है अतः इसका नाम लिखते समय मुझे प्रसन्नता होती है

इस पुस्तकमें अज्ञताके कारण यदि कहीं भूल होगई है तथा सूत्रसिद्धान्तसे विरुद्ध उससे कुछ लिख गया हूं तो उसका निखालिस हृदयसे "मिथ्या दुष्कृतम्"

वीरस्तुतिके अभ्यासिओ! इसे भावशुद्धि पूर्वक पढिये, पठन और मननके द्वारा ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुके समान बनिये, एवं अपने हृदयसे पुरानी रुढियें एवं पक्षवाद-टोलावाद-सम्प्रदायवाद-गच्छवाद-पार्टीबाजी और मतभेदका कालापाप निकाल डालिये, और समदृष्टि बनकर भारतके दासत्वको दूर कीजिये जगतको भूखेमरनेसे बचाइये, अपने धर्मगुरुओंको राग-द्वेष-ईर्ष्या एवं मत्सरताके कीचडसे निकालिये, समाजमें सच्चरित्रता और पारस्परिक सहानुभूति पैदा करनेका आण सधार कीजिये, मेरी अन्तिम भावना यही है।

प्रस्तावना

काव्यं चैतदमूल्यमप्यनुपमं शब्दार्थरत्नाकरं, श्रीवीरस्तुतिनामतोऽविप्रथितं पुच्छिस्सुणस्याऽपि च। श्रीमत्सूत्रकृताङ्गसूत्रकरसाध्यायस्यसारात्मकं, यच्चित्यं प्रपठन्ति श्रावकगणाः साधूत्तमाः सादरम् ॥ कण्ठेनैव मुमुक्षवश्च पठनं कुर्व्वन्ति यस्यानिशं, एवं जैनसमाजकेऽपि निरताः स्वाध्यायमस्य प्रियम्। पाठं चास्य महत्प्रियात्प्रियतरं कुर्व्वन्ति प्रेमान्विता, जातं संस्करणं पवित्रजननं यस्याऽप्यनेकं मुहुः ॥ यत्राऽनन्तदयाकरस्य निखिलं सामर्थ्यसंवर्णनं, तच्चाल्पज्ञमनुष्यजस्य नितरां शक्यैव वार्ता भवेत्। आचार्येण सुधर्मणा विरचितं यद्वै कृते योगिनां, योग्यं प्रोचमिदं विचार्य्य सुधियां मोदप्रमोदार्थिनाम् ॥ काव्येऽस्मिन्पुनरत्रकिरस्ति मुनिभिर्नोद्भावनीया कश्चिद्दृष्ट्याऽध्येतृगणस्यपाठकरणाच्छब्दार्थगाम्भीर्यात्। श्रीमद्देवगणस्य वाक्यतुलना तादात्म्यदृष्ट्यात्मकात्सत्यासत्यविचारचारुनयनात्सम्पूर्णतत्वं महत् ॥ सर्वाङ्गस्य रहस्यबोधजनने स्पष्टं भवेद्बोधनं, श्रीमद्धर्म्ममयस्य श्रीगणधराचार्यस्य कथाश्रयः। प्रत्येकार्थगतं कियत्कतिविधं भिन्नं तथा प्रस्फुटं, सर्वं काव्यगतं समस्तविषयो विज्ञानरूपात्मकम् ॥ आचार्येण सुधर्मणा रसयुते काव्येऽत्र शिष्याय च, स्वान्तःस्थाय च जम्बुदेवसुभये यद्दर्शितं प्रेमतः। ज्ञानं शासननायकत्वमखिल तीर्थङ्करत्वं तथा, अन्त्यं श्रेष्ठ्यमत्वमेव जगतामुद्धारकत्वं पुनः ॥ श्रीयोगीन्द्रशिखामणेर्भगवतो वीरस्य ज्ञान तथा, चारित्रं खलु दर्शनं च बहुधा स्वाध्यायज्ञानं मुहुः। सुस्पष्टं च निदर्शितं प्रवितते केन प्रकारेण च, तद्वत्तद्गुणसाम्यमेवमखिलब्रह्माण्डभाण्डोदरे ॥ स्वाध्यायं प्रतिप्रेमिणा च महतां सम्भावुकानां पुरः, श्रीमच्छ्रीगणदेवनायकवराणां सुन्दरं चोत्तमम्। सच्चित्यं हितकारकाशययुतं येनैव साकं तथा, अध्यात्म्याह्वयरसान्वितामृतमहावार्याम्बराणामलम् ॥ एवं कोविदकाव्यकौशलयुजां सङ्गृह्य सर्वाशयं, टीकायां सुसमन्वितं प्रवितते कृत्वाऽत्र सन्दर्शितम्। जैनानां च नृणां तदन्यविदुषां स्थानं प्रदत्तं पुनः, शास्त्राणां निखिलं समन्वयमदोऽभेदेन शश्वत्कृतम् ॥ अयं निर्विवादः स्वयं सिद्धरूपः, समस्तस्य काव्यस्य मूलं शिखेति। इयं सिद्धमध्यात्मतत्वाम्भसा च, कुतो भ्राजते मणिप्रत्यग्रदेन ॥ महा सुप्रभावस्य तेजोमयस्य, सुधर्माख्यदेवस्य चेदृक्कृतिश्च। नरो जीवने स्वस्य चात्मोपरिष्टात्प्रभावस्य संस्थापनार्थं प्रयासात् ॥ तथाऽध्यात्मतत्त्वोत्तमं पाठमेवं, सदा सम्प्रयुङ्क्ते तथाऽभ्यासकार्यम्। सुज्ञ तस्य तत्वार्थ-

भावार्थकस्य, प्रबोधार्थमत्यन्तमावश्यकत्वम्। अतोऽप्यस्य मूल्यद्वयं सम्प्रधार्य, बृहत्स्तुत्यमेतत्तथाऽध्यात्मपूर्णम्। शुभाऽध्यायजस्य यथा बुद्धिशक्तिः, समस्तं यथार्थानुभावं च ज्ञात्वा॥ सुसंस्कारशब्देन वा भाषया च, समृद्धं कृतं तस्य सुख्योऽस्ति हेतुः। तथा मातृभाषानिबद्धं प्रसिद्धं, जनानामनेकार्थतत्त्वप्रदीपम्॥ तथा ज्ञापनार्थं च भावस्य तस्य, ऋजुर्वा मृदुर्वाऽस्य भाषानुवादः। तदाऽऽवश्यकत्वं च तस्यैव भावं, मृदुत्वं प्रगृह्य स्फुटं भासते च॥ गुर्जरे चानुवादोऽस्य कालीयकच्छनिवासेन क्षेमेन्दुनाऽस्य प्रकाशः। कृतः भावकेणाथ तस्यैव तत्त्वं, तथा सुप्रसिद्धोऽनुवादः स्वतन्त्रः॥ कदाचिज्जैनानां त्रिपुटदलवृन्दे च जनता, प्रसक्तानामेवं यदि सदुपयोगश्च भवति। सदैवद्भावेन विबुधजनसेवासु निरतः, प्रकाशं सर्वत्राऽखिलविशदबोधाय कृतवान्॥ पवित्रोऽयं पाठो बहुरुचिकरो मेऽस्ति मनसा, करोमि स्वाध्यायं मननपरिपूर्णेन सुखतः। महानन्दस्वादो भवति करुणाब्धास्य सततं, सुलभ्यं सौभाग्यं प्रतिदिनवितृष्णो विरमति॥ मुमुक्षूणां चित्ते सुखरससुधान्तिं वितनुते, मुहुर्जिज्ञासा नो बहुविधमलं चास्य विरतिः। तदा जाता भावाखिलमतिसुपूर्तिर्निगदिता, सदैव ज्ञातव्यं यतिमुनिगणैर्मुक्तिनिलयैः॥ यदाऽऽवश्यकत्वेन यस्याऽस्ति पूर्तिः, प्रजाता च संस्कारतोऽनेकवारम्। समर्थश्च सर्वाङ्गतो लब्धमेतत्तदाऽस्योत्तरं पत्रमेतद्ददातु॥ अथो पाठकानां जनानां च स्फुर्क, तथा वाचकोपर्य्यन्तो सुफमेतत्। ममाऽस्य प्रलेखेन वा ज्ञापनेन, न चाऽऽवश्यकत्वं न वा कारणत्वम्॥ यदा पीयते चामृतं स्वादवद्भिस्तदा नोच्यतेऽमर्त्यता मेऽस्ति कीदृक्। सुमिष्टं च तिक्तं मदीयं कियद्वा, प्रसिद्धं हि लोके रसस्वादुकत्वम्॥ मुदा वर्णनं तस्य जिह्वा करोति, स्वयं वर्णनस्याविशेषं विधत्ते। मया न्यायमार्गानुरोधेन चैव, स्वकीयायत्ती लेखनी स्थाप्यतेऽत्र॥

भावार्थ–यह काव्य श्रीमत्सूत्रकृताङ्गसूत्रके छठवें अध्यायकी अनुपम और मौलिक वस्तु है. और 'वीरस्तुति' या 'पुच्छिस्सुणं' के नामसे अतिप्रख्यात है। बहुतसे जैनबन्धुओंको तो यह मुखस्थ होती है, अनेक जिज्ञासु महानुभाव इसका प्रातःसायं व्यवधान रहित नित्य पाठ करते हैं, और जैन समाजमें यह पवित्र पाठ इतना अधिक प्रिय है कि इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रभुके अनन्तसामर्थ्यका वर्णन करना तो मानो छद्मस्थ-मानुषी शक्तिके बाहर है, और इस विषयके वर्णनकरनेमें श्रीमान् सुधर्माचार्य जैसे महान् ज्योतिर्धर और परम योगीको ही योग्य अधिकारी समझा गया है।

अपलक दृष्टिसे स्वाध्यायकरनेपर पाठकोंको इस काव्यमें कई स्थलोंपर कुछ पुनरुक्तिएँ भी प्रतीत होंगी, परन्तु प्रत्येक शब्द, और शब्द-स्वामी गणधरदेवके वाक्यका तुलनात्मकदृष्टिसे मनन करनेपर तत्त्वका सम्पूर्ण और सर्वाङ्ग रहस्य इस प्रकार सरलतासे समझमें आता है कि गणधरभगवान्का मुख्य आशय प्रत्येक शब्द और अर्थमें कितना भिन्न और स्पष्ट है।

इस काव्यमें भगवान् सुधर्माचार्य अपने अन्तेवासी शिष्य जम्बूको यह बताते हैं कि शासननायक-चरमतीर्थङ्कर-जगदुद्धारक-श्रीमहावीरयोगीन्द्रचूडामणिके ज्ञान-दर्शन और चरित्र आदि गुण किस प्रकारके थे, उन गुणोंकी तुलना जगत् भरकी सर्वोत्तम सारभूत वस्तुओंके साथ करके प्रभुका महत्त्व बताया गया है।

स्वाध्यायप्रेमी महानुभावोंके सन्मुख श्रीमद्गणधरोंके परमसुन्दर और हितरूप आशयके साथ मिलते जुलते भाव तथा अन्यान्य अध्यात्मरसिक आचार्य और कविकोविदोंके आशयोंका भी इस विवृतिमें समन्वय किया है और जिसमें जैन तथा जैनेतर ग्रन्थोंको स्थान देते समय किसी प्रकारका भेद नहीं रक्खा है।

यह निर्विवाद और अपने आप सिद्ध है कि इस काव्यका मूल और शिखा दोनों ही अध्यात्मरसमें परिसिंचित हैं क्योंकि गणधरपदविराजित महाप्रभावशाली श्रीसुधर्माचार्य भगवान्की तो यह कृति है, और मनुष्यमात्रको अपने जीवनमें अपने आत्माके ऊपर अध्यात्मविषयक प्रभाव डालनेके लिये इस प्रकारके उत्तमोत्तम पाठोंको सदैव बोलते रहनेका अभ्यास रखनेकी तथा उसके तत्त्वमयभावार्थको समझनेकी भी अत्यन्त आवश्यकता है, अतः इसी मूल आशयको लेकर इस महान् एवं स्तुत्य अध्यायको यथामति यथाशक्ति एवं यथानुभव संस्कृतविवृति तथा भाषानुवादसे समृद्ध किया है। इसका एक मुख्यकारण यह भी है कि हमें भगवान् महावीर प्रभुकी देन है और उसे उनके तत्त्वको संसारके कोने कोने तक पहुंचाकर ही पूरा किया जा सकता है। और मातृभाषामें सर्वसाधारण जनताको तत्त्वबोध और उसका अन्तर्भाव समझानेकेलिये उसके सरलातिसरल भाषान्तरकी भी बड़ी आवश्यकता है। इन्हीं भावोंको लेकर इसका गुर्जर-अनुवाद भी कलकत्ता निवासी श्रीक्षेमचंद श्रावकसे कराया है, और उन्होंने भी इसका गुर्जरगिरामें स्वतन्त्र अनुवाद किया है। यदि कदाचित् यह त्रिपुटी जैनसमाज तथा प्राणीमात्रके लिए कुछ उपयोगी हो

सके इस भावसे प्रेरित होकर इसका प्रकाशन किया है। मुझे तो इसके प्रति-समयके स्वाध्याय और पाठसे भरपूर शांतिसुधाधाराका अव्यवच्छिन्नरूपसे आस्वादन करनेका पूर्ण सौभाग्य मिल रहा है। अतः मुझे पूर्ण आशा है कि अन्यान्य मुमुक्षुमहानुभावोंको भी इसके निरन्तर पाठ तथा मननात्मक स्वाध्यायसे अवश्य शान्तरसकी प्राप्ति होगी। यद्यपि इसकी कई आवृत्तिएँ निकलकर प्रकाशित हो चुकी हैं परन्तु यह संस्करण जिस आवश्यकताकी पूर्तिमें सर्वांश सफल हुआ है इसका उत्तर पाठकगणोंके ऊपर ही छोड दिया जाता है, कहने सुनने और लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। कारण यह है कि जिस समय अमृतका पान किया जाता है उस समय वह जनताको यह नहीं कहता है कि मेरा स्वाद कैसा है? उसका वर्णनतो जिह्वा स्वयं करने लगती है तथा उसकी प्रशंसाके पुल बांध देती है। अतः इस न्यायको लक्ष्यमें रखकर इस लेहलेखनीको विराम देता हूं॥

लघुतम—

'पुष्प भिक्खु.

सहायक

वीरस्तुतिकी विभूतिके अर्थ जिन जिन पुस्तकों का अवलोकन करके अपने अनुभवानुसार जिन जिनके प्रमाण अङ्कित किये हैं उनका नामोल्लेख इस प्रकार है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति-आचाराङ्ग-विशेषावश्यकभाष्य-धन्यकुमारचरित-समवायाङ्गसूत्रविवृति-सूयगडांगसुत्त-शब्दार्थचिन्तामणि-अमरकोष-कुलार्णव-मेदिनी-धनञ्जयनाममाला-धनञ्जयकोश-शब्दस्तोममहानिधि-वर्णनिर्णय-वर्णसारसमुच्चय-उत्तराध्ययनसूत्र-दशवैकालिकसूत्र-मार्कण्डेयपुराण-सुभाषितरत्नसन्दोह-तत्त्वार्थाधिगम-मनुस्मृति-बृहद्द्रव्यसंग्रह-परमात्मप्रकाश-याज्ञवल्क्यस्मृति-स्थानाङ्गसूत्र अमितगतिश्रावकाचार-समयसार-प्रवचनसार-नियमसार-योगशास्त्र-पतञ्जलियोगदर्शन-महाशान्तिपाठ-सागारधर्मामृत-पद्मसमपार्श्वनाथचरित-अभिधानप्पदीपिका-महाभारत-ज्ञानार्णव-आवश्यकचूर्णि-जैनप्रकाशकाउत्थानअंक-परिशिष्टपर्व-वात्स्यायनसूत्र-बुद्धचर्या-मज्झिमनिकाय-पुरुषार्थसिद्ध्युपाय रत्नकरण्डश्रावकाचार-धवलसिद्धान्त-मूलाचार-आवश्यकभाष्य-पन्नापनासूत्र-प्रवचनसारोद्धार-भगवती आराधनासार स्तोत्रसमुच्चय-स्तोत्ररत्नाकर-काव्यमाला.

इन सब पुस्तकोंके सुलेखक एवं अनुवादकोंका एक साथीदारोंके नातेसे इनके साथको मैं कभी नहीं भूल सकता। तदुपरान्त प्रत्यक्ष या परोक्षमें जिन जिन महानुभावोंने प्रोत्साहन प्रेरित किया है उन सबका उल्लेख करना भला मैं क्योंकर विस्मृत करसकूं?

विभूतिकारः

निदर्शन

उपासकके अन्तरमें भक्तिभावका ओघ उछलने लगता है तब स्तोत्र या स्तुतिका साहित्य-सर्जन होता है, इस प्रकारकी भारतीमें कई बार अमूल्य रत्न बहकर निकल आते हैं। विवेचक इन रत्नोंका मूल्य आंकने एवं समझनेकेलिये लम्बे चौडे भाष्य और टीकाएं बनाते हैं। जैन साहित्यमें तीर्थंकर-भगवान्‌की स्तुतिओंका साहित्य पुष्कळ प्रमाणमें पाया जाता है। यहां तक तो है, कि अन्य कोई दर्शन उसकी बराबरी नहीं करसकता, यह कहदें तो कोई अत्युक्ति न होगी। समर्थ नैयायिक और वैयाकरणी भी काव्यसाहित्यमें जो कुछ अपनी प्रतिभा उंडेलनेको उद्यत हुये हैं तो वह भी स्तुतिसाहित्यका ही प्रताप है। आमका वृक्ष फलोंसे लदा हो, मञ्जरी महकती हो और वसन्तका वायु चलता हो तो कोयल परवश होकर भला पंचमस्वर निकाले विना क्योंकर रह सकेगी? इसी प्रकार न्याय-दर्शन-व्याकरण या अन्यान्य कठिनसे कठिन शास्त्रोंमें पारंगत समझे जानेवाले पुरुषोंके अन्तरमें किसी समर्थपुरुषके प्रति भक्तिभाव जागृत हो तो वे स्तुतिके साहित्यकी उपेक्षा कभी न कर सकेंगे। चन्द्रदर्शनसे उभरकर बढनेवाले महासागरकी भांति अन्तर भी भक्तिसे संक्षुब्ध बन जाता है। परन्तु परमपुरुषकी स्तुतिओंमें केवल काव्य अथवा साहित्यका ही अंश हो यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है। स्तुतिका रचयिता उस समय जब कि कविका आसन स्वीकार करता है परन्तु अपनी विशिष्टताको नहीं छोडता। इसीलिये कि स्तुतिओंके साहित्यमें तत्वज्ञान अध्यात्म झलक और बुद्धिचातुर्यके अद्भुत अंश उसे उस समय भी प्राप्त होते हैं।

समग्र आगम-समूहके उपोद्घातके समान गिने जानेवाले नन्दीसूत्रमें श्रीदेव वाचक क्षमाश्रमणने मङ्गलाचरणके रूपमें जो गाथायें ग्रंथन की हैं उसमें मूलमें तो श्रमण भगवान् महावीर प्रभुकी स्तुतिका ही प्राधान्य है परन्तु उसमें इतना अधिक गम्भीर अर्थ है कि आचार्यमलयगिरि रचित संस्कृत टीकारूप तालिकाको समझे विना उस स्तुतिके गंभीर अर्थकी कल्पना शायद ही किसीकी समझमें आयगी।

श्रीमलयगिरिने स्तुतिके श्लोकोंकी व्याख्या करते समय आप्तवाद-स्याद्वाद-आत्मवाद-प्रमाणवाद जैसे तत्वज्ञान सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तोंको स्पष्ट कर दिखाया है।

इसी प्रकार महाकवि धनपालने भी महावीर स्तुति संस्कृतमें रची है। परन्तु उसमें विरोधाभावके अलंकारोंका ऐसा संग्रह किया है कि कोई भी रसिक आत्मा उसके रसास्वादनसे पुलकित हुये विना न रहसकेगा।

आशय यह है कि स्तोत्रके या स्तवनके साहित्यमें कवित्वके उपरान्त अलंकार और तत्वज्ञानके असंख्य विषयोंके समाविष्ट करनेका एक कालमें रिवाज था। और जो श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्रके छठें अध्यायमें समाई हुई वीरस्तुतिको विचारपूर्वक पढेगा, अवधारण करेगा उसे उसमेंसे उपासनाके रस-आनन्दके उपरांत प्रभु महावीरके यथार्थस्वरूपका भी विचार सहजमें आ सकेगा।

प्रकृतिके इस प्रवाहरूप सिद्धान्तात्मक नियमानुसार मुनिश्रीने भी यथा-सम्भव शुद्धतापूर्वक संस्कृतवाणीमें टीका रचकर इस स्तुतिके मूलके साथ प्रकट किया है, और जैनसाहित्यकी, जैनउपासकोंकी अत्यधिक सेवा की है।

जैनोंका अधिकांश भाग वीरस्तुतिको प्रेमसे कण्ठस्थ करता है तथा आनन्दके साथ भावुकता पूर्वक पढनेका गौरव प्राप्त करता है। अन्यान्य स्तोत्र-स्तवन और स्तुतिओंकी अपेक्षा इसमें एक प्रकारकी विशेषता है जिसके कारण यह स्तुति कण्ठस्थ रहकर इतनी स्वीकृति और आदरको प्राप्त है। यह इसमें एक विशेषता है, परन्तु वह विशेषता क्या है?

महावीरस्वामीके एक समर्थ गणधर श्रीसुधर्मस्वामी स्वयं अपने अन्तेवासी जम्बूके सन्मुख भक्तिपूर्वक गद्गद होकर वीरप्रभुका प्रताप, प्रभाव और माहात्म्यका वर्णन करते हैं। श्रीसुधर्मास्वामीने अपने जीवनकी धन्य घडियोंमें जो कुछ देखा सुना एवं अनुभव किया है उसीका वर्णन अपने शिष्यके सामने किया है। स्तुतिको पढते या सुनते समय हमें भी यही प्रतीत होता है कि सुधर्मास्वामी महावीर परमात्माकी महिमाका वर्णन करते समय गुप्त रहिसे मानो यही कह रहे हैं कि "अभी बहुत कुछ शेष है, अभी और बहुतसा अनिर्वचनीय है" वे प्रभुके स्वरूपका कुछ भान करानेकेलिये जगत्की उत्तमोत्तम सामग्रीओंके साथ उनकी तुलना करते हैं। मेरु पर्वत, नन्दनवन, चंद्रमा, स्वयम्भूरमण समुद्र इनमेंसे सभी कुछ, यानी किसी भी सुन्दर वस्तुको वे नहीं भूले हैं। तथापि अन्तमें नेति-नेति कहकर मानो विराम पा रहे हैं। प्रभुके गुण अपार होनेसे उनका अन्त ही न आवगा ऐसी सूचना करनेका आभास भी इसमेंसे मिल रहा है।

जिस वीरपरमात्माका शब्दचित्र इतना भव्य है तब उनके साक्षात् परिचयमें आनेवाले श्रीसुधर्म्मास्वामीके अन्तरमें इस स्तुतिकाव्यकी स्फुरणा हुई होगी तब उन्होंने कैसी रमणीय अन्यमनस्कताका अनुभव किया होगा। तीनलोककी उत्तमोत्तम रससामग्री भी भगवान्के सत्य स्वरूपके सन्मुख उनको तुच्छ लगती होगी। इतनेपर भी भगवान्की पहिचान करानेके लिये वे प्रयत्न करते हैं और एक अमर स्तुतिकाव्य रचकर जगत्को सौंप देते हैं।

महावीरके भक्तोंके मनको महावीर भगवान्के यथार्थ स्वरूपकी सुन्दर और गहरी झांकी हो, उसकी अपेक्षा मूल्यवान् उपादेय वस्तु और क्या हो सकती है। जैनसंघ इस स्तुतिके पठन पाठन और चिन्तनके प्रतापसे उनके सिद्धान्तोंका अनुसरण करनेके लिये भाग्यशाली हो! इतनी ही प्रार्थना करना बस है।

ज्ञातसेवक

॥ अभिप्रायाः ॥

ज्ञातृपुत्रमहावीरः, सर्वज्ञस्तु जगद्गुरुः ।
तस्य स्तुतेर्मनोरम्या, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
निखिलागमविज्ञेन, सिन्धवङ्गविहारिणा ।
निर्मिता पुष्पचन्द्रेण, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
गीर्वाणी हैन्दवीभाषा, गुर्जरीया तथैव च ।
त्रिभाषासङ्गमो यत्र, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
भवबन्धापहर्त्री च, सूत्रबोधस्य दीपिका ।
शरण्या सर्वजीवानां, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
वाच्यवाचकभावस्तु, स्फुटो यत्र विधीयते ।
लालित्यादिगुणैराढ्या, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
विबुधेन्द्रमुनीन्द्राणां, चरतां शास्त्रवर्त्मसु ।
कंठाभूषणकं भाति, सा टीका कस्य न प्रिया ॥
विद्यापीठे तु संस्थाप्य, टीकां पाठ्यविधायकाः ।
धर्म्मोन्नतिश्च कर्त्तव्या, हि पुष्करमुनेर्मतम् ॥

व्याकरण–काव्य–न्यायतीर्थः
पुष्करो मुनिः—

संसारार्णवसेतुतामुपगता सिद्धान्तचिन्तापरा,
कल्याणायनदर्शिकाऽत्यविरतं सत्याणिनां सर्वतः ।
हिन्दी-संस्कृत-गुर्जरी प्रभृतिभिर्भाषाभिराभूषिता,
श्रीपुष्पेन्दुमुनीरिता विजयते वीरस्तुतेर्विवृतिः ॥ १ ॥

ता० १-९-३९
विद्यामन्दिर
कानपुर.

पाण्डेय देवेन्द्रनाथ शर्मा

मुणि सिरि उवज्झाय आयारामस्स सम्मइ

मए वीरत्थुइ नामा लहुवी पोत्थियं अवलोइया, सा थुइ पोत्थिया भत्तिभावेण अलंकिया, पोत्थिया भत्तिभावेण विन्नत्ता, अम्भुअरसस्स पयाण कत्ता-जहावि कइ वाहं विसएसु मयभेओऽत्थि किन्तु कत्तुणा भत्तिभावं अणुवमं दंसिता। मम मणो अईव पसन्नभूओ, कत्तुणो पुणो पुणो धन्नवायं देमि। जेण धइपरीसमेण भत्तिवसेण अईव संम्मइ कट्टु, जणयाए भत्तिमग्गं पदंसिया। सत्थेवि उत्तं, अरिहंताइणो भत्तिभावेणं जीवो तित्थयर नामगोयं कम्मं निबंधइ। इयं रयणा सुंदराऽत्थि, भव्वजणाणं अवस्समेव भणणिज्जो, कत्तुणा जहाठाणे अईवउवओगी उद्धरणाणं पसंसणिज्जो संगह कडं, तहा उत्तरज्झयणस्स तव-मग्गोऽवि उत्तं, 'गुरुभत्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ' एवं वीरभत्ति वा वीरत्थुइ वि विणयरूवोऽत्थि, तहा उत्तराज्झयणस्स एगूणतीसाए अज्झयणं थुइस्स एवं फलं वण्णिअ जहा—"थय थुइमंगलेणं भंते जीवे किं जणयइ? उ० नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं जणयइ। नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अन्तकिरियं कप्पविमाणोववत्तिगं आराहणं आराहेइ ॥ १४॥ अओ वीरत्थुइ अवस्स भणणिज्जो।

१९९६ सावणसुक्का एगादसी, सुक्कवारे,
लुद्धियाणा णयरे, उवज्झाय जइणमुणि

आयारामो

देहली शहर महावीर जैनभवन
ता० २७ अगस्त १९३९ ई०

शान्तस्वभावी, वैराग्यमूर्ति, विद्वान् **श्रीमज्जैनाचार्य पूज्यश्री खूबचन्दजी म०** साहबकी सम्मतिः—

"वीरस्तुतिः" नामक पुस्तक भाई पंचमलालजी द्वारा पठनार्थ मिली, पुस्तक सरसरी नजरसे देखी, अहिंसाके अवतार भगवान् महावीर प्रभुकी स्तुति मूल गाथाओंके साथ हिन्दीभाषामें अच्छे ढंगसे लिखी है। वर्तमान समयमें ऐसे २ शुद्ध हिन्दीभाषायुक्त धार्मिक साहित्यकी विशेष आवश्यकता है।

जैनधर्मोपदेष्टा विद्वान् मुनिश्री फूलचन्दजी ने वीरस्तुति लिखनेका स्तुत्य कार्य किया है। आशा है स्वाध्यायप्रेमी महानुभाव इस वीरस्तुति पुस्तकके स्वाध्यायसे आत्मकल्याणका लाभ अवश्य उठायेंगे। अस्तु।

हस्ताक्षर—आर्य जैन सुखमुनि
द्वितीय श्रावण शु० १२, रविवार, सं० १९९६

पुस्तक दर्शनीय है, मूलगत भावोंको काफी सरलताके साथ घनहानेकी चेष्टा की गई है। यथा प्रसंग अन्य ग्रन्थोंके उद्धरण सोनेमें सुगन्धिका काम करते हैं यह अतिशयोक्ति न होगी। यदि मैं कहूं कि वीरस्तुतिका इतना लोकप्रिय संस्करण अभी तक कहींसे भी प्रकाशित नहीं हुआ।............... कुछ स्थान ऐसे भी हैं जहां लेखक स्वतन्त्र होकर चल पड़ा है, अस्तु तत्तत् स्थलोंपर लेखकसे हमारा 'मत' भेद है। परन्तु ये सब बातें "एको हि दोषो गुणसंनिपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः" की सदुक्तिके अनुसार अन्य श्रेष्ठताओंमें छुप जाती हैं। स्थानकवासी (जैन) समाजकी ओरसे ऐसी सुन्दर कृति उपस्थित करने के उपलक्ष्यमें श्रीयुत पुष्पभिक्षु वास्तवमें बधाईके पात्र हैं।

जैनाचार्य-पूज्यश्री पृथ्वीचन्द्रजी महाराज
ता० २५ अगस्त, सन् १९३९

पुस्तक काफी सुन्दर लिखी गई है, बहुतसे स्थलोंपर तो व्याख्या काफी प्रभावोत्पादक हो गई है। संस्कृत हिन्दी और गुर्जर तीनों भाषाओंमें व्याख्या को डालकर लेखकने क्या विद्वान् क्या सर्वसाधारण सभीके लिये अध्ययनका मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

श्रीयुत पुष्पभिक्षुने अन्य भी उपयोगी पुस्तकें लिखी हैं, परन्तु प्रभु महावीरके चरणोंमें उनकी यह श्रद्धाञ्जलि तो अतीव उत्कृष्ट श्रेणीपर पहुंच गई है। मैं आशा करूंगा कि समाज उक्त कृतिको अधिकसे अधिक अपनायेगा और प्रभु वीरके गुणगान द्वारा लेखकके श्रमको सफल करता हुआ अपने जीवनको भी सफल बनायेगा॥

व्याख्यान वाचस्पति पंडितश्री मदनलालजी म०,
ता० २५ अगस्त, सन् १९३९

ग्रन्थ परमोपयोगी है, इसमें कुछ सन्देह नहीं कि मुनिजीने हर एक विषयको बड़ी गम्भीरता और साथ ही सरलतासे सुसज्जित किया है। आशा है कि ईश्वर संस्तवन प्रेमी संसार इस ग्रन्थसे महान् लाभ उठायेगा। मुनिश्रीका परिश्रम और विज्ञानबोध इस ग्रन्थके अवलोकन करनेसे अनिर्वचनीय प्रतीत होता है।

सम्मति प्रदाता—
"मुनि बालभिक्षु प्रेमेन्दुः"

वीरस्तुति नामकी पुस्तक देखी, लेखक मुनिश्रीने अत्यन्त परिश्रमसे तैयार कर जैन समाजपर उपकार किया है। तीर्थंकरोंकी स्तुति करना आत्माको पवित्र बनाना है। तीर्थंकरोंकी स्तुति करते हुवे उच्चकोटिकी भावना आजाय तो तीर्थंकर जैसी आत्मा बनजाती हैं। अतः जैन समाजको सम्मति देता हूं कि वीरप्रभुकी स्तुति हमेशा पढ़ा करें। जैनाचार्य पूज्यश्री-खूबचन्दजी महाराजका सम्प्रदायानुयायी—**आर्य जैन मुनि हीरालाल २९-८-३९, अंबाला शहर**

...साहित्याकाशभ्रमणभानु पुप्फभिक्खु रचित संस्कृत और हिन्दी भाषामें वीरस्तुतिका दर्शन किया। आपने इस उन्नतिके युगमें इस प्रकार लेखनी उठाकर जैन संसार पर ही क्या बल्के भव्यसाक्षरसृष्टिका कल्याण कार्य किया है। यह रचना रोचक और हृदयङ्गम है, मानवके आन्तरिक विचार इसका स्वाध्याय करते करते भक्तिसागरमें लहरायमान होने लगते हैं।

वीरस्तुतिके विषयमें मेरा इतना ही कहना बस है कि इसका सम्पादन विज्ञानके युगमें वैज्ञानिक ढंगसे किया गया है, अतः स्थानकवासी जैनसमाजके लिये यह बडे गौरवकी वस्तु है। जैन समाजके मुनि धार्मिक ग्रन्थ शास्त्र अथवा अन्यान्य ग्रन्थोंपर टीका रचना कुछ भूलसे गये थे। लोकाशाहके अनन्तर स्वतन्त्र साहित्य विकासका उत्सर्जन हुआ गया था परन्तु पुप्फ भिक्खुने वीरस्तुतिके प्रभावसे उस कमीकी पूर्ति कर दी। हे पुप्फभिक्खु! साधुवाद!

शासन प्रेमी—**धनचन्द्र भिक्खु ता० २८-८-३९, इंदौर (मध्यभारत)**

अयि, अशीमशेमुषिमुषितदोषाः! अर्जितविद्याकोषाः! भिक्षाधीतास्यातादोषजैनमुनिप्रवराः! विदितमस्तु अत्र भवतां श्रीमतां, यन्मुनि पुङ्गवेन श्रीफूलचन्द्रेण रचितं नमा कन्दनकं काव्यं मया सम्यक्समवलोकि, यन्निश्चितं स्वस्वान्ते यदेतत्काव्यं शिक्षयति जैनमुनीन् मधीदृशेन गुरुणा भाव्यं तथेदृक्षेण च शिष्येण। ये हि मुनयः पूर्वमपरीक्ष्यैव शिष्यान्दीक्षयन्ति तेऽचिरादेव विकृतिं प्रयान्ति। तान् एवा मुनीन्द्ररचिता कृतिः सम्यगवबोधयति, ये च जिनधर्माचारप्रचरणे परित्यक्तनिजप्रयोजनाः सन्ति, तथा परस्परेर्ष्यामोहनिद्रया निद्रिता वर्तन्ते तेषु मातेव जागृतभावमुत्पादयतीति, नाद्यावधि केनापि जैनमुनिना स्वसंप्रदायपोषकमीदृक्षं संस्कृतकाव्यं विरचितं दृष्टिपथमवतरति। एतद्धि न्यूनतापूरकमिति मे मतिः। अहो एतत्काव्यसुधारसं स्वादं सन्तुष्यमाणो मेऽन्तरात्मा नान्तर्माति, नूनं हि एतस्य कवित्वतत्त्वमनुकरोति कालीदासादीनां कविपुङ्गवानां कविताम्। असिन्सम्यगवबोधिता जैनसम्प्रदायानुसारं गुरुशिष्यव्यवस्था, तस्यामपि कविरत्नसौष्ठवेन हेम्नि सौरभसन्दोह उत्पादितः। नूनमेषा कृतिर्जैनसम्प्रदायानुयायिभिर्मुनिभिः समादरणीया तेषु बहूपकरिष्यतीति मनुते—

पण्डित-**हंसराजशास्त्री, व्याकरणरत्नः, साहित्याचार्यश्च,**
प्रधानाध्यापकः, संस्कृतविद्यालय मलेरकोटलाराज्ये (पाचालः)

प्राक्कथन

श्रीमत्सूत्रकृताङ्गसूत्रके पंचम अध्यायमें 'नरकविभक्ति' का अधिकार प्रतिपादन किया गया है और वह ज्ञातपुत्र महावीर भगवान्ने स्वयं कहा है। इसके अनन्तर उनका ही चरित्र इस गुणकीर्तनविभूतिरूप छठवें अध्यायमें वर्णन किया है।

शास्त्रोपदेशकके महत्वसे शास्त्रका महत्व है इस सम्बन्धसे इस अध्यायके उपक्रमादि चार अनुयोग होते हैं। उसमें भी उपक्रमके अन्तर्गत जो अर्थाधिकार है वह महावीर प्रभुके गुणसमूहका उत्कीर्तनरूप है। अनुयोगका दूसरा भेद निक्षेप है, जिसके दो प्रकार हैं। ओघनिष्पन्न और नामनिष्पन्न। ओघनिष्पन्न निक्षेपके रूपमें यह अध्याय और नामनिष्पन्नके रूपमें महावीर स्तुति। उसमें 'महत्' 'वीर' और 'स्तव' के निक्षेप उल्लेखनीय [redacted]।

'जैसा उद्देश वैसा निर्देश' इस न्यायके अनुसार प्रथम 'महत्' शब्दका निर्णय किया जाता है। यह 'महत्' शब्द बहुरूप है। जैसे कि 'महाजन' बड़ा आदमी है। 'महाघोष' अतिरूप है। महाभय-प्राधान्य रूप है। महापुरुष सबमें श्रेष्ठ पुरुष है। ये चार अर्थ 'महत्' शब्दके प्राधान्य अर्थमें प्राप्त हैं। यथा—

पाहण्णे महासद्दो, दव्वे खेत्ते य काले भावेय।
वीरस्स उ णिक्खेवो, चउक्कओ होइ णायव्वो॥

महावीर स्तवमें 'महत्' शब्द प्राधान्य अर्थ में है, और वह नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव इन भेदोंसे छ प्रकारका है। इस प्राधान्यमें नाम और स्थापनाके भेद तो सुगम ही हैं। द्रव्य प्राधान्य ज्ञ शरीर-भव्य शरीर और ज्ञ भव्य व्यतिरिक्त ये तीन भेद हैं। ज्ञ भव्य व्यतिरिक्तके सचित्त-अचित्त और मिश्र ये तीन प्रकार हैं। उनमें सचित्त भी द्विपद-चतुष्पद और अपदके भेदसे तीन तरहका है। तथा द्विपदमें तीर्थंकर-चक्रवर्ती आदि, चतुष्पादमें हाथी घोड़ा आदि और अपदमें कल्पवृक्ष अथवा प्रदेश रूप-रसगंध और स्पर्शमें उत्कृष्ट पुण्डरीक कमलादि पदार्थोंका प्राधान्य है।

अचित्तमें वैडूर्य आदि विशेष प्रभावयुक्त मणिरत्नोंका प्राधान्य है। मिश्रमें विभूषित तीर्थंकरादि।

विषयानुक्रमणिका।

ॐ

नमोत्थुणं समणस्स भगवओ णायपुत्त महावीरस्स

वीरस्तुतिः ।



हिन्दी-गुर्जरभाषान्तरसमुल्लसितया संस्कृतटीकया सनाथीकृता

मूल—

पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य,
आगारिणो या परतित्थिआ य ।
से केइ णेगंतहियं धम्ममाहु,
अणेलिसं साहुसमिक्खयाए ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

अप्राक्षुः श्रमणा ब्राह्मणाश्च, अगारिणश्च परतीर्थिकाश्च ।
स क इत्येकान्तहितं धर्ममाह, अनीदृशं साधुसमीक्षया ॥ १ ॥

अथ ज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसंघीया-संस्कृतटीकाकर्तुर्मंगलाचरणम् ।

ध्यायं ध्यायमशेषशक्रप्रमुखाऽमर्त्यार्चिताङ्घ्रिद्वयं,
मोक्षश्रीपरिणीतिसम्भवमहानन्दोल्लसन्मानसम् ।
श्रीवीरप्रभुमीश्वरं तदनु च ज्ञानप्रदं श्रीगुरुं,
नामं नाममशेषभव्यमुहितं श्रीफूलचन्द्रो मुनिः ॥ १ ॥

श्रीमत्सूत्रकृताङ्गमध्यविलसत्सुश्लोकवीरस्तुते-
र्भव्यानां भवबन्धभेदमनसामानन्दसंवर्द्धिनीम् ।
कुर्वेऽहं विवृतिं तदर्थगतिकृद्भापान्तरोद्भासितां,
तेन श्रीत्रिशलात्मजोऽन्तिमजिनः प्रीयात्समाराधितः

टीका—इहापारावारसंसाराटव्यां परिभ्रमणं कुर्वतां प्राणिनां चुल्लकादिदशभिर्दृष्टान्तैरतिदुर्लभं मानुष्यं, तत्राप्यार्य्यदेश-कुलाऽऽयु-शरीरा-रोग्य-समग्रेन्द्रियानुकूलसामग्रीसंयोगो दुर्लभतरः, तत्राप्यतिदुर्लभतमा श्रीजिनधर्म्मप्रवृत्तिः । तत्रेह जगतीतले श्रीसर्वज्ञोक्तधर्मः परममङ्गलः समस्तशारीरमानसादिदुःखोच्छेदकश्चाप्यस्ति । धर्मश्चासौ चतुर्धा दान-शीलतपोभावभेदात्, तत्र चतुर्णां धर्मभेदानां मध्ये सर्वज्येष्ठो धर्मो दान-धर्मः, सर्वेष्वपि धर्मभेदेष्वन्तश्चारित्वात् । तथाहि—लौकिके लोकोत्तरे च सर्वत्र दानप्रवृत्तिर्ज्येष्ठतरा, श्रीमन्तस्तीर्थङ्करा अपि प्रथमं वर्षीयदानं दत्वा पश्चाद्भिक्षुव्रतं गृह्णन्ति; पुनश्च शीलधर्म्मेऽपि दानधर्म्मोऽविच्छिन्न एव, यतो ब्रह्मचर्य्यव्रतग्रहणेऽसंख्यद्वीन्द्रियाणामसंख्यसम्मूर्च्छिमपञ्चे-न्द्रियाणां नवलक्षगर्भजपञ्चेन्द्रियाणां च कृते प्रतिदिनं ब्रह्मव्रतिनाऽ-भयदानं दत्तम्, स्वजीवस्याऽप्यभयदानमाप्तं तेन गर्भादिदुःखनाशक-त्वाच्चेति; व्यवच्छिन्नतया हि शीलेष्वपि दानस्य मुख्यता । तथैव तपो-धर्मेष्वपि दानमन्तर्भवति, यतो षड्जीवनिकायविराधनया च आहारो निष्पाद्यते, परन्तूपवासादितपसि कृते तु तेभ्योऽभयदानं प्रदत्तं तस्मा-त्तपस्यपि दानमन्तर्भूतम् । भावधर्म्मे तु सुतरामेव, यतः 'परमकरु-णया जीवाजीवाऽहिंसनपरिणतिर्भावः' तथाऽप्यभयप्रदानद्वारा दानमेव पर्य्यवस्यति, जैनमुनयोऽपि प्रतिदिनं देशनादानं ज्ञानशिक्षादानं च ददति; अतो दानस्य त्रिष्वप्यन्तर्भावान्मुख्यतया प्रथमं दानस्योपादानं

कृतम् । परं तद्भावपूर्वकं हि सफलतामेति । दानादिरूपं हि धर्म्मरत्नं प्राप्य सुकुलोत्पत्तिसमस्तेन्द्रियसामग्र्याद्युपेतेनाऽनेकान्तवादरूपमार्हतदर्शनपरिज्ञाय चाशेषकर्म्मोच्छित्तये ऽवश्यं प्रयतितव्यं भव्येनेति । परन्तु कर्म्मोच्छेदश्चापि सम्यग्विवेकसव्यपेक्षोऽसावपि ह्याप्तोपदेशमन्तरेण न सुलभः, आप्तश्चात्यन्तिकादोषक्षयात्, स चार्हन्नेव, स हि श्रीज्ञातृपुत्रमहावीरचरमतीर्थकरस्तस्य स्तुतौ कृतयत्नोऽस्मीति, कोविदमुख्यैरिह जगति तस्य गुणवर्णनं बहुधा कृतं परन्त्वहमपि तद्गुणवर्णनोत्कटेच्छया तरलीकृतः सम्यग्दर्शनबलेन क्षयोपशमबलेन च किञ्चिद्विवरीतुं यतिष्ये । किमनन्तमाकाशे पक्षिराजगतं सम्यगवगम्य तेनैव पथा शलभो गन्तुं न वाञ्छति ? वाञ्छत्येवैवमनया रीत्याऽहमप्यल्पज्ञप्रायः परं किञ्चिद्धि श्रीसूत्रकृताङ्गसूत्रे यज्ज्ञातपुत्रमहावीरस्तुतिनामाध्यायस्य व्याख्यां वितनोमि, तद्वीरकृपयैव, न ममाल्पज्ञस्य माहात्म्येनेति । अथ श्रीमन्महावीरस्य प्रभोर्गुणा निगद्यन्तेऽतोऽत्र जम्बूनामधेयोऽन्तेवासी सुधर्म्माणं धर्म्माचार्यं आ=मर्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्य्यते सेव्यन्ते जिनशासनोऽर्थोपदेशकतया तदाकांक्षिभिरित्याचार्यस्तमाचार्य्यम् ; उक्तंच—

सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो, गच्छस्स मेढिभूओ य,
गणतत्तिविप्पमुक्को अत्थं वाएइ आयरिया ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

सूत्रार्थविल्लक्षणयुक्तो, गच्छस्यालम्बनभूतश्च ।
गणतप्तिविप्रमुक्तः सचर्य वाचयंस्त्वाचार्यो इति ॥

अथवा आचारो ज्ञानाचारादिः पंचधा, आ=मर्यादया वा चारो विहार आचारस्तत्र साधवः स्वयं करणात्प्रभाषणात्प्रदर्शनाच्चेत्याचार्याः । आह च—

पंचविहं आयारं, आयरमाणा तहा पयासंता,
आयारं दंसंता, आयरिया तेण वुचंति ॥ १ ॥

संस्कृतच्छाया—

पंचविधमाचारमाचरमाणास्तथा प्रकाशमानाः ।
आचारं दर्शयन्त आचार्यास्तेनोच्यन्त इति ॥

इति च विशेषावश्यके—

अथवा आ=ईषत् अपरिपूर्णा इत्यर्थः, चारा हेरिका ये ते आचाराः, चारकल्पा इत्यर्थः, युक्तायुक्तविभागनिरूपणनिपुणा विनेया अतस्तेषु साधवो यथावच्छास्त्रार्थोपदेशकतया इत्याचार्याः । एषामाचारोपदेशकतयोपकारित्वात्, तमाचार्यम् । *द्वादशाङ्गशास्त्राध्यापयितारमित्यर्थः । "मन्त्रव्याख्याकृदाचार्य इत्यमरः" । मोक्षशास्त्रोपदेष्टरि, श्रीधर्मगुरौ, "इति शब्दार्थचिन्तामणिः" । अथवा=

---

* समवायांगसूत्रगतो द्वादशाङ्ग्याः परिचयः संक्षिप्यात्र उद्धृतः स चेयम् ।

आचाराङ्गः—आयारेणं समणाणं निग्गंथाणं आयार-गोयर-विणय-वेणइअ-ठाण-गमण-चंकमण-पमाण-जोग-जुंजण-भासा-समिति-गुत्तिसेज्जो-वहि-भत्त-पाण-उग्गम-उप्पाय-एसणा-विसोहि-सुद्धासुद्धग्गहण-वय-नियम-तवो-वहाणसुपसत्थमाहिज्जइ × × × × पढमे अंगे दो सुअक्खंधा, पणवीसं अज्झयणा, पंचासी उद्देसणकाला, पंचासी समुद्देसणकाला, अट्ठारसपयसहस्साइं ।

भावार्थः—समवायांगसूत्रगत द्वादशांगी वाणीका संक्षेपसे इस प्रकार परिचय उद्धृत किया जाता है ।

आचारांगः—आचारांग सूत्रमें इस प्रकार के विषयों का वर्णन किया गया है यथा–श्रमण निर्ग्रंथोंका सुप्रशस्त आचार, गोचर (भिक्षाविधि), विनय, वैनयिक, कायोत्सर्गादि सुन्दर और एकान्त स्थान, विहारभूम्यादि गमन, चंक्रमण अर्थात् टहलना, या शारीरिक श्रम दूर करने के लिए उपाश्रयमें बनसे बस्ति में गमन, विधान, आहारादि खाद्य पेय पदार्थों का माप, स्वाध्यायादि

स्वयमाचरते शिष्यानाचारे स्थापयत्यपि । आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचार्यस्तेन कथ्यते' । इति कुलार्णवः । "आम्नायतत्वविज्ञानाच्चराचरसमानतः । यमादियोगसिद्धत्वादाचार्य इति कथ्यते" ॥ १ ॥ इति शांकरे ॥ अतोऽत्र जिनधर्म एवं मन्त्रस्तस्य व्याख्याकृत्, श्रीमान् सुधर्माचार्य इति भावः । तं सुधर्म्माचार्यं प्रति श्रीमन्महावीरचरमतीर्थंकृद्गुणान् पृष्टवान्, विनयेनेति शेषः "सन्मतिर्महतिर्वीरो, महावीरो-

---

नियम, नियोग, भाषा समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, भक्त, पान, उद्गमादि (उद्गम, उत्पाद, एषणा) दोषोंकी विशुद्धि, शुद्धाशुद्धग्रहण, व्रत, नियम, तप और उपधान।

प्रथम सूत्र आचारांग में दो श्रुतस्कन्ध, ८५ उद्देशनकाल, ८५ समुद्देशनकाल, तथा १८००० पद संख्या है।

सूत्रकृतः—सूअगडे णं ससमया सूइज्जंति, परसमया सूइज्जन्ति, स-परसमया सूइज्जंति, जीवा सूइज्जंति' अजीवा सूइज्जंति, जीवाजीवा सूइज्जंति, लोगे सूइज्जंति, अलोगे सूइज्जंति, लोगालोगे सूइज्जंति, सूअगडेणं जीवाजीवे पुण्णपावासवसंवरनिज्जरणाबंधमुक्खावसाणा पयत्था सूइज्जंति । × × × × × असीइस्स किरियावाइयसयस्स, चउरासीए अकिरियवाईणं, सत्तट्ठीए अण्णाणियवाईणं, बत्तीसाए वेणइअवाईणं, तेवीसं उद्देसणकाला, तेतीस समुद्देसणकाला, छत्तीसं पदसहस्साइं।

सूत्रकृतः—सूअगडांग (सूत्रकृतांग) में प्ररूपित विषय इस प्रकार हैं। स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त, स्व-परसिद्धान्त, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष तकके सब पदार्थ, इतर दर्शन मोहित नवीन संदिग्ध दीक्षितकी बुद्धिको शुद्ध करनेके लिए १८० क्रियावादी के मत ८४ अक्रिया वादीके मत, ३२ विनयवादीके मत, अज्ञानवादीके ६७ मत, सब मिलकर ३६३ अन्यदृष्टिके मतोंका परिक्षेप करके स्वसमय स्थापन,

सूत्रकृतांग सूत्रमें दो श्रुत-स्कंध हैं, २३ अध्याय हैं, ३३ उद्देशन काल हैं, ३३ समुद्देशन काल हैं। ३६००० पद संख्या है।

ऽन्तकाश्यपः । नाथान्वयो वर्धमानो, यत्तीर्थमिह साम्प्रतम् ।" इति धनंजयनाममाला । अथाऽसावपि भगवान् सुधर्मास्वाम्येवं गुणविशिष्टो 'ज्ञातपुत्रो महावीर इति' कथितवांश्च मां प्रतीति शेषः । एवं चासौ वर्धमानोऽर्हन् "सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन्, केवली धर्मचक्रभृत्" 'इति धनञ्जयः' । विष्टपस्य संसारस्य सांसारिकविषयस्येत्यर्थः सकृच्चन्दन-

---

स्थानांगः—ठाणेणं ससमया ठाविज्जंति, परसमया ठाविज्जंति, ससमयपरसमया ठाविज्जंति, जीवा ठाविज्जंति, अजीवा ठाविज्जंति, जीवाजीवा ठाविज्जंति, लोगा, अलोगा, लोगालोगा ठाविज्जंति, × × × × × तइए अंगे पणसुअक्खंधा दस अज्झयणा, एक्वीसं उद्देसणकाला, एक्वीसं समुद्देसणकाला, बावत्तरिं पदसहस्साइं ।

स्थानांगः—स्थानांग सूत्र में निरूपण किए हुए ये विषय हैं । स्वसमय, परसमय, स्व-परसमय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक का स्थापन,

तीसरे (स्थानांग) अंग में पांच श्रुतस्कन्ध, दश अध्याय, २१ उद्देशनकाल, २१ समुद्देशनकाल, और ७२००० पद संख्या है ।

समवायांगः—समवाएणं ससमया सूइज्जंति परसमया सूइज्जंति, ससमयपरसमया सूइज्जंति, समवाएणं एकाइयाणं एगट्ठाणं एगुत्तरियं, परिवुड्डिए, दुवालसंगस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गे समणुगाइज्जइ, × × × × × चउत्थे अंगे, एगे अज्झयणे, एगे सुयक्खंधे, एगे उद्देसणकाले, एगे समुद्देसणकाले एगे चउयाले पदसहस्से ।

समवायाङ्गः—समवायांगमें स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त, स्व-परसिद्धान्त, और एक संख्यासे लगा कर अधिकसंख्यातक पदार्थोंका परिगणन एकोत्तरिक, परिवृद्धिपूर्वक प्रतिपादन है, अर्थात् प्रथम एकसंख्यक पदार्थोंका निरूपण करके फिर द्विसंख्यक पदार्थों का वृत्तान्त है । इस क्रमसे प्रतिपादन करने के बाद द्वादशांग गणिपिटकके पर्यवोंका प्रतिपादन किया गया है । चतुर्थ समवाय (अंग) में एक अध्याय, एक श्रुत स्कन्ध, एक उद्देशन काल, एक समुद्देशन काल, और एक लाख चवालिसहजार पद संख्या है ।

नितादेरिति यावज्जयं तिरस्क्रियां चकार। "विष्टपं भुवनं लोको जगदिति कोषः" । "परिभवः पराभवस्तिरस्क्रियेति कोषः"। अतो

: व्याख्याप्रज्ञप्तिः—(भगवती) विआहेणं ससमया विआहिज्जंति, परसमया विआहिज्जंति, ससमय-परसमया विआहिज्जंति, जीवा विआहिज्जंति, अजीवा विआहिज्जंति, जीवाजीवा विआहिज्जंति, लोगे विआहिज्जंति, अलोगे विआहिज्जंति, लोगालोगे विआहिज्जंति, विआहे णं णाणाविहसुरनरिंदरायरिसिविविहसंसइअ पुच्छिआणं, जिणेणं वित्थरेण, भासिआणं, दव्वगुण-खित्त-काल-पज्जव-पदेस-परिणाम-जहत्थि अभाव अणुगम-निक्खेव-णय-प्पमाण सुनिउणोवक्कम विविहप्पकारपगडपयासिआणं. संसारसमुद्दरुंदउत्तरणसमत्थाणं, सुरवइसंपूजिआणं, भवियजणपयहिअयाभिनंदिआणं, तमरयविद्धंसणाणं, सुदिट्ठदीवभूअईहामतिबुद्धिवद्धमाणाणं छत्तीससहस्समणूणया णं वागरणाणं दंसणाओ, सुअत्थबहुविहप्पगारा, सीसहिअत्था × × × × × पंचमे अंगे एगे सुअक्खंधे, एगे साइरेगे अज्झयणसये, दसउद्देसगसहस्साइं, दससमुद्देसगसहस्साइं, छत्तीसं वागरणसहस्साइं, चउरासीइं पयसहस्साइं।

व्याख्याप्रज्ञप्तिः—(भगवती) सूत्र में स्वसमय, परसमय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक, इत्यादि कथनके अतिरिक्त, भिन्नभिन्न प्रकारसे देव, राजा, राजर्षि, और अनेक प्रकारके सन्दिग्ध पुरुषोंके पूछे हुए प्रश्नोंका जिनेन्द्रदेवने विस्तारपूर्वक जो उत्तर दिए हैं । और वे उत्तर द्रव्य, गुण, क्षेत्र, काल, पर्याय, प्रदेश और परिणाम के अनुगम, निक्षेप, नय, प्रमाण और विविध तथा सुनिपुण उपक्रम पूर्वक यथास्तिभावके प्रतिपादक हैं । जिससे लोक और अलोक दोनों प्रकाशित हैं । जो विशाल संसार समुद्रसे पार कर देनेमें समर्थ हैं । इन्द्रों द्वारा पूजित हैं, भव्य लोकोंके हृदयके अभिनन्दक हैं, अन्धकार रूप मैलके नाशक हैं । सुन्दर और दर्शनीय हैं, दीपक की तरह वस्तुका तथ्य निर्णय देने वाले हैं । ईहा, मति, और बुद्धिके बढानेवाले हैं, जिनकी संख्या ३६००० में पूर्ण होती हैं, और जो उत्तरोंके उपनिबन्धसे बहुत प्रकारके श्रुतार्थोंके समुदायरूप शिष्योंके हितार्थ गुणहस्तरूप हैं । पंचम अंग (भगवती) सूत्रमें एक श्रुतस्कन्ध, साधिक अति उत्तम सौ १०० अध्याय हैं । दशहजार उद्देशक, १०००० समुद्देशक, ३६००० प्रश्न और ८४००० पद संख्या है ।

वीरः संसारं यथा जितवान्, वयमपि तथैव तज्जयाय प्रयत्नं कुर्मः । भगवन्! बहुविधां नरकविभक्तिं च श्रुत्वा संसारादुद्विग्नमनसः 'केनेयं नरकविभक्तिः प्रतिपादितः' इति मामप्राक्षुरिति, पुनश्चैवं भूतो धर्मः

ज्ञाता-धर्मकथांगः—णाया-धम्म-कहासु णं णायाणं नगराइं, उज्जाणाइं, वणसण्डा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइं, धम्मायरिआ, धम्मकहाओ, इहलोइअ-परलोइअ-इड्ढिविसेसा, भोग परिचाया, पव्वज्जाओ, सुयपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, परियागा, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोगगमणाइं, सुकुलपच्चाया, पुण बोहिलाभो, अंतकिरिआओ, अ आघविज्जंति, × ■ × × × छट्ठे अंगे दो सुअक्खंधा, एगूणवीसं अज्झयणा, ते समासओ दुविहा, पन्नत्ता, तंजहा, चरित्ता अ, कप्पिआ अ, दस धम्म कहाणं वग्गा, तत्थणं एगमेगाए धम्म कहाए पंच पंच, अक्खाइयासयाइं, एगमेगाए अक्खाइआए पंच पंच उवक्खाइआसयाइं, एगमेगाए उवक्खाइआए पंच पंच अक्खाइअ, उवक्खाइअसयाइं, एवामेव सपुव्वावरेणं अद्धुट्ठाए अक्खाइअकोडिओ, भवंतीतिअक्खायाओ, एगूणतीस उद्देसणकाला, एगूणतीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं, ।

ज्ञाताधर्मकथा—इस सूत्रमें उदाहरणभूत पुरुषों के नगर, उद्यान, वनखण्ड, राजा, माता पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, ऐहिक और पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्या, श्रुत परिग्रह, तप, उपधान, पर्याय, संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोकगमन, फिर उत्तम कुल में अवतार, पुनर्जन्म, बोधिलाभ और अन्तक्रिया इत्यादि अनेक विषयों का कथन विस्तारसे किया गया है । छठवें ज्ञाता धर्मकथांगमें दो श्रुतस्कन्ध हैं, जिनमें १९ अध्याय हैं, वे अध्याय चरित्र और काल्पिक भेदसे दो तरहके बताए हैं । धर्मकथाके १० वर्ग हैं । जिसकी एक-एक धर्म कथामें ५००—५०० आख्यायिकाएं हैं, एक एक आख्यायिकामें ५००—५०० उपाख्यायिकाएं हैं, एक-एक उपाख्यायिकामें ५००—५०० आख्यायिकोपाख्यायिकाएं हैं, और फिर इसी प्रकार से सपूर्वापर (सबमिलकर) साढे तीन क्रोड आख्यायिकाएं हो जाती हैं । इसमें २९ उद्देशनकाल, तथा २९ समुद्देशनकाल हैं, और संख्यात लाख पद हैं, यानी ५ लाख ७६ हजार पद हैं ।ः

संसारोत्तारणसमर्थः केन प्रतिपादितः । इत्येतद्भवो मामिति भावः । ते के इत्याकांक्षायामाह श्रमणाः=साधवो निर्ग्रन्थादयः । "तपस्वी

उपासकदशांगः—उवासगदसासु णं उवासगाणं नगराइं, उज्जाणाइं, वणसंडा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइं, धम्मायरियाइं, धम्मकहाओ, इहलोइअ, परलोइअइड्ढिविसेसा, उवासयाणं, सीलव्वय वेरमणगुणपच्चक्खाण, पोसहोववासपडिवज्जिआओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, पडिमाओ, उवसग्गा, संलेहणा, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोगगमणाइं, सुकुलपच्चाया, पुणो बोहिलाभो, अंतकिरिआओ, आघविज्जंति, × × × × × सत्तमे अंगे एगे सुअक्खंधे, दसअज्झयणा, दसउद्देसणकाला, दस समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं ।

उपासकदशांगः—इसमें उपासकोंके (श्रावकोंके) नगर, उद्यान, वनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, इसलोक और परलोककी ऋद्धिविशेषका तथा श्रावकोंका शीलव्रत, विरमण, गुणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, प्रतिमा, उपसर्ग, संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोकगमन, श्रेष्ठकुलजन्म, बोधिलाभ और अन्तक्रियातकका वर्णन है × × सातवें उपासकदशांगमें एक श्रुतस्कन्ध, दश अध्ययन, दश उद्देशनकाल, दश समुद्देशनकाल, और संख्यातलाखपद अर्थात् ११५२००० पदोंकी संख्या है ।

अन्तकृद्दशांगः—अंतगडदसासु णं अंतगडा णं नगराइं, उज्जाण, वणसंड, राया, अम्मापिय, समोसरण, धम्मायरिय, धम्मकहा, इहलोइअ, परलोइआ, इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, पडिमाओ, बहुविहाओ, खमा, अज्जवं, मद्दवं, सोअं च सच्चसहिअं, सत्तरसविहोसंजमो, उत्तमं च बंभं, अकिंचणया, तवो, किरियाओ, समिइगुत्तिओ चेव, तह अप्पमायजोगो, सज्झाय ज्झाणेण य, उत्तमाणं दोण्हंपि, लक्खणाइं, पत्ताणय संजमं, जिअपरिसहाणं, चउव्विहकम्मक्खयम्मि, जह केवलस्स लंभो, परियाओ जत्तिओ य जह पालिओ मुणिहिं, पावोवगओ जहिं, जत्तियाणि भत्ताणि, छेअइत्ता, अंतगडो मुणिवरो, तमरयोघविमुक्को, मुक्खसुहमणंतर, च पत्ता ए ए अन्ने य एवमाइत्थ वित्थरेण परूवेइ, × × × × × अट्ठमे अंगे

वीरः संसारं यथा जितवान्, वयमपि तथैव तज्जयाय प्रयत्नं कुर्मः । भगवन्! बहुविधां नरकविभक्तिं च श्रुत्वा संसारादुद्विग्नमनसः 'केनेयं नरकविभक्तिः प्रतिपादितः' इति मामप्राक्षुरिति, पुनश्चैवं भूतो धर्मः

ज्ञाता-धर्मकथांगः—णाया-धम्म-कहासु णं णायाणं नगराइं, उज्जाणाइं, वणसण्डा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइं, धम्मायरिआ, धम्मकहाओ, इहलोइअ-परलोइअ-इड्डिविसेसा, भोग परिच्चाया, पव्वज्जाओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, परियागा, सलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोगगमणाइं, सुकुलपच्चाया, पुण बोहिलाभो, अंतकिरिआओ, अ आघविज्जंति, × × × × × छट्ठे अंगे दो सुअक्खंधा, एगूणतीसं अज्झयणा, ते समासओ दुविहा, पन्नत्ता, तंजहा, चरित्ते अ, कप्पिआ अ, दस धम्म कहाणं वग्गा, तत्थणं एगमेगाए धम्म कहाए पंच पंच, अक्खाइयासयाइं, एगमेगाए अक्खाइआए पंच पंच उवक्खाइआसयाइं, एगमेगाए उवक्खाइआए पच पंच अक्खाइअ, उवक्खाइअसयाइं, एवामेव सपुव्वावरेणं अद्धुट्ठाए अक्खाइअकोडिओ, भवंतीतिमक्खायाओ, एगूणतीसं उद्देसणकाला, एगूणतीस समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं, ।

ज्ञाताधर्मकथा—इस सूत्रमें उदाहरणभूत पुरुषों के नगर, उद्यान, वनखण्ड, राजा, माता पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, ऐहिक और पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्या, श्रुत परिग्रह, तप, उपधान, पर्याय, सलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोकगमन, फिर उत्तम कुल में अवतार, पुनर्जन्म, बोधिलाभ और अन्तक्रिया इत्यादि अनेक विषयोंका कथन विस्तारसे कियागया है । छठवें ज्ञाता धर्मकथांगमें दो श्रुतस्कन्ध हैं, जिनमें २९ अध्याय हैं, वे अध्याय चरित्र और कल्पिक भेदसे दो तरहके बताए हैं । धर्मकथाके १० वर्ग हैं । जिसकी एक-एक धर्म कथामें ५००—५०० आख्यायिकाएं हैं, एक एक आख्यायिकामें ५००—५०० उपाख्यायिकाएं हैं, एक-एक उपाख्यायिकामें ५००—५०० आख्यायिकोपाख्यायिकाएं हैं, और फिर इसी प्रकार से सपूर्वापर (सबमिलकर) साढे तीन कोड आख्यायिकाएं हो जाती हैं । इसमें २९ उद्देशनकाल, तथा २९ समुद्देशनकाल हैं, और सख्यात लाख पद हैं, यानी ५ लाख ७६ हजार पद हैं ।

संसारोत्तारणसमर्थः केन प्रतिपादितः । इत्येतद्बहवो भाषितेति भावः । ते के इत्याकांक्षायामाह श्रमणाः=साधवो निर्ग्रन्थादयः । "तपस्वी

उपासकदशांगः—उवासगदसासु णं उवासगाणं नगराइं, उज्जाणाइं, वणखंडा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइं, धम्मायरियाइं, धम्मकहाओ, इहलोअ, परलोइअइड्ढिविसेसा, उवासयाणं, सीलव्वय वेरमणगुणपच्चक्खाण, पोसहोववासपडिवज्जिआओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, पडिमाओ, उवसग्गा, संलेहणा, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणइं, देवलोगगमणाइं, सुकुलपच्चाया, पुणो बोहिलाभो, अंतकिरिआओ, आघविज्जंति, × × × × × सत्तमे अंगे एगे सुअक्खंधे, दसअज्झयणा, दसउद्देसणकाला, दस समुद्देसणकाला, संखेज्जाई पयसहस्साइं ।

उपासकदशांगः—इसमें उपासकोंके (श्रावकोंके) नगर, उद्यान, वनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, इसलोक और परलोककी ऋद्धिविशेषका तथा श्रावकोंका शीलव्रत, विरमण, गुणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, प्रतिमा, उपसर्ग, सल्लेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोकगमन, श्रेष्ठकुलजन्म, बोधिलाभ और अन्तक्रियातकका वर्णन है × × सातवें उपासकदशांगमें एक श्रुतस्कन्ध, दश अध्ययन, दश उद्देशनकाल, दश समुद्देशनकाल, और संख्यातलाखपद अर्थात् ११५२००० पदोंकी संख्या है ।

अन्तकृद्दशांगः—अंतगडदसासु णं अंतगडा णं नगराइं, उज्जाण, वणखंड, राया, अम्मापिय, समोसरण, धम्मायरिय, धम्मकहा, इहलोइअ, परलोइआ, इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, पडिमाओ, बहुविहाओ, खमा, अज्जवं, मद्दवं, सोअं च सच्चसहिअं, सत्तरसविहोसंजमो, उत्तमं च बंभं, अकिंचणया, तवो, किरियाओ, समिइगुत्तिओ चेव, तह अप्पमायजोगो, सज्झाय ज्झाणेण य, उत्तमाणं दोण्हंपि, लक्खणाइं, पत्ताणय संजमं, जिअपरिसहाणं, चउव्विहकम्मक्खयिम्मि, जह केवलस्स लंभो, परियाओ जत्तिओ य जह पालिओ मुणिहिं, पावोवगओ जहिं, जत्तियाणि भत्ताणि, छेअइत्ता, अंतगडो मुणिवरो, तमरओघविमुक्को, मुक्खसुहमणंतर, च पत्ता ए ए अन्नेय एवमाइत्थ वित्थरेण परूवेइ, × × ×.× × अट्ठमे अंगे

संयमी वर्णी, योगी साधुश्च तापसः । ऋषिर्यतिर्मुनिर्भिक्षुः संयतः श्रमणो व्रतीति" धनंजयः । "यतिभेदे, साधुभेदे वा, भिक्षाजीविनि, शरीरभेदे चेति शब्दस्तोममहानिधिः" । "तपस्विनि, श्रमणः परिव्राट्, संन्यासीति पूज्यपादाः" । जैनभिक्षुके, निर्ग्रन्थे चापि, 'श्राम्यतीति

एगे सुअक्खंधे, दस अज्झयणा, सत्तवग्गा, दस उद्देसणकाला, दस समुद्देसण-काला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं,

अन्तकृद्दशांगः—अन्तगडदशांग सूत्रमें अन्तकृत (तीर्थंकरादि) पुरुषोंके नगर, उद्यान, वनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, ऐहिक और पारलौकिक ऋद्धि, भोगपरित्याग, प्रव्रज्याग्रहण, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, बहुविधप्रतिमाराधन, क्षमा, आर्जव, मार्दव, सत्य सहित शौच, सतरह प्रकारका संयम, उत्तम ब्रह्मचर्य, आकिंचनता, तप, क्रिया, समिति, गुप्ति, अप्रमादयोग, उत्तमस्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग का स्वरूप, उत्तम संयम-प्राप्ति और परिषह जीतनेवाले पुरुषोंका चारप्रकारके घातिक कर्म क्षय होने से केवलज्ञानका प्राप्त करना, (अनन्त चतुष्टयकी प्राप्ति) मुनि पर्यायके पालन करनेकी अवधि, पादपोपगत पवित्र मुनिवर जितने भक्तों (भोजन समयों) को बिताकर जहां अन्तकृत हुए वह विवरण और जो मुनिराज कि जो मुक्तिके अचल सुखोंको प्राप्त हुए, इत्यादि सब वर्णन आठवें (अंतगड) अंगमें एक श्रुतस्कन्ध के अन्दर है, इसके दस अध्ययन हैं, सात वर्ग हैं, दस उद्देशन काल हैं, दस समुद्देशन काल हैं, और संख्यात लाख पद हैं, अर्थात् २३०४००० पद संख्या है।

अनुत्तरोपपातिकदशांगः—अणुत्तरोववाइअ दसासु णं अणुत्तरोव-वाइआणं नगराइं, उज्जाणाइं, वणसंडा रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइं, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोग-परलोगिआ इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, सुअपरिग्गहाओ, तवोवहाणाइं, परियागो, पडिमाओ, संलेहणाओ, भत्तपाण-पच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, अणुत्तरोववाइ ओ, सुकुल पच्चाया, पुणोबोहिलाभो, अंतकिरियाओ, आघविज्जंति, + + + + + नवमे अंगे एगे सुअक्खंधे, दस अज्झयणा, तिण्णि वग्गा, दस उद्देसणकाला दस समुद्देसण-काला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं,

श्रमणः।' इति "शब्दार्थचिन्तामणिः" श्राम्यति परदुःखं जानातीत्यपि।' च पुनर्ब्राह्मणाः ब्रह्मचर्याद्यनुष्ठाननिरताः। "द्विजात्यग्रजन्म, भूदेववाडवाः। विप्रश्च ब्राह्मण" इत्यमरः। ब्रह्म परमात्मानं

अनुत्तरोपपातिकः—इस सूत्रमें अनुत्तरोपपातिकोंके नगर, उद्यान, वनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्म्माचार्य, धर्म्मकथा, इत्यादिकका वर्णन है, और ऐहिक तथा पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्याग्रहण, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, पर्य्याय, प्रतिज्ञा, संलेखना, भक्तपानप्रत्याख्यान, पादपोपगमन, श्रेष्ठकुलमें पुनर्जन्म, बोधिलाभ, अन्तक्रिया, इत्यादि विषयोंका वर्णन है। × × नवम (अनुत्तरोपपातिक) अंगमें एक श्रुतस्कन्ध, दश-अध्याय, तीन वर्ग, दश उद्देशनकाल, दशसमुद्देशनकाल, संख्यातलाख पद-अर्थात् ४६०८००० पद हैं।

प्रश्नव्याकरण—पण्हवागरणेसु अट्ठुत्तरं अपसिणसयं, अट्ठुत्तरं पसिणापसिणसयं, विज्जाइसया, नागसुवण्णे हिं सद्धिं दिव्वा सवाया आघविज्जंति, विम्हयकराणं अइसयमइ अकालदमसमतित्थकरुत्तमस्स ठिइकरणकारणाणं, दुरहिगमदुरवगाहस्स, सव्वसव्वण्णुसम्मअस्स, अबुहजणबोहकरस्स, पच्चक्खपच्चयकराणं, पण्हाणं, विविहगुणमहत्था, जिणवरप्पणीआ आघविज्जंति, + + + + दसमे अंगे एगे सुअक्खंधे, पणयालीसं उद्देसणकाला, पणयालीसं समुद्देसणकाला, संक्खेज्जाणि पयसहस्साणि।

प्रश्नव्याकरण—इस सूत्रमें एकसो आठ प्रश्न, १०८ अप्रश्न, १०८ प्रश्नाप्रश्न, विद्याओं का अतिशय, और नागकुमार तथा सुवर्णकुमारके साथ होने वाले दिव्य संवाद का वर्णन है। × × × दशम (प्रश्नव्याकरण) अंगमें, एक श्रुतस्कन्ध, ४५ उद्देशनकाल, ४५ समुद्देसनकाल, और संख्यात लाख पद अर्थात् ९२१६००० पद संख्या है।

विपाकश्रुत—विवागसुए णं सुकड-दुकडा णं कम्माणं फलविवागे आघविज्जंति, से समासओ, दुविहे पन्नते तंजहा; दुहविवागे सुहविवागे चेव, तत्थणं दस दुहविवागाणि, दस सुहविवागाणि से किं तं दुहविवागाणि ? दुहविवागे [illegible] णं दुहविवागाणं नगराइं, उज्जाणाइं, वणखंडा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइं, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, नगरगमणाइं, संसारपवंधे; दुहपरंप-

संयमी वर्णी, योगी साधुश्च तापसः । ऋषिर्यतिर्मुनिर्भिक्षुः संयतः श्रमणो व्रतीति" धनंजयः । "यतिभेदे, साधुभेदे वा, भिक्षाजीविनि, शरीरभेदे वेति शब्दस्तोममहानिधिः" । "तपस्विनि, श्रमणः परिव्राट्, संन्यासीति पूज्यपादाः" । जैनभिक्षुके, निर्ग्रन्थे चापि, 'श्राम्यतीति

एगे सुअक्खंधे, दस अज्झयणा, सत्तवग्गा, दस उद्देसणकाला, दस समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं,

अन्तकृद्दशांगः—अन्तगडदशांग सूत्रमें अन्तकृत् (तीर्थंकरादि) पुरुषोंके नगर, उद्यान, बनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, ऐहिक और पारलौकिक ऋद्धि, भोगपरित्याग, प्रव्रज्याग्रहण, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, बहुविधप्रतिमाराधन, क्षमा, आर्जव, मार्दव, सत्य सहित शौच, सतरह प्रकारका संयम, उत्तम ब्रह्मचर्य, अकिंचनता, तप, क्रिया, समिति, गुप्ति, अप्रमादयोग, उत्तमस्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग का स्वरूप, उत्तम संयम-प्राप्ति और परिषह जीतनेवाले पुरुषोंका चारप्रकारके घातिक कर्म क्षय होने से केवलज्ञानका प्राप्त करना, (अनन्त चतुष्टयकी प्राप्ति) मुनि पर्यायके पालन करनेकी अवधि, पादपोपगत पवित्र मुनिवर जितने भक्तों (भोजन समयों) को बिताकर जहां अन्तकृत् हुए वह विवरण और भी मुनिराज कि जो मुक्तिके अचल सुखोंको प्राप्त हुए, इत्यादि सब वर्णन आठवें (अंतगड) अंगमें एक श्रुतस्कन्ध के ही अन्दर है, इसके दस अध्ययन हैं, सात वर्ग हैं, दस उद्देशन काल हैं, दस समुद्देशन काल हैं, और संख्यात लाख पद हैं, अर्थात् २३०४००० पद संख्या है ।

अनुत्तरोपपातिकदशांगः—अणुत्तरोववाइअ दसासु णं अणुत्तरोववाइआणं नगराइं, उज्जाणाइं, वणसंडा रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइं, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोग-परलोगस्स इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, सुअपरिग्गहाओ, तवोवहाणाइं, परियागो, पडिमाओ, संलेहणाओ, भत्तपाण-पच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, अणुत्तरोववाइ ओ, सुकुल पच्चाया, पुणोबोहिलाभो, अंतकिरियाओ, आघविज्जंति, + + + + + नवमे अंगे एगे सुअक्खंधे, दस अज्झयणा, तिन्नि वग्गा, दस उद्देसणकाला दस समुद्देसण-काला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं,

श्रमणः ।' इति "शब्दार्थचिन्तामणिः" श्राम्यति परदुःखं जानातीत्यपि ।' च पुनर्ब्राह्मणाः ब्रह्मचर्याद्यनुष्ठाननिरताः । "द्विजात्यग्रजन्म, भूदेववाडवाः । विप्रश्च ब्राह्मण" इत्यमरः । ब्रह्म परमात्मानं

अनुत्तरोपपातिक:—इस सूत्रमें अनुत्तरोपपातिकोंके नगर, उद्यान, वनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्म्माचार्य, धर्म्मकथा, इत्यादिकका वर्णन है, और ऐहिक तथा पारलौकिक ऋद्धिविशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्याग्रहण, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, पर्य्याय, प्रतिज्ञा, संलेखना, भक्तपान-प्रत्याख्यान, पादपोपगमन, श्रेष्ठकुलमें पुनर्जन्म, बोधिलाभ, अन्तक्रिया, इत्यादि विषयोंका वर्णन है। × × नवम (अनुत्तरोपपातिक) अंगमें एक श्रुतस्कन्ध, दश-अध्याय, तीन वर्ग, दश उद्देशनकाल, दशसमुद्देशनकाल, संख्यातलाख पद—अर्थात् ४६०८००० पद हैं।

प्रश्नव्याकरण—पण्हावागरणेसु अट्ठुत्तरं अपसिणसयं, अट्ठुत्तरं पसिणापसिणसयं, विज्जाइसया, नागसुवण्णे हिं सद्धि दिव्वा संवाया आघविज्जंति, विम्हयकराणं अइसयमइ अकालदमसमतित्थकरुत्तमस्स ठिइकरणकारणाणं, दुरहिगमदुरवगाहस्स, सव्वसव्वणुसम्मअस्स, अबुहजणबोहकरस्स, पच्चक्खपच्चयकराणं, पण्हाणं, विविहगुणमहत्था, जिणवरप्पणीआ आघविज्जंति, + + + + दसमे अगे एगे सुअक्खंधे, पणयालीसं उद्देसणकाला, पणयालीस समुद्देसणकाला, संखेज्जाणि पयसहस्साणि।

प्रश्नव्याकरण—इस सूत्रमें एकसो आठ प्रश्न, १०८ अप्रश्न, १०८ प्रश्नाप्रश्न, विद्याओं का अतिशय, और नागकुमार तथा सुवर्णकुमारके साथ होने वाले दिव्य संवाद का वर्णन है। × × × दशम (प्रश्नव्याकरण) अंगमें, एक श्रुतस्कन्ध, ४५ उद्देशनकाल, ४५ समुद्देशनकाल, और संख्यात लाख पद अर्थात् ९३१६००० पद संख्या है।

विपाकश्रुत—विवागसुए णं सुकड-दुक्कडा णं कम्माणं फलविवागे आघविज्जंति, से समासओ, दुविहे पन्नत्ते तंजहा; दुहविवागे सुहविवागे चेव, तत्थणं दस दुहविवागाणि, दस सुहविवागाणि से किं तं दुहविवागाणि? दुहविवागे सु णं दुहविवागाणं नगराइं, उज्जाणाइं, वणसंडा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइं, धम्मायरिआ, धम्मकहाओ, नगरगमणाइं, संसारपबंधे; दुहपरंप-

सिद्धं जानातीति ब्राह्मणः । परब्रह्मणे ब्राह्मण इति शब्दस्तोममहानिधिः । ब्राह्मणलक्षणानीत्थं ब्रुवन्ति वृद्धाः । यथा—

'क्षमा, तपो, दया, दानं, सत्यं, शौचं, व्रतम् ।
विद्याविनयसम्पन्नं प्रथमं ब्रह्मलक्षणम् ॥ १ ॥
शान्तो दान्तः सुशीलश्च, सर्वभूतहिते रतः ।
क्रोधावेशं न जानाति, द्वितीयं ब्रह्मलक्षणम् ॥ २ ॥
निर्लोभो निरहंकारः पापत्यागं करोति यः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्तस्तृतीयं ब्रह्मलक्षणम् ॥ ३ ॥
परद्रव्यं यथा दृष्ट्वा, पथि गेहेऽथवा वने ।
अदत्तं नैव गृह्णाति, चतुर्थं ब्रह्मलक्षणम् ॥ ४ ॥
मद्यमांसमधुत्यागी—त्यक्तोदुंबरपञ्चकः ।
भुनक्ति न निशाहारं, पञ्चमं ब्रह्मलक्षणम् ॥ ५ ॥

राओ, य आघविज्जति, से तं दुहविवागाणि; से किं तं सुहविवागाणि ? सुहविवागेसुणं सुहविवागाणं नगराइं, उज्जाणाइं, वणसंडा, रायाणो, अम्मापियरो, समोसरणाइं, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोअ—परलोअ इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाआ, पव्वज्जाओ, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, परियागा, पडिमाओ, संलेहणाओ, भत्तपाणपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोगगमणाइं, सुकुल पच्चाया, पुणबोहिलाहो, अंतकिरियाओ, आघविज्जति, × × × × × एक्कारसमे अंगे वीसं अज्झयणा, वीसं उद्देसणकाला, वीस समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसयसहस्साइं ।

विपाकश्रुत—इसमें सुकृतकर्मोंका और दुष्कृत कर्मोंका फलविपाकपरिणाम बताया गया है । वह फलविपाक संक्षेपसे दो प्रकारका है । यथा दुःखविपाक और सुखविपाक । जिनके १०—१० भेद हैं । दुःखविपाकमें दुःखविपाकवालोंके नगर, उद्यान, वनखंड, राजा, मातापिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, नगरगमन, संसार प्रबन्ध, दुःखपरम्पराका ब्योरेवार वर्णन है ।

'केचित्तु ब्राह्मणा दशधा प्रोक्तास्त एवम्'

यथा—देवो द्विजो मुनी राजा, वैश्यः शूद्रो बिडालकः ।
खरो म्लेच्छश्च चाण्डालो, विप्रास्तु दशधा मताः ॥ १ ॥

देवः—एकाहारेण सन्तुष्टो, मद्यमांसविवर्जितः ।
पारीणसत्त्वविज्ञाने, स विप्रो देव उच्यते ॥ १ ॥

द्विजः—यामिको नियमी चैव, संयमी संयतेन्द्रियः ।
समो दमक्षमायुक्तो द्विजो विप्रः स उच्यते ॥ १ ॥

मुनिः—रूक्षाऽऽहारी दिवाहारी, वनवासे रतः सदा ।
कुरुतेऽहर्निशं ध्यानं, स विप्रो मुनिरुच्यते ॥ १ ॥

नृपः—अश्वादिवाहनेच्छुर्यो विग्रहे चातिवर्तते ।
आरंभः शासकः शूरः, स विप्रो हि नृपः स्मृतः ॥ १ ॥

वैश्यः—कृषिवाणिज्यगोरक्षां, न्यायं सेवां करोति यः ।
धातूनां संग्रही नित्यं, स विप्रो वैश्य उच्यते ॥ १ ॥

सुखविपाकमें सुखविपाकवालोंके नगर, उद्यान, वनखंड, राजा, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य, धर्मकथा, इसलोक परलोक सम्बन्धी ऋद्धि विशेष, भोगपरित्याग, प्रव्रज्याग्रहण, श्रुतपरिग्रह, तप, उपधान, पर्याय, प्रतिज्ञा, सलेखना, आहारपानीका त्याग, पादपोपगमनसंस्तारक, देवलोक-गमन, सुकुलावतार, बोधिलाभ और अन्तक्रिया तकका अनुक्रमसे वर्णन है। इसमें २० अध्याय हैं। २० उद्देशनकाल हैं, २० समुद्देशनकाल हैं। और संख्यात लाख अर्थात् १, ८४, ३२००० पद संख्या है।

दृष्टिवादः-दिट्ठिवाएणं, सव्वभावपरूवणया, आघविज्जंति से समासओ पंच विहे पण्णत्ते, तं जहा-परिकम्मं, सुत्ताइं, पुव्वगयं, अणुओगे, चूलिआ, ।

१२) दृष्टिवाद-इसमें सब पदार्थों की प्ररूपणा है, और वह दृष्टिवाद परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, (पूर्व) अनुयोग और चूलिका इन भेदोंसे ५ प्रकारका कहा है।

शूद्रः—लाक्षातैलक्रयं चैव, विक्रयं व्याजभक्षकः ।
विक्रेता मद्यमांसानां, स विप्रः शूद्र उच्यते ॥ १ ॥

बिडालः—भक्ष्याभक्ष्यं न जानाति, नाव्यं वाद्यं करोति यः ।
परस्त्रीगमनं कर्ता, बिडालः स हि प्रोच्यते ॥ १ ॥

म्लेच्छः—वापीकूपतडागानामपूतजलसंग्रहः ।
परदुःखं न जानाति, विप्रो म्लेच्छः स कथ्यते ॥ १ ॥

चाण्डालः—अहिंसां नैव जानाति, सर्वदा प्राणिघातकः ।
वनं दग्ध्वा कृषिं कुर्यात्, विप्रश्चाण्डाल उच्यते ॥ १ ॥

खरः—शास्त्राध्ययनजाप्यादिकर्मषट्कविवर्जितः ।
जातमृत्युगृहे भोजी, खरो विप्रः स उच्यते ॥ १ ॥

वर्ज्यः—नाच्छादयति परदोषं, कुर्यात्स्वपापगोपनम् ।
शुनः पुच्छमिव व्यर्थं, ब्राह्मधर्मविवर्जितः ॥ १ ॥

जन्मकाले भवेच्छूद्रो, वृद्धिकाले भवेद्द्विजः ।
शास्त्राभ्यासे भवेद्विप्रो, ब्रह्मविद्ब्राह्मणः स्मृतः ॥ १ ॥

स तत्राऽब्राह्मणो यथा—

कोहो य माणो य वहो य जेसिं,
मोसं अदत्तं च परिग्गहं च ।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा,
ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ॥ १४ ॥

(संस्कृतच्छाया)

क्रोधश्च मानश्च वधश्च येषां, मृषाऽदत्तं च परिग्रहं च ।
ते ब्राह्मणा जातिविद्याविहीनास्तानि तु क्षेत्राणि सुपापकानि ॥१४॥

उत्तराध्ययन अ० १२

[ब्राह्मणोचितश्रेष्ठयज्ञः]

सुसंवुडा पंचहिं संवरे हिं,
इह जीवियं अणवकंखमाणा ।
वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा,
महाजयं जयइ जन्नसेट्ठं ॥ ४२ ॥

सुसंवृताः पंचभिः संवरैः, रिह जीवितमनवकांक्षमाणाः ।
व्युत्सृष्टकायाः शुचित्यक्तदेहाः, महाजयं यजन्ते श्रेष्ठयज्ञम् ॥ ४२ ॥

उत्तराध्ययन अ० १२

[ब्राह्मणोचितस्नानतीर्थम्]

धम्मे हरए बम्भे संति तित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥ ४६ ॥
एयं सिणाणं कुसले हि दिट्ठं,
महासिणाणं इसिणं पसत्थं ।
जहिं सिणाया विमला विसुद्धा,
महारिसि उत्तमं ठाणं पत्ते ॥ ४७ ॥

संस्कृतच्छाया

धर्मो ह्रदो ब्रह्म शान्तितीर्थं, अनाविल आत्मप्रसन्नलेश्ये ।
यस्मिन् स्नातो विमलो विशुद्धः सुशीतीभूतः प्रजहामि दोषम् ॥ ४६ ॥
एतत्स्नानं कुशलैर्दृष्टं, महास्नानमृषीणां प्रशस्तम् ।
यस्मिन् स्नाता विमला विशुद्धा, महर्षय उत्तमं स्थानं प्राप्ताः ॥ ४७ ॥

¹ तथाऽगारिणो=गृहवासिनः 'सदनं सद्म भवनं धिष्ण्यं वेश्माऽथ मन्दिरम्; गेहं निकेतनागारमिति' धनंजयः । आ-गृ, कर्मणि

घञ्, आगमृच्छतीति, प्राप्नोति वेति, आग, आ-ऋ गतावण् वेति आगारं,=गृहमस्यास्तीत्यागारी, ते। आगारिणः, क्षत्रियादयश्चेति भावः। परतीर्थिकाः परमतावलम्बिनः शाक्यादयश्चेति वा; ते सर्वेऽपि, किं तदिति दर्शयति, स को योऽसावेनं धर्मम्। आगारानागारविच्छिन्नमाह्योक्तवान्। धृञ् धारणे धातौ मन्, "स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृष" इत्यमरः। 'वत्थुसहावो धम्मो' 'यतोऽभ्युदयो निःश्रेयसी स धर्मः,' दुर्गतौ प्रपततां प्राणिनां धारणाद्धर्मं रक्षकमेकान्तहितमाह्योक्तवानिति। किंभूतं धर्ममनीदृशमतुलम्। कयोक्तवान्? साधुसमीक्षया समतयेति भावः ॥१॥

अन्वयार्थ—(समणा) भिक्षु (माहणा) ब्राह्मण (य) और (अगारिणो) श्रद्धालु गृहस्थ (य) तथा (परतित्थिया) और और जैनतरमतावलम्बी (पुच्छिस्सु) पूछेंगे कि–जिन्होंने (साहुसमिक्खयाए) अच्छी तरह स्वाभाविक ज्ञानद्वारा (णेगंतहियं) सब प्रकारसे कल्याण और उद्धार करनेवाला (अणेलिसं) उपमा रहित (धम्मं) आत्म-धर्म (आहु) कहा है (से) वे (केइ) कौन थे? ॥ १ ॥

भावार्थ—आर्य सुधर्म्माचार्य भगवान्से उनके सदैव समीपमें रहनेवाले आयुष्मान् जंबू शिष्यने पूछा कि–हे आर्य्य! संसारसमुद्रसे पार करनेवाला, एकान्त हितकारी एवं अनुपम आत्म-धर्म किसने प्रतिपादन किया है? मुझसे इस प्रकार अनेक भिक्षु-गृहस्थ एवं अन्यान्य-मतवालोंने प्रश्न किया है ॥ १ ॥

भाषाटीका—इस संसाररूपी गहन वनमें घूमते फिरते प्राणिओंके लिए दश दृष्टान्तोंसे मनुष्यजन्मका मिलना अत्यन्त कठिन है, इसके अतिरिक्त आर्यदेश [आर्य भोजन, आर्य वृत्ति, आर्य वेशभूषा, आर्य पडोस, आर्य सहवास, आर्य भाषा,] उत्तम कुल, लम्बा आयु, आरोग्य शरीर, समस्त इन्द्रियोंकी इच्छानुकूल सामग्रियोंका संयोग मिलना तो और भी कठिन है, परन्तु श्रीवीतरांग भगवान्के धर्ममें प्रवृत्त होना सबसे अधिक मुश्किल है, और जगत्के जीवोंको सर्वज्ञोक्त धर्म ही कल्याण और मंगलका करने वाला है। इसी भाव औषधके अनुपानसे शरीर और मन सम्बन्धी कर्म्म रोग नाश होते हैं; और वह धर्म ज्ञातपुत्रमहावीर प्रभुने चार प्रकारका प्रतिपादन किया है। जो कि–दान, शील, तप और भावसे पहचाना जाता है।

दान धर्म की विशेषता-

दानको सबसे प्रथम इसलिए कहा है कि यह दान धर्म पिछले तीन भेदोंमें भी समाया हुआ है, लोकोंमें इसलोक, तथा परलोककी अपेक्षासे दान देनेकी प्रणाली सबसे पुरानी है, श्रीमान् तीर्थंकर भगवान् सबसे पहले एक वर्ष दान देकर फिर दीक्षा लेते हैं।

शीलमें भी दान धर्मका समावेश-

शील धर्ममें भी दानधर्म ज्योंका त्यों समाया हुआ है, क्योंकि ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करनेपर असंख्य द्वीन्द्रिय, और असंख्य सम्मूर्छिम पंचेन्द्रिय जीवोंको तथा नवलाख गर्भजपंचेन्द्रिय जीवोंको ब्रह्मचर्य पालन करनेसे प्रतिवार अभयदान मिलता है। इतर शास्त्रकारोंने भी इसका बडा माहात्म्य लिखा है।*

शील व्रतको स्वीकार करके वीर्य (आत्मशक्ति) का रक्षण करता हुआ गर्भादिके जन्ममरण संबंधी कष्टोंसे मुक्त होजाता है, और मानो वह अपने को भी अभयदान देता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शीलमें भी दान ही गर्भित है।

तपमें भी दानधर्मका अन्तर्भाव-

शीलकी तरह तपश्चरण करनेमें भी दानधर्मकी आराधना छुपी हुई है। यह सब जानते हैं कि-छः कायकी विराधना (हिंसा या आरंभ) के बिना भोजनका बनना असंभव है। परन्तु साधक उपवासादि तप करनेपर इच्छाओंको रोकतेहुए छःकायका आरंभ रोककर उस दिन अनन्त जीवोंको अभय दान देता है, अतः तप करनेसे भी दान धर्मका अनायासही पालन हो जाता है।

---

* एकरात्रोषितस्यापि, या गतिर्ब्रह्मचारिणः।
न सा क्रतुसहस्रेण, प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर ! ॥
(मार्कण्ड, ऋषिः)

भावार्थ—एक रात भर ब्रह्मचर्य पालन करने से भी जो उत्तम गति तथा श्रेष्ठ फल उस ब्रह्मचारी को मिलता है वह हे युधिष्ठिर ! हजार यज्ञोंसे भी अप्राप्य है।

भावधर्म तो दान धर्म है ही-

भाव प्रवृत्तिको रोक कर करुणा पैदा करनेका नाम है। तथा जीव और अजीवकी अप्रमत्तयोगसे रक्षाकरना भाव है, वहां भी सबको भावकी दृष्टिसे अभयदान [redacted] मिलता है। अतः प्राणीरक्षाका नाम ही भाव या भावशुद्धि है।

क्या साधु भी दान देता है?

जैन मुनि भी प्रतिदिन उपदेशदान, ज्ञानदान, शिक्षादान, रूढिच्छेदक शिक्षा दान देकर मानव समाजपर महान् उपकार करते हैं। इसपर लोक कभी यह भी कह देते हैं कि-साधुको अन्नदाता न कहकर दानी या राजाको ही अन्नदाता कहना चाहिए। साधु क्या कभी किसीको रोटी पानी दे सकता है? मगर इतना तो अवश्य समझ लेना चाहिए कि-क्या भोजन अन्न ही हो सकता है! और कोई वस्तु नहीं, क्या अन्नसे ही तृप्ति होती है? यदि सच पूछा जाय तो आत्माकी खुराक अन्न पानी नहीं है। यह तो परवस्तु तथा शरीरको पोषण करनेवाली पौद्गलिकवस्तु है। और आत्माकी निजी खुराक तो उसका ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, शम, संवेद, निर्वेद, अनुकम्पा आस्तिक्य ही है। इस वास्तविक खुराकको प्राप्त करनेपर आत्माकी सदाके लिए तृप्ति हो जाती है। अतः पूज्य मुनिवर्य्य ज्ञान, दर्शन चारित्रकी आत्मीय खुराक देनेके नाते अन्नदाता भी हो सकते हैं। और इस दानके सुन्दर कार्य भारके संचालक मुनि ही होते हैं जोकि दोनों प्रकारसे निर्द्वन्द्व हैं।

शील, तप और भाव गुप्त रीतिसे दानमें ही छुपे हुए हैं। अत एव चारों धर्मोंमें पहले दानको प्रमुखस्थान प्राप्त है। परन्तु दान, शील, तप भी भावके सद्भावसे अर्थात् पवित्रभावरूपी सुन्दरलहरके आनेपर सफल हो सकते हैं अन्यथा नहीं।

धर्मरत्न-

चतुर्विध अमूल्य धर्मरत्न पाकर श्रेष्ठकुलकीप्राप्ति, समस्त इन्द्रियादिक की अनुकूल सामग्री युक्त मानवका कर्तव्य है कि-वह अनेकान्तवादकी शैलीको समझकर जिनेन्द्रके धर्मतत्त्वका आश्रय पाकर आठकर्मरूप पर्दोंको तोड़नेका प्रयत्न करे।

कर्म नाश करनेकी कसौटी-

कर्मोंका नाश त्याग, वैराग्य, संयम, नियम, तपकी अग्निमें आत्मासे इस

प्रकार होता है जैसे अग्निमें सुवर्णका मल नाश होता है अतःउपरोक्त साधनोंको साधकका कर्तव्य है कि उन्हें समझानेकेलिए सर्वज्ञप्रभुका उपदेश सुनना चाहिए। और आत्मका रहस्य जानना चाहिए। यह निस्संदेह है कि आप्त अठारह दोषों से रहित होते हैं। वे चार घनघातिक कर्म क्षय करके अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और वह अनन्तसुख देहावस्थामें भी प्राप्त कर सकते हैं। वे साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चार धर्मतीर्थ स्थापन करनेके नाते तीर्थंकर कहलाते हैं। और धर्मका आद्य प्रयत्न करनेसे तथा अनन्त विभूति प्राप्त करनेपर वे असंख्य देव और इन्द्रकी सेवा के योग्य होते हैं अतः अर्हन् भी हैं। और इस वर्तमान अवसर्पिणी-कालके चतुर्थ-आरकमें हमारे इस भारत वर्षमें २४ अर्हन् हो गए हैं जिनमें अन्तिम अर्हन् महावीर प्रभु हुए हैं।

वीर प्रभुकी स्तुति-

ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुका हमपर पूर्ण उपकार है। उनके उपकारों का भूलजाना कृतघ्नता है। उन्हें निर्वाण हुए यद्यपि २४६५ वर्ष होगए हैं तथापि उनका अनुकरण करनेके लिए उनके गुणोंका स्मरण करना, तथा उनकी स्तुति करना हमारा परम कर्तव्य है, अतः आज उनकी स्तुतिरूप व्याख्या करनेकेलिए प्रयत्नशील हुआ हूं।

उनकी अनेक स्तुतियें और मेरा असामर्थ्य-

तत्वके अध्येताओंमें मुख्य विद्वानोंने उनके अनन्तगुणोंका अनेक उत्तम ग्रन्थोंमें वर्णन किया है, परन्तु मैं भी अपने सम्यग्दर्शनके बलसे उनकी स्तुति करूं मुझे ऐसी सूझ पैदा हुई है। यद्यपि मुझमें उन विद्वानों जैसी प्रतिभा तो नहीं, मगर मेरा उत्साह और भक्तिकी निर्भरता मुझसे बलात्कार प्रेरणा कर रही है। कारण जिस रास्तेसे गरुड अपनी चण्डगतिसे उडकर निकल गया हो क्या उसके पीछे एक छोटीसी तितलीको जानेकी इच्छा नहीं होती? अवश्य होती है।

इसी प्रकार अल्पप्रज्ञ मैं भी मानसोत्सुकता से भरपूर होकर ज्ञातपुत्र महावीर स्वामीकी स्तुति 'वीरत्थुई' सूत्रकृतांग नामा सूत्रके छठ्ठे अध्यायकी व्याख्याके बहाने अवश्य करसकता हूं। मुझे आशा है कि उसमें मुझे सफलता

अवश्य प्राप्त होगी। क्योंकि मणिमें डोरा पिरोने की अपेक्षा उसका वेध करना कठिन होता है। अतः उनकी स्तुति रूप कृति तो पहलेसे ही विराजमान है किन्तु मैं तो उसकी स्तुतिरूप मणिको अपनी अननुभूत टूटी फूटी लोक भाषाके डोरेमें ही पिरोनेका सतत प्रयत्न करूंगा। और यह मेरी अनल्पीयसी भक्तिके कारण अधिक कठिन नहीं है। परन्तु यह सब प्रभुकी कृपा ही है। मेरी इसमें कुछ विशेषता नहीं है। क्योंकि उन्होंने २५०० वर्ष पहले आत्म-ज्ञानका मार्ग भव्यात्माओंकेलिए परिमार्जित कर दिया है। इसमें मुझ सम अल्पमतिकी मजाल नहीं कि-कुछ विशेषता पैदा कर सकूं, यह सब प्रक्रिया उनकी ही बताई हुई तो है।

वीर प्रभु का गुण गान करते समय-
आरंभमें गुरु और शिष्यकी बातें।

अन्तिम तीर्थंकर ज्ञातनन्दन-महावीर प्रभुके गुणोंको जाननेकेलिए जिज्ञासु जम्बू ने जोकि एक मुमुक्षु अन्तेवासी शिष्य थे, वे वस्तुका निश्चय करनेमें सदैव सचेष्ट रहते थे, वे तत्वको पाकर असीम श्रद्धा और प्रतीति के साथ मनन करनेवाले महापुरुषों में से एक थे;

आचार्य और उसकी पहिचान

वे भगवान् सुधर्माचार्यकी सेवामें सदाकाल तत्पर रहते थे। सुधर्म्मा एक विशेष आचार्य तथा समझदार जैनसमाजके सच्चे नेता थे। वे चतुर समाजको हमेशा संगठन और सच्चरित्री रहनेका पूर्णतया प्रभावोत्पादक उपदेश कियाकरते थे। वे स्वयं भी विनयशील और आचारयुक्त थे। क्योंकि जो स्वयं परिशुद्ध और गुणसमन्वित होता है वही चरित्राकांक्षीकी अध्यात्म-मनोरथ माला को गूंथ सकता है अतः वही आचार्य होनेका सर्वाधिकारी है। कहा भी है कि-"जो सूत्र और अर्थका जाननेवाला है, आत्माके ज्ञानलक्षणको मांजकर जिसने चमकीला कर दिया है। चारोंसंघकेलिए जो (पृथ्वी की भान्ति) अवलम्बनभूत है, संघकी अशान्तिका नाश करदेता है, आत्म-तत्व का उपदेशक है, वही आचार्य होता है",

वह पांच प्रकारके आचारोंका स्वतः पालन करता है। आपकी देखा देखी संघ भी सदाचारका अनुकरण करता है। इस प्रकारसे आचारका याथातथ्य उपदेश आचार्यके द्वारा ही मिलता है। क्योंकि—

"जो पांच प्रकारके आचारोंका स्वयं समाचरण करता है, अध्यात्म-ज्ञानका प्रकाशक है, चरित्रको प्रगटमें पवित्र दृष्टिसे भावके रूपमें भर देता है, वही आचार्य होता है।"

आचार्य के छत्तीस गुण-

पांच इन्द्रियोंको वश करते हैं, नववाडविशुद्ध ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभको दूर करते हैं, पांच महाव्रतोंका पालन करते हैं, पांच आचारोंका समाचरण करते हैं, पांच समिति, तीनगुप्ति इन आठ प्रवचनोंको धारण करतेहैं, ये छत्तिस-गुण उत्पन्न होनेपर आचार्यकी योग्यता आ सकती है अन्यथा नहीं।

आचार्य को चतुर गोपाल की उपमा-

चतुर ग्वाल सब पशुओंको अपनी विचारदृष्टिमें रखता है। उन्हें किसीके खेतमें नहीं घुसने देता। इसीप्रकार आचार्यभी अपने संघको अशान्ति, कुसम्प, कषाय, रूढिवाद और वैमनस्यकी ओर नहीं जाने देता, समाजमें क्लेश होवे तो आचार्य तुरन्त मिटा देते हैं। या भव्यात्माओंके जन्म जन्मान्तरोंके क्लेश मिटा देते हैं। उन्हें सन्मार्ग-सम्यग्दर्शनका राह सुझा देते हैं, युक्त, अयुक्त, संसार-मोक्ष, हित-अहित, धर्म-अधर्मका रहस्य भिन्न भिन्न करके समझा देनेका उपकार प्रस्तुत करते हैं।

उन्हें नमस्कार करने का प्रयोजन-

आचार विषयक उपदेश उन्हीं से प्राप्त होता है, इसलिए तीसरे पदमें उनकोभी नमस्कार किया है, क्योंकि उन्होंने चरित्रोपदेशकताद्वारा हम पर खूब प्रभाव डाला है, हम उन्हें उपकारकी दृष्टि से निरहंकार होकर नमस्कार करते हैं और द्वादशांगी-शास्त्र वाणीके पूर्णपाठी तथा औरोंको पढानेका कार्य भी इन्हींके हाथ है।

आचार्य की विशेषता-

"ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप रूप शुद्ध मन्त्रकी उत्तम शैली से ये ही व्याख्या करते हैं।

"ये मोक्ष शास्त्रके उपदेशक हैं।"
"शिष्योंको सदाचारमें स्थापन करते हैं।"
"शिक्षाके पूर्ण-स्वामी होते हैं।"
"आत्मयोग-सिद्धिका मार्ग इन्हीं से मिलता है।"

श्रीमान् सुधर्म्म-आचार्य=आचार्यके समस्त गुणों से मण्डित हैं।

जम्बू अन्तेवासी का सुधर्म्माचार्य से प्रश्न।

अगाध गुणसमुद्ररूप सुधर्म्माचार्यसे जिज्ञासु शिष्य जम्बूने अंतिम-तीर्थंकर भगवान् ज्ञातपुत्र-महावीरस्वामीके गुणोंका परिचय प्राप्त करनेके लिए यह पूछा कि वे प्रभु कैसे थे। धर्म-वर-चक्रसे संसारमें रुलानेवाले कर्मोंका अन्त उन्होंने किस प्रकार किया। जिसमार्गका अनुसरण उन्होंने किया था यदि हम भी उसी मार्गका आश्रय लें तो हमारा प्रभुके साथ कैसे साम्य हो सकता है? नरकके दुःखोंको सुनकर जिनका मन अत्यन्त उदास हो गया है, त्याग और वैराग्यसे जो समलंकृत होना चाहते हैं, वे श्रमणादि मुझसे पूछते हैं कि-संसारसे पार करनेवाला धर्म किसने प्रतिपादन किया है? संसारमें विचरण करते समय बहुतसे श्रमण भी यही प्रश्न करेंगे। वे श्रमण-साधु होते हैं। परिग्रह ग्रन्थीके काटनेवाले हैं। निष्काम तप करते हैं। वे दूसरेके दुःख सुखको अपनी तरह समझनेके कारण खेदज्ञ भी होते हैं।

ब्राह्मण—

इसके अतिरिक्त मुझसे कई ब्राह्मण भी यही पूछेंगे। और वे ब्रह्मचर्य पालन करने से, सिद्ध-परमात्माका ज्ञान-मार्ग सुननेसे, परका आत्मा अपने सदृश जाननेसे, ब्रह्मके नामसे प्रसिद्ध हैं।

वृद्ध पुरुषों के बताए ब्राह्मण लक्षण-

जिसमें सहनशीलता, निरीहता, अहिंसकता, उदारता, सत्य, शौच, पांच अणुव्रत, विद्या, विनय सम्पन्नता है उस पुरुषमें ब्राह्मणका पहला लक्षण है।

जो शान्त है, इन्द्रियोंको अपने वशमें करता है, पवित्र और दृढ ब्रह्मचारी है। सब प्राणियोंके हित और कल्याणमें सदैव लगा रहता है। जो कभी भी क्रोधके आवेशमें नहीं आता। यह ब्राह्मणका दूसरा लक्षण है।

जो निर्लोभी है, अभिमानसे रहित है, सर्वथा पापको त्याग चुका है, राग, द्वेष और मोहसे मुक्त है, यह तीसरा लक्षण है।

मार्गमें, जंगलमें, या किसीके घरमें पर वस्तुको देख कर जिसका चोरी करनेको जी नहीं चाहता, चोरी करके परवस्तु नहीं लेता है वह ब्राह्मणका चतुर्थ लक्षण है।

जो मांस, मदिरा, मधुका कभी सेवन नहीं करता है; गूलर, अंजीर आदि गले सडे कीडोंवाले फल नहीं खाता है, तथा रातको भोजन नहीं करता है, यह पांचवां लक्षण है।

किसीने ब्राह्मण के १० प्रकार भी कहे हैं।

देव, द्विज, मुनि, राजा, वैश्य, शूद्र, बिलाव, गधा, म्लेच्छ, चाण्डाल, इन भेदोंसे ब्राह्मण १० प्रकार के होते हैं।

देव–

जो एक वक्त भोजन करता है, मांस, मदिरा नहीं खाता पीता, तत्व ज्ञानके पारको पहुँच गया है, वह देव ब्राह्मण है।

द्विज–

महाव्रती-नियमयुक्त-संयम पालक इन्द्रियविजेता-समतोलन वृत्ति वाला, आत्मा और मनका विजेता-क्षमा और सहिष्णु ब्राह्मण द्विज कहलाता है।

मुनि–

जो रूखा, सूखा खाकर सन्तोष कर लेता है, दिन में भोजन करता है, सदैव वनमें रहता है, दिन, रात आत्म-ध्यान में लगा रहता है। योगाभ्यासके साधनमें संलग्न है, वह मुनि-ब्राह्मण है।

नृप–

जो हाथी घोडोंपर चढनेकी इच्छा रखता है, समर भूमि में जाकर युद्ध करता है, अपने देशको दासत्व की शृंखला से मुक्त करके स्वतन्त्रता दिलाता है। जिसे अन्यायका नाश करते दया न आती हो, न्यायसे शासन चलाता हो, साम्यवादकी स्थितिपालकतामें शूर वीर हो, जिसमें कायरता का नाम तक नहीं है। वह ब्राह्मण राजाके समान होता है।

वैश्य–

जो खेती करता है, न्याय नीतिसे व्यापार करता है, पशु पालन करता है, सदैव न्यायका पक्ष लेता है, जन समाज की सेवा में तत्पर है, जो दानके अर्थ सब प्रकारके धातुओंका अनुकूल–आर्य वृत्ति से संग्रह करना जानता है, वह ब्राह्मण वैश्यके समान है ।

शूद्र–

जो लाख और तैलका क्रय, विक्रय करता है, ब्याज खाता है; मांस, मदिरा बेचता है, वह शूद्र ब्राह्मण है,

बिलाव–

जिसे भक्ष्याभक्ष्यका ज्ञान नहीं है, जो गाने बजानेका काम करता है, परस्त्री गामी है, वह ब्राह्मण बिलाव प्रकृति का है ।

म्लेच्छ–

बावडी, कुँवा, तालाबसे जो अनछना पानीका व्यवहार करता हो, परके आत्मसंबन्धी दुःखको न जानता हो, वह म्लेच्छ ब्राह्मण है ।

चाण्डाल–

जो जंगलमें आग लगा कर खेती करता है, जो हरेक जीवको मार डालता है, अहिंसा धर्म से अनभिज्ञ है, वह विप्र चाण्डाल है ।

खर–

शास्त्र अध्ययन और जप तप आदि अध्यात्मीय षट् कर्म करना नहीं जानता है, मृतक के घर आहार करता है, उसे खर–ब्राह्मण समझना चाहिए ।

अयोग्य ब्राह्मण–

जो अन्यके दोषोंको प्रगट करता है, और अपने पापको छुपा देता है, वह ब्राह्मण धर्मके अयोग्य है, उसका जीवन कुत्ते की पूंछ की तरह व्यर्थ है ।

ब्राह्मण–परम्परा–

जन्म कालमें वह शूद्र रहता है, गुण शुद्धि पाकर द्विज होता है, शास्त्राभ्यास करनेसे विप्र है, और वह अध्यात्मयोग तथा ब्रह्मज्ञान पाकर ब्राह्मण हो जाता है ।

अब्राह्मण–

जो क्रोध और मान तथा प्राणि-हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, परिग्रह-तृष्णा युक्त है। वह ब्राह्मण जाति और विद्यासे हीन तथा पतित है, वही अब्राह्मण और पाप क्षेत्र कहलाता है।

ब्राह्मणोचित-सर्वश्रेष्ठ यज्ञ–

जो पांच संवर भावोंसे आस्रवद्वारा आनेवाले पापको रोकता है, जिसे जीवित रहनेकी आकांक्षा नहीं होती; जो कायोत्सर्ग द्वारा आत्म-चिंतनमें लगा रहता है, मन, वाणी तथा कायके पापविकारोंसे अलग हटकर जो सर्वथा पवित्र हो गया है। जिसने देहका मोह त्याग दिया है, वह महाजय पानेका उत्तम अधिकारी है, वही श्रेष्ठ यज्ञ करता है।

ब्राह्मणोचित तीर्थस्नान–

धर्मरूपी ह्रद है, ब्रह्मचर्य शान्तितीर्थ है, आत्माका प्रसन्न लेश्या रूप पवित्र जल है, इसीमें स्नान करनेसे कर्मरहित और निर्मल होकर जन्म मरणसे मुक्त होता है। उसमें सदाके लिए अपुनरावृत्तिरूप पवित्रता आ जाती है। अध्यात्म दोषोंका सर्वथा अभाव तब ही होता है ॥ ४६ ॥

यह स्नान आत्मज्ञानके मर्मज्ञोंने देखा है, ऋषियोंका श्रेष्ठतम और महास्नान (महाव्रत) ही है। जिसमें स्नान करनेवाले, पवित्र और कर्मरहित, होनेवाले महर्षिगण उत्तम मोक्ष स्थानको प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त लक्षणवाले ब्राह्मणोंकी तरह गृहवासी, क्षत्रियादिक तथा परमतावलम्बी भी यही पूछेंगे कि साधु और गृहस्थके भेदसे जो धर्म दो प्रकार का है वह किसने बताया है? उसका प्रणेता कौन है? जो धर्म दुर्गतिमें पडनेसे धारण करके आत्माको बचानेवाला है, समदृष्टिसे एकान्त कल्याण और हित करनेवाला है। जिसकी महिमा अतुल और अपार है। उसे किस प्रणेताने समतापूर्वक कहा है? जिसमें विषमता और पूर्वापर विरोधका नाम तक भी नहीं है ॥ १ ॥

गुजराती अनुवाद—आ संसाररूपी गहन वनमां भ्रमण करता प्राणिओने माटे दश दृष्टान्ते दुर्लभ एवा मनुष्य जन्मनी प्राप्ति थवी अति कठण छे, तदुपरान्त आर्यदेश, [आर्यभोजन, आर्यद्युति, आर्यवेश, आर्यसहवास,

वैश्य–

जो खेती करता है, न्याय नीतिसें व्यापार करता है, पशु पालन करता है, सदैव न्यायका पक्ष लेता है, जन समाज की सेवा में तत्पर है, जो दानके अर्थ सब प्रकारके धातुओंका अनुकूल–आर्य वृत्ति से संग्रह करना जानता है, वह ब्राह्मण वैश्यके समान है।

शूद्र–

जो लाख और तैलका क्रय, विक्रय करता है, व्याज खाता है; मांस, मदिरा बेचता है, वह शूद्र ब्राह्मण है,

बिलाव–

जिसे भक्ष्याभक्ष्यका ज्ञान नहीं है, जो गाने बजानेका काम करता है, परस्त्री गामी है, वह ब्राह्मण बिलाव प्रकृति का है।

म्लेच्छ–

बावडी, कुँवा, तालाबसे जो अनछना पानीका व्यवहार करता हो, *परके आत्मसंबन्धी दुःखको न जानता हो, वह म्लेच्छ ब्राह्मण है।*

चाण्डाल–

जो जंगलमें आग लगा कर खेती करता है, जो हरेक जीवको मार डालता है, अहिंसा धर्म से अनभिज्ञ है, वह विप्र चाण्डाल है।

खर–

शास्त्र अध्ययन और जप तप आदि अध्यात्मीय पट् कर्म करना नहीं जानता है, मृतक के घर आहार करता है, उसे खर–ब्राह्मण समझना चाहिए।

अयोग्य ब्राह्मण–

जो अन्यके दोषोंको प्रगट करता है, और अपने पापको छुपा देता है, वह ब्राह्मण धर्मके अयोग्य है, उसका जीवन कुत्ते की पूंछ की तरह व्यर्थ है।

ब्राह्मण–परम्परा–

जन्म कालमें वह शूद्र रहता है, गुण वृद्धि पाकर द्विज होता है, शास्त्राभ्यास करनेसे विप्र है, और वह अध्यात्मयोग तथा ब्रह्मज्ञान पाकर ब्राह्मण हो जाता है।

: अब्राह्मण-

जो क्रोध और मान तथा प्राणि-हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, परिग्रह-तृष्णा युक्त है। वह ब्राह्मण जाति और विद्यासे हीन तथा पतित है, वही अब्राह्मण और पाप क्षेत्र कहलाता है।

ब्राह्मणोचित-सर्वश्रेष्ठ यज्ञ-

जो पांच संवर भावोंसे आस्रवद्वारा आनेवाले पापको रोकता है, जिसे जीवित रहनेकी आकांक्षा नहीं होती; जो कायोत्सर्ग द्वारा आत्म-चिंतनमें लगा रहता है, मन, वाणी तथा कायके पापविकारोंसे अलग हटकर जो सर्वथा पवित्र हो गया है। जिसने देहका मोह त्याग दिया है, वह महाजय पानेका उत्तम अधिकारी है, यही श्रेष्ठ यज्ञ करता है।

ब्राह्मणोचित तीर्थस्नान-

धर्मरूपी द्रह है, ब्रह्मचर्य शान्तितीर्थ है, आत्माका प्रसन्न लेश्या रूप पवित्र जल है, इसीमें स्नान करनेसे कर्मरहित और निर्मल होकर जन्म मरणसे मुक्त होता है। उसमें सदाके लिए अपुनरावृत्तिरूप पवित्रता आ जाती है। अध्यात्म दोषोंका सर्वथा अभाव तब ही होता है ॥ ४६ ॥

यह स्नान आत्मज्ञानके मर्मज्ञोंने देखा है, ऋषियोंका श्रेष्ठतम और महास्नान (महाव्रत) ही है। जिसमें स्नान करनेवाले, पवित्र और कर्मरहित, होनेवाले महर्षिगण उत्तम मोक्ष स्थानको प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त लक्षणवाले ब्राह्मणोंकी तरह गृहवासी, क्षत्रियादिक तथा परमतावलम्बी भी यही पूछेंगे कि साधु और गृहस्थके भेदसे जो धर्म दो प्रकार का है वह किसने बताया है? उसका प्रणेता कौन है? जो धर्म, दुर्गतिमें पडनेसे धारण करके आत्माको बचानेवाला है, समदृष्टिसे एकान्त कल्याण और हित करनेवाला है। जिसकी महिमा अतुल और अपार है। उसे किस प्रणेताने समतापूर्वक कहा है? जिसमें विषमता और पूर्वापर विरोधका नाम तक भी नहीं है ॥ १ ॥

गुजराती अनुवाद—आ संसाररूपी गहन वनमां भ्रमण करता प्राणिओने माटे दश दृष्टान्ते दुर्लभ एवा मनुष्य जन्मनी प्राप्ति थवी अति कठण छे, तदुपरान्त आर्यदेश, [आर्यभोजन, आर्यवृत्ति, आर्यवेष, आर्यसहवास,]

आर्यभाषा, आर्यजीवन,] उत्तम कुल, दीर्घ आयुष्य, आरोग्य शरीर, समस्त इन्द्रियोने इच्छानुकूल सामग्रीनो संयोग अने अध्यात्मिकजीवन गाळनार साधुपुरुषोनो सत्संग ए तेनाथी वधु कठण छे। पण वीतराग प्रणीत धर्ममां प्रयत्नशील बनवुं, ए सौथी वधु कठण छे। जगतना जीवोने कल्याणकर सर्वज्ञ कथित धर्मज छे, आ भाव औषधिना सेवनथी शारीरिक तेमज मानसिक सर्व रोगो नाश पामे छे, ते धर्म ज्ञातपुत्र श्रीमहावीर प्रभुए दान-शील-तप-भाव ए चार प्रकारे बतावेलो छे.

दान धर्मनी विशेषता—दानने सौथी प्रथम एटला माटे कहेवामां आवेल छे के दान धर्मनो पाछलना त्रणे प्रकारोमां पण समावेश थएलो छे, जगतमां आ लोक तथा परलोकनी खातर दान देवानी प्रणाली सौथी पुराणी छे। श्रीतीर्थंकर भगवान् सौथी पहेलां वरसीदान आपीने पछी दीक्षा अंगीकार करे छे।

शीलमां दान धर्मनो समावेश—शील धर्ममां पण दानधर्मनो समावेश थाय छे, ब्रह्मचर्य पालनथी दरेक वखते असंख्य बेइन्द्रिय असंख्य सम्मूर्छिमपंचेन्द्रिय तथा नव लाख गर्भज पचेन्द्रिय जीवोने अभयदान मळे छे। अन्य शास्त्रकारोए पण आ व्रतनुं बहु ज माहात्म्य दर्शावेल छे।

> **एकरात्रोषितस्यापि, या गतिर्ब्रह्मचारिणः।**
> **न सा क्रतुसहस्रेण प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर॥**
> [मार्कण्ड ऋषि]

भावार्थ—एक रात्रिना पण ब्रह्मचर्य पालनथी जे उत्तम गति तथा श्रेष्ठ फल ब्रह्मचारीने मळे छे, ते हे युधिष्ठिर! हजार यज्ञोथी पण मळती नथी।

शीलव्रतनुं पालन करीने वीर्य (आत्मशक्ति) नुं रक्षण करनार गर्भ, जन्म मरणादि दुःखोथी मुक्त थाय छे। एटले के ते पोताने पण अभयदान आपे छे। आथी शीलमां पण दान गर्भित होवानुं स्पष्ट जणाय छे।

तपमां पण दानधर्मनो अन्तर्भाव—शीलनी माफक तपश्चर्यामां पण दानधर्मनी आराधना छुपायेली छे। आ वात सर्व कोई जाणे छे के छकायनी विराधना [हिंसा या आरम्भ] वगर भोजन तैयार थई शकतुं नथी। परन्तु

इच्छानिरोधरूप उपवासादि तप करवाथी छकायनो आरम्भ बंध थतो ते दिवसे अनन्त जीवोने अभयदान मले छे, तेथी तप करवाथी पण दानधर्मनुं अनायासे पालन थई जाय छे ।

भाव धर्म तो दानधर्म छेज–

प्रवृत्तिने रोकी करुणा राखवी तथा अप्रमत्तयोगथी जीव तथा अजीवनी रक्षा करवी, तेनुं नाम भाव छे, आ पण भावनी दृष्टिए बधाने अभयदान मले छे, तेथी प्राणीरक्षानुं नामज भाव अथवा भावशुद्धि छे ।

शुं साधु पण दान दे छे?

हा, जैन मुनि पण हमेशा उपदेशदान, ज्ञानदान, शिक्षादान, रूढिच्छेदक ज्ञान दे छे, अने तेथी मानवसमाजपर महान् उपकार करे छे, कोई वखते लोको एम पण कहे छे, के साधुने नहि पण दानी अथवा राजानेज अन्नदाता कहेवा जोइए, साधु शुं कोईने भोजन पाणी आपी शके छे? पण एटलुं तो जरुर समजी लेवुं जोइए के शुं अनाज मात्र भोजन कहेवाय छे? बीजी कोई वस्तु नहि, तृप्ति शुं मात्र अनाजथीज थाय छे! खरी रीते आत्मानो खोराक अन्न पण नथी, ए तो पर वस्तु तथा मात्र देहनुंज पोषण करनारी पौद्गलिक वस्तु छे. पण आत्मानो पोतानो खोराकतो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा, आस्तिक्य छे । ते वास्तविक खोराकनी प्राप्तिथी आत्मानी हमेशने माटे तृप्तिज थई जाय छे । तेथी पूज्य मुनिवर ज्ञान, दर्शन चरित्ररूपी आत्मीय खोराक आपता होवाथी तेओने अन्नदाता पण कही शकाय, अने आ दानरूपी सुन्दर कार्यना संचालक मुनिज होय छे, के जे बंने प्रकारे निर्द्वन्द्व होय छे ।

शील तप तेमज भाव शुद्धरीते दानमां समायेला छे तेथी चारे धर्ममां दानने प्रथम स्थान आपवामां आवेल छे, परन्तु दान, शील, तप पण भावना सद्भावथी एटले के पवित्र भावरूपी सुंदर लहर आववाथी सफल बनी शके छे, बीजी रीते नहि ।

धर्मरत्न–

चतुर्विध अमूल्य धर्मरत्न मेळवीने श्रेष्ठकुल तेमज इन्द्रियादिकनी अनुकूल सामग्री प्राप्त थयेल, मनुष्यनुं कर्तव्य छे के अनेकान्तवादनी शैलीने समजीने

जिनेन्द्र कथित धर्मतत्वनो आश्रय लईने आठकर्मरूपी जालने तोडवानो तेणे अवश्य प्रयत्न करवो जोइए।

कर्मनाशनो उपाय–

जेवी रीते अग्निथी सुवर्णनो मेल नाश पामे छे तेवीज रीते त्याग, वैराग्य, संयम, नियम, तपरूपी अग्निथी कर्मोनो नाश थई जाय छे। साधकनुं ए कर्तव्य छे के उपरोक्त साधनोने समजवाने माटे तेणे सर्वज्ञ प्रभुनी वाणीरूप उपदेश सांभळवो जोइए अने आप्त [सर्वज्ञ] कोने कहेवाय ते समजवुं जोइए।

आप्त अढार दोष रहित छे, चार घनघाती कर्मनो क्षय करी अनन्त चतुष्टय [अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति] ने वरेला छे साधु, साध्वी, श्रावक श्राविका ए चार तीर्थना स्थापक होवाथी तीर्थंकर कहेवाय छे। धर्मनी आदि करवाथी तेमज अनन्त विभूतिमय होवाथी तेओ असंख्य देव तेमज इन्द्रोथी सेववा योग्य छे। तेथी अर्हत्–पण कहेवाय छे। वर्तमान अवसर्पिणी कालना चोथा आरामां आ भारतवर्षमां २४ तीर्थंकर, एटले आप्त पुरुषो थई गएला छे। तेमांना अन्तिम तीर्थंकर ज्ञातपुत्र महावीर प्रभु छे।

वीरप्रभुनी स्तुति–

ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुनो आपणापर अत्यन्त उपकार छे। तेमना उपकारोने भूली जवामां कृतघ्नता छे, तेथी जोके तेमनुं निर्वाण थया २४६५ वर्ष थई गया छतां तेमना गुणोनुं स्मरण करवुं तथा तेमनी स्तुति करवी, ए आपणुं परम कर्तव्य छे, तेथी आजे हुं तेमनी स्तुतिरूप व्याख्या करवा प्रयत्नशील थयो छुं।

तेमनी अनेक स्तुति अने मारुं असामर्थ्य–

सत्शास्त्रोमां मुख्य विद्वानोए अनेक गुणोनुं अनेक उत्तम शब्दोमां वर्णन करेलुं छे, परन्तु हुं पण पोताना सम्यग्दर्शनना बलथी कांइक स्तुति करूं, एवी उच्च अने पवित्र अभिलाषा प्रगट थई। जो के मारामां ते विद्वानो जेवी प्रतिभा नथी, छतां मारा उत्साह अने भक्ति मने बळात्कारे प्रेरणा करी रहेल छे, कारण के जे रस्ते गरुड पोतानी प्रचंड गतिथी उडीने पसार थई गयेल होय छे, ते रस्ते तेनी पाछळ एक नाना पक्षीने जवानी इच्छा शुं नथी थती? जरूर थाय छे।

ए रीते अल्पज्ञ प्राय- हुं पण मानवोचित उत्सुकताथी भरपूर बनीने 'वीरस्तुति' नामे श्रीसूत्र कृताङ्गना षष्ठम अध्यायनी व्याख्यारूपे ज्ञातपुत्र श्रीमहावीर प्रभुनी स्तुति करूं छुं मने आशा छे के तेमा मारी प्रसन्न भक्तिरूप सफलता जरूर थशे।

मणिमां दोरो परोववा करता तेने वींधवुं बहु कठण छे, तेमनी स्तुतिरूप कृति तो प्रथमथी ज छे पण हु तो तेमनी स्तुतिरूप मणिमां मारी बीनअनुभवी तुटीफुटी बालभाषारूपी दोरो परोववानो सतत प्रयत्न करीश, अने ते मारी अत्यल्प भक्तिना कारणे अधिक मुश्केल नथी। पण ते बधी प्रभुनी कृपाज छे। तेमां मारी कशी विशेषता नथी। कारण के तेओश्रीए २५०० वर्ष पहेला भव्यात्माओ माटे आत्मज्ञाननो मार्ग सरल करी दीधेलो छे तेमा विशेषता उत्पन्न करवानी मारी अल्पज्ञनी कशी शक्ति नथी। आ सर्व प्रक्रिया तेमनीज बतावेली छे।

वीरप्रभुना गुणगान करतीवखते प्रारंभमां गुरुशिष्य संवाद-

जिज्ञासु जंबुस्वामी मुमुक्षु तेमज मुख्य अन्तेवासी शिष्य हता, तेओ वस्तुनो निर्णय करवामा सदा तत्पर रहेता हता। तेओ तत्वने प्राप्त करीने असीम श्रद्धा तेमज प्रतीति साथ मनन करवावाळा महापुरुषोमाना एक हता, तेओ भगवान् सुधर्माऽऽचार्यनी सेवामा सदा तत्पर रहेता हता।

आचार्यनी ओळख-

ते वखते सुधर्मा एक विशेष आचार्य तेमज समजदार जैनसमाजना साचा नेता हता. तेओ चतुरसमाजने सगठित तथा सबलस्थिवान् बनाववानो पूर्ण प्रभावशाळी उपदेश आप्या करता हता। तेओ पोते पण विनयशील अने आचारयुक्त हता, कारण के जे पोते विशुद्ध तेमज गुणी होय छे तेज बीजाओ माटे चारित्राकांक्षीनी अध्यात्म मनोरथमाळा गुंथी शके छे, तेथी आचार्यपणामाटे पूर्ण अधिकारी छे। कह्युं पण छे के "जे सूत्र तेमज अर्थना जाणकार छे, आत्माना ज्ञानलक्षणने निर्मल बनावीने जेमणे प्रकाशित करेल छे, चारे प्रकारना संघने जेओ पृथ्वीनी पेठे आधारभूत छे। सघनी अशान्तिनो नाश करे छे, आत्मतत्वनुं उपदेष्टा छे, ते आचार्य होई शके"।

तेओ पाच प्रकारना आचारोनुं पोते पालन करे छे, तेमनी देखादेखीथी संघ पण सदाचारनुं अनुसरण करे छे, आ रीते आचारनो यथातथ्य उपदेश आचार्य द्वाराज मळी शके छे। कारणके तेओ अध्यात्मज्ञानना प्रचारक छे।

आचार्यना छत्रीश गुण–

पांच इन्द्रियोने वश करे छे, नव वाड विशुद्ध ब्रह्मचर्यनुं पालन करे छे। क्रोध-मान-माया-लोभ दूर करे छे। पांच महाव्रतोनुं पालन करे छे, पांच आचारोनुं समाचरण करे छे, पांच समिति-त्रणगुप्ति ए आठ दया माताना प्रवचनने धारण करे छे। ए छत्रीस गुणवाला आचार्य कही शकाय, बीजा नहीं।

आचार्यने चतुर गोपालनी उपमा–

चतुर गोपाल बधा पशुओ पर पोतानी दृष्टि राखे छे, तेमने कोईना खेतरमां दाखल थवा देतो नथी, तेवीज रीते आचार्यदेव पण पोताना संघने अशान्ति-कुसम्प-कषाय-स्वविवाद-विषमता-तरफ जवा देता नथी, क्लेश थतां वेंतज आचार्य तरत तेने शमावी दे छे, भव्यात्माओना जन्म जन्मान्तरोना क्लेशने मटाडी दे छे, तेमने सन्मार्ग–सम्यग्दर्शननो सरल रस्तो बतावे छे। योग्य-अयोग्य, संसार-मोक्ष, हित-अहित, धर्म-अधर्म-विगेरेनी समजण आपे छे। एवा आचार्यप्रभु वादवा योग्य छे।

आचार्यने नमस्कार करवानुं प्रयोजन–

आचार सम्बन्धी उपदेश तेओनी पासेथी मळे छे, तेथी तेमने त्रीजा पदमां नमन करेलो छे, कारणके चारित्रोपदेशनो आपणा पर तेओ प्रभाव पाडे छे, आपणे तेमने उपकारनी दृष्टिथी निरभिमानी बनीने नमस्कार करीए छीए। द्वादशांगी-[शास्त्र-] वाणीना तेओ पूर्णपाठी छे, तेमज बीजाओने भणाववानुं कार्य पण तेमने हाथ छे।

आचार्यनी विशेषता–

ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप रूप गुप्त मंत्रनी उत्तम शैली थी तेओ व्याख्या करेछे, तेओ मोक्ष शासना उपदेशक छे, शिष्योने सदाचारमां स्थिर करे छे, शिक्षाना पूर्ण स्वामी छे, आत्म-योग-सिद्धिनो मार्ग तेमनी पासेथी प्राप्त थाय छे, श्रीमान् सुधर्माचार्य आचार्यना बधा गुणोथी विराजमान हता।

अन्तेवासी जंबूनो सुधर्माचार्यने प्रश्न–

अगाध गुण समुद्ररूप सुधर्माचार्यने जिज्ञासु जंबूए अन्तिम तीर्थंकर भगवान् ज्ञातपुत्र महावीर स्वामीना गुणोनो परिचय प्राप्त करवाने माटे प्रश्न कर्यो के "तेओ केवा हता? ए धर्मवर- चक्रवर्तीए पोताना धर्मचक्रथी संसारमां रखडा-

बनारां कर्मोनो अन्त तेओए कइ रीते कर्यो ? जे मार्गनुं अनुसरण तेओए कर्युं, ते मार्गनो आश्रय जो अमे लइए तो प्रभु साथे अमारूं साम्य केवी रीते थई शके ? नरकनां दुःखो सांभळीने जेमनुं मन अत्यन्त उदास थई गयुं छे, त्याग अने वैराग्यथी जेओ अलंकृत बनवा इच्छे छे, ते श्रमणादि मने पूछे छे के "संसार रूप समुद्रथी पार उतारनार धर्मनुं प्रतिपादन कोणे करेलुं छे ?" संसारमां विचरता घणा श्रमणो आ प्रश्न पूछशे, ते श्रमण-साधु छे, परिग्रह ग्रन्थीने कापनारा छे, निष्काम तप करे छे, तेओ पोतानी माफक बीजाओनां सुख दुःख समजे छे, तेथी ते खेदज्ञ पण होय छे।

ब्राह्मण–

तदुपरांत मने कोई ब्राह्मणो पण पूछशे, ब्रह्मचर्यनुं पालन करता होवाथी, सिद्ध-परमात्माना ज्ञान-मार्गनुं श्रवण करता होवाथी, अन्य-आत्माओने पोताना समान जाणता होवाथी, ते ब्राह्मण नामथी प्रसिद्ध छे।

वृद्ध पुरुषोए बतावेला ब्राह्मणना लक्षणो–

जेनामां सहनशीलता, निरासक्ति, अहिंसकता, उदारता, सत्य, शौच, पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत, विद्या विनयसम्पन्नता होय छे, तेमां ब्राह्मणनुं पहेलुं लक्षण छे। जे शान्त होय छे, इन्द्रियोनुं दमन करे छे, पवित्र अने दृढ ब्रह्मचारी छे, बधा प्राणिओना कल्याण-कार्योमां जे हमेशां तत्पर रहे छे, जे क्रोध करता नथी, ते ब्राह्मणनुं बीजुं लक्षण छे। जे निर्लोभी छे, निरभिमानी छे, सर्वथा पापना त्यागी छे, राग-द्वेष अने मोहजाळथी मुक्त छे, ते त्रीजुं लक्षण छे। मार्गमां, जंगलमां, अथवा कोईना घरमां पर वस्तुने जोईने चोरी करवानी इच्छा सरखी जेमने नथी थती, तेमज चोरी करीने पर वस्तुनुं ग्रहण जेओ करता नथी, ते ब्राह्मणनुं चोथुं लक्षण छे। जे मांस, मदिरा, मधुनुं क्यारे पण सेवन करता नथी, गुलर-अजीर विगेरे अभक्ष्यफळ तथा गळेलां-सडेलां फळ खाता नथी, तथा रात्रिभोजनना त्यागी होय छे, ते पांचमुं लक्षण छे।

कोईए १० प्रकारना ब्राह्मण कहेला छे–

देव, द्विज, मुनि, राजा, वैश्य, शूद्र, बिलाव, पशु, म्लेच्छ, चाण्डाल ए भेदोथी ब्राह्मण दश प्रकारना होई शके छे.

देव ब्राह्मण—जे एक वखत भोजन करे छे; मांस, मदिरानुं सेवन करता नथी, तत्वज्ञानना पारने पहोंची गया छे, ते देव ब्राह्मण छे।

द्विज ब्राह्मण—महाव्रती, नियमयुक्त, संयमपालक, इन्द्रियविजेता, समतोलनवृत्तिवाला, आत्मा अने मनना विजेता, क्षमावान्, अने सहिष्णु छे ते द्विज ब्राह्मण छे।

मुनिब्राह्मण—जे लुखो सुको आहार लईने पण सन्तोष माने छे, मात्र दिवसेज भोजन करे छे, हमेशां वनमां वसे छे, दिनरात आत्मध्यानमां मग्न रहे छे, योगाभ्यासनी साधना करे छे, ते मुनिब्राह्मण छे।

नृपब्राह्मण—

जे हाथी, घोडा पर स्वारी करवानी इच्छा राखे छे, रण भूमिमां जई युद्ध करे छे, स्वदेशने गुलामीनी जंजीरथी मुक्त करी तेने स्वतंत्र बनावे छे, अन्यायनो नाश करवाने जे प्रयत्नशील छे, न्यायथी शासन चलावे छे, साम्यवादनी स्थितिपालकतामां शूरवीर छे, कायरतानो अंशमात्र जेनामां नथी, ते नृपब्राह्मण होय छे।

वैश्य ब्राह्मण—जे खेती करे छे, न्यायनीतिथी वेपार करे छे, पशुनुं पालन करे छे, हमेशा न्यायनो पक्ष ल्ये छे, जनसमाजनी सेवामा तत्पर रहे छे, जे दान देवा अर्थे सर्व प्रकारनी धातुओनो आर्यवृत्तिथी संग्रह करवानुं जाणे छे, ते वैश्य ब्राह्मणछे।

शूद्र ब्राह्मण—जे लाख, तेमज तेलनो वेपार करे छे, व्याज खाय छे, मांस मदिरा वेचे छे, ते शूद्र ब्राह्मण छे।

बिलाव ब्राह्मण—जेने भक्ष्याभक्ष्यनुं ज्ञान नथी, जे गावा बजाववानुं कार्य करे छे, परस्त्रीगामी छे, ते ब्राह्मण बिलाव प्रकृतिनो छे।

म्लेच्छ ब्राह्मण—वाव-कुवा-तळावमाथी जे अणगल पाणीनो उपयोग करे छे, परना दुःखोनो जे विचार करतो नथी, ते म्लेच्छ ब्राह्मण छे।

चाण्डाल ब्राह्मण—जे जंगलमां आग लगाडीने खेती करे छे, जे दरेक जीवने मारी नाखे छे, अहिंसा धर्मथी अज्ञात छे, ते चांडाल ब्राह्मण छे।

खर ब्राह्मण—शास्त्र नुं अध्ययन करतां छतां अध्यात्म-पद्कर्म करवानुं जे जाणता नथी, शूद्रभोजन करे छे ते खर ब्राह्मण छे।

अयोग्य ब्राह्मण—जे अन्यना दोषो प्रगट करे छे, अने पोतानां पापोने छुपावे छे, ते ब्राह्मण धर्म माटे अयोग्य छे, तेनुं जीवन कुतरानी पूछडी माफक व्यर्थ छे।

ब्राह्मण परम्परा–

जन्मकालमां ते शूद्र होय छे, गुण वृद्धि पामीने द्विज बने छे, शास्त्राभ्यास करवाथी विप्र थाय छे, अने अध्यात्मयोग तेमज ब्रह्मज्ञान प्राप्त करीने ते ब्राह्मण थाय छे।

अब्राह्मण—जे क्रोध-मान-प्राणी हिंसा-करे छे, असत्य बोले छे, चोरी करे छे, परिग्रह राखे छे, तृष्णा युक्त छे, ते ब्राह्मण जाति अने विद्याथी हीन तथा पतित छे। अने ते पापक्षेत्र कहेवाय छे।

ब्राह्मणोचित श्रेष्ठ यज्ञ—पांच इन्द्रियोनुं नियमन करनारा, जीवितव्यनी पण परवा नहि करनारा, कायोत्सर्ग द्वारा आत्मचिन्तवन करनारा; मन, वाणी, तथा कायना पाप विकारोथी दूर रहेनारा, अने कायनी आसक्तिथी रहित, एवा महापुरुषो बहारनी शुद्धिनी दरकार न करतां उत्तम अने महाविजयी भावयज्ञने ज आदरे छे।

ब्राह्मणोचित तीर्थस्नान—धर्मरूपी कुंड छे, ब्रह्मचर्यरूपी पुण्यतीर्थ छे, आत्मानी प्रसन्नलेश्यारूप पवित्र जळ छे, तेमां स्नान करवाथी कर्मरहित अने जन्ममरणथी मुक्त थाय छे, हमेशने माटे अपुनरावृत्तिरूप पवित्रता आवी जाय छे, दोषोनो सर्वथा अभाव त्यारेज थाय छे।

एवुं स्नान आत्म कुशल पुरुषोए कर्युं छे, अने ऋषिओए तेज महास्नानने वखाण्युं छे, जेमां स्नानकरेला पवित्र महर्षिओ निर्मल थईने [कर्मरहित थईने] उत्तमस्थान (मुक्ति) ने पाम्या छे।

उपरोक्त लक्षणवाळा ब्राह्मणोनी पेठे गृहस्थो, क्षत्रियो, अने परधर्मिओ पण मने पूछे छे के एकान्त हितकारी अने अनन्य धर्म यथास्थित कोणे कह्यो छे? ते धर्म दुर्गतिमां पडता जीवोने धरी राखे छे, बधानुं एकान्त कल्याण करे छे, ते अपार महिमामय छे॥ १॥

मूल

कहं च णाणं कहं दंसणं से,
सीलं कहं णायसुयस्स आसी?
जाणासि णं भिक्खु! जहातहेणं,
अहासुयं बूहि जहा णिसंतं॥ २॥

संस्कृतच्छाया

कथञ्च ज्ञानं कथं दर्शनं तस्य, शीलं कथं ज्ञातसुतस्याऽऽसीत्?
जानीषे भिक्षो! याथातथ्येन, यथाश्रुतं ब्रूहि यथानिशान्तम् ॥२॥

सं० टीका—तथैव तस्य भगवतो ज्ञातृसुतस्य महावीरस्यान्तिमतीर्थङ्कृतः सम्यग्ज्ञानादिगुणावाप्तये प्रश्नयन्नाह—कथं केन प्रकारेण स वीरो "वि=विशिष्टां, ई=लक्ष्मीं, राति=ददातीति सः। अथवा विशेषेण ईर्ते=सकलान् पदार्थान् जानातीति वीरः, यद्वा वि=विशिष्टा इरा=वाग्दिव्यध्वनिरूपा, इरा=पृथ्वी-ईषत्प्राग्भारा स्वरूपाऽस्ति यस्यासौ वीरः, अथवा वीरयति, वीर इवाचरतीति वा वीरः। वीररसपूर्णतामासाद्य कामराज-यमराज-मोहराजान् निराकरोतीति वीरः। यद्वा वि=विशिष्टा इरा गगनगमनं अपुनरावृत्तिरूपं यस्यासौ वीरः।"

तस्य भगवतो, ज्ञानं "हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्" "तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत्"

अथवा—

"त्रिकालगोचरानन्त-गुणपर्य्यायसंयुताः,
यत्र भावाः स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम्।
ध्रौव्यादिकलितैर्भावैर्निर्भरं कलितं जगत्,
चिन्तितं युगपद्यत्र, तज्ज्ञानं योगिलोचनम् ॥"

पुनश्च—

"अनेकपर्य्यायगुणैरुपेतं, विलोक्यते येन समस्ततत्त्वम्।
तदिन्द्रियानिन्द्रियभेदभिन्नं, ज्ञानं जिनेन्द्रैर्गदितं हिताय ॥
रत्नत्रयीं रक्षति येन जीवो, विरज्यतेऽत्यन्तशरीरसौख्यात्,
रुणद्धि पापं कुरुते विशुद्धिं, ज्ञानं तदिष्टं सकलार्थविद्भिः ॥

क्रोधं धुनीते, विदधाति शान्तिं, तनोति मैत्रीं, विहिनस्ति मोहम् ।
पुनाति चित्तं, मदनं लुनीते, येनेह बोधं तमुशन्ति सन्तः ॥"

तथाच—

"आत्मानमात्मसंभूतं, रागादिमलवर्जितम् ।
यो जानाति भवेत्तस्य, ज्ञानं निश्चयहेतुजम् ॥"

अथवा ज्ञायते सदसदनेनेति ज्ञानम् । "मोक्षे धीर्ज्ञानमित्यमरः" । अवाप्तवान्, किंभूतं भगवतो ज्ञानम् । विशेषावबोधकम्, लोकालोकावबोधकं-सर्वभावग्राहकं लोकालोकविषयं, नातः परं ज्ञानमस्ति । न च केवलज्ञानविषयात्परं किंचिदन्यज्ज्ञेयमस्ति । तत्केवलज्ञानं, केवलं परिपूर्णं समग्रमसाधारणं निरपेक्षं विशुद्धं सर्वभावज्ञापकं लोकालोकविषयमनन्तपर्य्यायमित्यर्थः । शुद्धात्मोत्थसहजपरमानन्दरूपमतीन्द्रियसुखं च केवलज्ञानादेवावाप्नोति । अनेन केवलज्ञानचेतनामयत्वेन केवलं ज्ञातृत्वादन्येषां कर्मबन्धं वाथवा कर्मफलं च शुभाशुभं केवलज्ञानेनैव ज्ञायते, सूक्ष्मबादरं चराचरं वा पूर्णसर्वज्ञत्वमिति भावः । किंभूतं तस्य दर्शनं, सामान्यार्थपरिच्छेदकं दर्शनावरणरहितं चेति । "निर्वर्णनं तु निध्यानं, दर्शनालोकनेक्षणमित्यमरः ।" अथवा इत्थेरव्यभिचारिणी सर्वेन्द्रियानिन्द्रियार्थप्राप्तिस्तत्सम्यग्दर्शनमिति । प्रशस्तं दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । संगतं वा दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । वाथवा जीवादीनि तत्वानि त एवार्थास्तेषां श्रद्धानं तेषु प्रत्ययवधारणं, तदेवं प्रशमसंवेदनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यग्दर्शनम् । यस्य मोहनीयसप्तकक्षयेन दर्शनं विशुद्धं तदेव सावरणं केवलं दर्शनं भवसम्भूतक्लेशप्राग्भारभेषजमनेन चरणज्ञानयोर्बीजं महाव्रतविशुद्धभावजीवितं भवति । एतत्सद्दर्शनरत्नं मुक्तिदं विश्वलोकैकभूषामणिसदृशं । एवमेव

तच्छीलं चरित्रं यमनियमरूपं "शुचौ तु चरिते शीलमित्यमरः"। अतस्तत् स्वात्मभावेऽपि, यदाह मेदिनी कोषे,—"शीलं स्वभावे सद्वृत्ते योगान्तरे सिते" इति। "शीलं स्वभावे सद्वृत्त" इत्यमरोऽपि। तत्कीदृक्। ज्ञाताः क्षत्रियास्तेषां पुत्रो ज्ञातपुत्रः। "राजन्यः क्षत्रियो ज्ञात इति कोषः"। "णायपुत्ते विसोगे" "गच्छति णायपुत्ते असणाए" "इत्याचाराङ्गसूत्रे नवमाध्याये"। ज्ञातृपुत्रो भगवान् महावीरप्रभुरिति। तत्सर्वमासीदिति। यदेतन्मया पृष्टं तत्र हे भिक्षो! "भिक्षुः परिव्राट् कर्मन्दीत्यमरः"। सुधर्मस्वामिन्! याथातथ्येन सम्यक्प्रकारेण जाना-स्यवगच्छसि। तत्कुरुत्वं त्वया यथा श्रुतं कर्णगोचरी [यथा भवति तथा] कृतं, यथा निशान्तं नितरामतिशयेन शान्तं ब्रूयाचक्ष्वेति भावः। "निशान्तमित्यवधारितं यथा दृष्टं तथेति केचित्।"

अन्वयार्थ—(से) उस (णायसुयस्स) ज्ञातपुत्र-महावीर भगवान्का (णाणं) ज्ञान (कहं) कैसा था, (दंसणं) दर्शन (कहं) कैसा था, और (सीलं) चारित्र (कहं) कैसा था, [भिक्खु!] हे सुधर्मस्वामिन्! आप [जहातहेणं] अच्छे प्रकार [जाणासि] जानते हो अत एव [अहासुयं] आपने जैसा सुना है एवं [जहाणिसंतं] जैसा निर्धारण किया है उसी प्रकार [बूहि] फर्माइए।

भावार्थ—आर्य जम्बू नामक जिज्ञासु-शिष्यने निवेदन किया कि-हे सुधर्मस्वामिन्! गुरुवर्य्य! आप सब कुछ अच्छीतरह जानते हैं अत एव कृपा करिए और यह फर्माइए कि-भगवान् ज्ञातृपुत्र महावीरका ज्ञान कैसा था? उन्होंने उस सम्यग्ज्ञानको किस प्रकार प्राप्त किया? और उनका दर्शन सामान्य प्रतिभास तथा यम-नियम और संयमादि शील-चारित्र किसभान्तिके थे? ॥ २ ॥

भाषाटीका—मोक्ष लक्ष्मीके प्रदाता, सर्वपदार्थोंके ज्ञाता, जिनकी वाणी विलक्षण और अमोघ है, जो अष्टम पृथ्वी [मोक्ष] को प्राप्त कर चुके हैं, वीर रस पूर्ण है, वीरता पूर्वक जिसने कामराज, मृत्युराज और मोहराजको जीत लिया है, जिसका अविरल ज्ञानमें विशेष गमन अर्थात् प्रवेश है, वह वीर

रूपसे मैत्री भाव पैदा करनेका स्वभाव होजाता है। इसके अनन्तर मोह, अविवेक, चित्त विकारके पर्दे तोड डालता है। मोहका सर्वथा नाश होनेपर चित्त निर्मल और पवित्र हो कर स्थिर होता है, पवित्र चित्तवाला कामदेवका नाश करता है। जिसके ज्ञान-आत्माका उदय होगया हो उसमें इतनी क्रियाओंका भी मननात्मक उदय हो जाता है, इससे ज्ञानी अटल सुखके पदको पानेका पूर्ण साधक बन जाता है।"

'जो आत्माको राग द्वेषसे निकालकर निश्चय हेतु बन जाता है बुद्धिमानोंने उसे भी ज्ञान कहा है।'

'जिससे सत् अर्थात् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका और असत्का विवेक हो उठता है, उसे भी ज्ञान ही कहा है।'

ज्ञान विशेष वस्तुका बोध कराता है, लोक और अलोकके परदे खुल जाते हैं। हथेली पर रक्खे हुए आमलेकी भांति संसारका सब स्वरूप और घटनात्मक भाव जानने लगता है। वह संपूर्ण ज्ञान केवलज्ञान या महाज्ञान है। इससे बढकर ज्ञानकी और कोई भूमिका नहीं है। केवल नाम भी पूर्णताका है, वह ज्ञान असाधारण है, निरपेक्ष और परमशुद्ध है, सब पर्यायों और भावोंका ज्ञापक है। इससे लोक और परलोक अवगम्य हैं। ज्ञानसे सहज और उत्कृष्ट अनन्त आनन्द मिलता है। यही ज्ञान प्राणिओंके कर्मबन्धका समय, तथा उनके शुभाशुभ फलका बोध कराता है। तथा सूक्ष्म-बादर, चर-अचरकी पूरी खबर रखने वाला सर्वज्ञ कहलाता है।

दर्शन–

जिसमें किसी प्रकारका व्यभिचार नहीं पाया जाता; संशय, विपर्यय, मिथ्यात्व या अनध्यवसाय आदि दोषों से रहित हो, इन्द्रिय और मनके विषय भूत समस्त पदार्थोंकी दृष्टि-श्रद्धारूप प्राप्तिको, अथवा संगत युक्तिसे सिद्ध दर्शनको सम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा जीव आदि नव पदार्थोके भावों पर श्रद्धान पूर्वक यथानुरूप धारण करना; जिससे निःसमता भाव, अस्थिर वस्तुओंसे विरक्ति दिलानेवाला वैराग्य, कर्म बन्धसे मुक्त होने की निरन्तर अभिलाषा, शत्रु मित्रके जटिल प्रश्नको उठाकर अभेद रूप अनुकम्पा और आत्मीय कर्मोका उदय होने पर ही सुख दुःख होता है इस रीतिका आस्तिक्यादि लक्षणोंका समुदय

होता है। त्याग, वैराग्य तथा विवेक शुद्ध होनेसे वही मुक्तिका अंग है। संसारके क्लेशरूपी रोगोंके भारको मिटानेमें औषध रूप सम्यग्दर्शन ही है। जोकि ज्ञान और चरित्रका बीज रूप है। इसीसे महाव्रतोंके पालन करते २ परम आत्मामें स्थिर रहनेकी भावना जागृत होती है। ज्ञानात्माओंका विश्वमें सर्वोपरि भूषण रूप है। इस श्रेष्ठ सम्यग्दर्शनसे नि:संशय मोक्ष पाता है जिसके निशंकसे लगाकर प्रभावना तक आठ अंग हैं।

चरित्र-

उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वें अध्यायमें वीरप्रभुने स्वयं प्रतिपादन किया है कि मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और मन वचन कायके अशुद्ध विचारोंसे जो पाप कर्म बांधे गए हैं, जिनका कि शुभाशुभ फल परिवर्तन करना अपने अधिकारमें अब न रह गया है उन कर्मोंको जिस पुरुषार्थ-बलसे नष्टकरके आत्माको कषायात्मा, योगात्मासे रिक्त करदेना चरित्र कहलाता है, चरित्रसे भविष्यके लिए प्रवृति मार्गका अवरोध करके तपसे उसे अग्निमें सुवर्णकी भांति मल शोधन करता है। जिससे जन्मान्तरके कर्मोंका क्षय होनेसे सर्व दुःखोंसे रहित हो जाता है।

और यह चरित्र अणुव्रत और महाव्रतके भेदसे दो प्रकारका है। जिससे अपने भावोंको कषाय रहित करनेपर मूलगुण और उत्तरगुणरूप चरित्र एक देश या सर्वथा संयम गुण प्राप्त करता है।

अत: भगवान् ज्ञातनन्दन महावीरका चरित्र कैसा था?

ज्ञातपुत्र-

वे ज्ञात-वंशके क्षत्रियोंके कुलमें उत्पन्न होनेसे ज्ञातपुत्र कहलाते थे। मुनि बनकर ज्ञातपुत्र कभी किसी वस्तु की वियोग दशामें शोक प्रगट न करते। ज्ञातपुत्र किसीके शरण नहीं जाते, तथा सदैव स्वावलम्बी रहते थे। उनकी भावना राग और द्वेषसे रहित-मध्यस्थ थी। वे अनुकूल, प्रतिकूल प्रसंगों पर लक्ष्य न देकर संयम मार्गमें स्थिर बुद्धिसे अपनी धर्मप्रतिज्ञाओंमें सदा प्रवृत्त एवं दृढ रहते थे।

अतः गुरो! मैंने उनके ज्ञान, दर्शन और चरित्रके विषयमें जो कुछ पूछा है। उसका आपने यथानुरूप अनुभव कर लिया है, अतः जो कुछ सुना देखा है, वह शान्त चित्त होकर मुझसे कहिएगा?

गुजराती अनुवाद—वीरभगवानना रत्नत्रय सम्बन्धी प्रश्नो—

मोक्षलक्ष्मीना दाता, सर्व पदार्थोना ज्ञाता, जेमनी वाणी अमोघ अने विलक्षण छे, जे अष्टम पृथ्वी मोक्षने प्राप्त करीचुक्या छे, वीर रस भरपूर छे,वीरताथी जेमणे कामराज मृत्युराज अने मोहराजने जीती लीधेल छे, ते वीर कहेवाय छे, महावीर प्रभु महावीरज हता, तेमनामां आ बधी वातो हती ।

ज्ञान—

तेमनुं ज्ञान केवुं हतुं ? कारणके प्रमाणज हितनी प्राप्ति अने अहितनो त्याग करवामां समर्थ छे, तेथी ज्ञानज प्रमाण होई शके छे ।

वळी ज्ञानज वस्तु तत्वनो निर्णय करावे छे, तेथी ज्ञानज परम उपकारी छे।

पुन. कर्तुं छे के—जेमा त्रणे काल गोचर अनन्तगुण पर्याय संयुक्त पदार्थ अतिशय साथ प्रतिभासे छे, तेने ज्ञानीजनो ए ज्ञान कहेलुं छे, आ सामान्यपणे पूर्ण ज्ञाननुं स्वरूप छे, आकाशद्रव्य अनन्तप्रदेशी छे तेना मध्यमां असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश छे, तेमां जीव-अजीव-पुद्गल-धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय अने काल ए अनन्तद्रव्य छे। तेना त्रण काल सम्बन्धी भिन्नभिन्न अनन्त पर्याय छे, ते बधाने युगपत् [एक समयमा] जाणवानो पूर्णज्ञान आत्मानो निश्चय स्वभाव छे।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाववाला पदार्थोथी आ जगत् अतिशय भर्युं पर्युं छे. जे ज्ञानमा आ बधुं एकदम प्रतिबिम्बित थाय छे, ते ज्ञान परम योगीश्वरोने माटे तो नेत्र समान छे ।

तदुपरान्त पण कर्तुं छे के—"जेनी द्वारा बधां तत्वोने विचार श्रेणिथी आत्मा स्पष्ट रूपे जुए छे, जे तत्वना अनन्त पर्याय-गुणनी सत्ता छे, तेने सम्यक् प्रकारे जाणवाने माटे ज्ञानज हितकर अने प्रथम साधन छे, तेनाथी आत्मा जड-संसारथी अलग थई शके छे ।"

आत्मानो कल्याण करवावाळाओ माटे ज्ञाननुं आराधन सौथी प्रथम एटलामाटे इष्ट छे के तेनाथी जीव पौद्गलिक तेमज शारीरिक सुखथी विरक्त बनी जायछे । पोताना आत्मीय गुणरत्ननी रक्षा तेनी छत्र छायामां थई शके छे। वळी तेनाथी प्रवृत्ति-पापद्वार ने रोकीने आत्मशोधनमां लागी जाय छे ।

ज्ञाननी पूर्ण मात्राना प्रभावथी क्रोध शान्त थई जाय छे । तेनाथी आत्मामां अपूर्व समभावनी लहेरी थाय छे । शान्तिना कारणे सर्वप्राणिओमां अभेदरूपे

मैत्रीभाव पेदा करवानो स्वभाव थई जाय छे। मोह अविवेक अने चित्त विकारनो पडदो तूटी जाय छे। मोहनो सर्वथा नाश थई जवाथी चित्त निर्मल अने पवित्र बनीने स्थिरता प्राप्त करे छे। पवित्र चित्तवाळो कामदेवनो नाश करे छे। जेनामां ज्ञानात्मानो उदय थएलो छे, तेनामां आटली क्रियाओनो उदय थई जाय छे, तेनाथी अटल सुखना पदने प्राप्त कराववानुं ते साधन बनी जाय छे।

जे आत्माने रागद्वेष अने मोहमांथी बहार काढवामां निश्चय हेतुरूप छे तेने पण बुद्धिमानोए ज्ञान कहेलुं छे।

ज्ञान विशेष वस्तुनुं बोधक छे, लोकालोकनुं प्रगट स्वरूप समजाय छे हस्तामलकवत् संसारना सर्व स्वरूपनुं तथा घटनात्मक भावनुं जाणपणुं थाय छे। ते सम्पूर्ण ज्ञान केवलज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान छे। तेनाथी अधिक ज्ञाननी बीजी कोई भूमिका नथी। केवल एटले पूर्णता, ते ज्ञान असाधारण, निरपेक्ष अने परम शुद्ध छे, सर्व पर्याय तेमज भावोनुं ज्ञायक छे। तेनाथी लोकालोकनुं ज्ञान थाय छे। तेनाथी सहज तेमज उत्कृष्ट अनन्त आनन्द मळे छे। ते ज्ञान प्राणिओना कर्मबन्धनो समय तथा तेना शुभाशुभ परिणामोनो बोध करावे छे। सूक्ष्म-बादर-चराचरनुं पूर्णज्ञान सर्वज्ञने होय छे।

दर्शन–

जेमा कोई प्रकारनो व्यभिचार नथी होतो; संशय, विपर्यय, मिथ्यात्व अथवा अनध्यवसाय आदि दोषोथी जे रहित छे, इन्द्रिय अने मनना विषयभूत सर्व पदार्थोनी दृष्टि–श्रद्धारूप प्राप्तिने सम्यग्दर्शन कहे छे, जीवादि नवतत्वना भावोपर श्रद्धानपूर्वक तेनुं यथानुरूप धारण करवुं, जेनाथी समता भाव अस्थिर वस्तुओनी विरक्ति रूप वैराग्य, कर्म बंधथी मुक्त होवानी निरन्तर अभिलाषा, शत्रु मित्र पर अभेदरूपे अनुकम्पा, आत्मीय कर्मोनो उदय थवाथीज सुख दु:ख थाय छे, ते जातना आस्तिक्यादि लक्षणोनो उदय थाय छे, त्याग-वैराग्य तथा विवेक शुद्ध थवाथी जे मुक्तिनुं अग छे, ससारना क्लेश रूपी रोगोना समूहने मटाडवामा जे औषधरूप छे, ते सम्यग्दर्शन छे, ज्ञान अने चारित्रना बीजरूप छे, तेनाथी महाव्रतोनुं पालन करतां करता स्थिरतानी भावना जागृत थाय छे, ज्ञानीओनुं विश्वमा ते सर्वोपरि भूषण छे, ते श्रेष्ठ सम्यग्दर्शनथी निःसंशय मोक्षनी प्राप्ति थाय छे, तेना निश्शंकथी माडीने प्रभावना सुधीना आठ अग छे।

चरित्र–

उत्तराध्ययनना २८ मां अध्यायमा श्रीवीरप्रभुए स्वयं प्रतिपादन करेलुं छे के मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद अने मन-वचन-कायना अशुद्ध योगथी जे पापकर्म बंधाएलां छे के जेनां शुभाशुभ फलमां परिवर्तन करवानी सत्ता आपणा हाथमां नथी रही, ते कर्मोनो पुरुषार्थबळथी नाश करीने आत्माने कषायात्मा अने योगात्माथी अलग करी देवो, तेनुं नाम चरित्र छे, चारित्रथी भविष्यनी प्रवृत्तिमार्गनो अवरोध करीने जेम अग्निथी सुवर्णनो मेल दूर थाय छे, तेम तपथी जन्मान्तरना कर्मोनो नाश करीने आत्मा सर्व दुःखोथी रहित थाय छे ।

आ चरित्रना अणुव्रत तथा महाव्रत एम बे भेद छे, पोताना भावोने कषायरहित करवाथी मूल गुण तथा उत्तरगुण रूप चरित्र एक देश अथवा सर्वथा संयम गुण प्राप्त करे छे ।

जम्बूमुनि सुधर्माचार्यने पूछे छे के भगवान् ज्ञातृपुत्र-महावीरनुं रत्नत्रय केवुं हतुं ?

ज्ञातृपुत्र–

तेओ ज्ञातृ वंशना क्षत्रिय कुलमां जन्म्या होवाथी ज्ञातृपुत्र कहेवाता हता, मुनि बनीने ज्ञातृपुत्र कोई वस्तुनी वियोग दशामां शोक नहोता करता, ज्ञातृपुत्र कोईने वश न थता, पण सदैव स्वावलम्बी रहेता, तेमनी भावना रागद्वेष रहित मध्यस्थ हती । तेओ अनुकूल प्रतिकूल प्रसंगो पर ध्यान आप्या वगर संयम मार्गमां स्थिर रहीने पोतानी धर्मप्रतिज्ञाओमा हमेशां प्रवृत्त रहेता हता ।

तेथी हे आचार्य्य भगवन्! में तेमना ज्ञान-दर्शन अने चरित्र सम्बन्धी जे प्रश्न कर्यो छे, तेनो आपे यथानुरूप अनुभव प्राप्त कर्यो छे ते जेम तमे सांभळ्युं होय अने धार्युं होय ते शान्त चित्त मने कहो ।

मूल

खेयन्नए से कुसले महेसी,
अणंतनाणीय अणंतदंसी ।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स,
जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहि ॥ ३ ॥

संस्कृतच्छाया

खेदज्ञः [क्षेत्रज्ञः] स कुशलो महर्षिः,
अनन्तज्ञानी च अनन्तदर्शी।
यशस्विनः चक्षुःपथे स्थितस्य,
जानीहि धर्मं च धृतिं च प्रेक्षस्व ॥ ३ ॥

सं० टीका–स ज्ञातनन्दन-महावीरो भगवान् चतुस्त्रिंशदतिशय-समेतः, पंचत्रिंशद्वाणीगुणोपपेतः "उप अप इतः 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यमिति वार्त्तिकेन' पररूपत्वे उपपेत इति"। खेदं संसारान्तर्वर्तिजीवानां कृतकर्मविपाकजं शारीरिकं मानसिकं च दुःखं क्लेशं, आत्मीयज्ञानेन जानातीति खेदज्ञः–सदयः। "खेदज्ञः सदयो वीर इति कोषः"। तं परकीयात्मदुःखं विज्ञाय समस्तप्राण-भूत-जीव-सत्वानां दुःखापनोदनसमर्थोपदेशदानादियुक्त इति। अथवा 'खेयन्नए' इत्यस्य 'क्षेत्रज्ञ'=इतिच्छाया तत्रायमर्थः क्षेत्रमाकाशं तल्लक्षणया तन्मध्यवर्ती धर्माधर्मात्मकालपुद्गलसमूहस्तज्जनातीति क्षेत्रज्ञः। लोकालोकस्वरूपपरिज्ञातृत्वादिति। पुनश्च वा यथाऽवस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानादनुभवनादात्मज्ञ इत्यपि साधुरेव। अथवा क्षेत्रं=शरीरं तदसारतया जानातीति (दर्शयतीति) वा, क्षेत्रं स्त्रीविषयदोषं तद्रमणानुरक्तजं तज्जानातीति क्षेत्रज्ञः। "क्षेत्रं नारीशरीरयो" रित्यमरः। कुशलो=निपुणः, सदसज्ज्ञानप्ररूपकत्वात्। "प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षितः। वैज्ञानिकः कृतमुखः कृती कुशल" इत्यमरः। अथवा तानष्टकर्मकुशान् लुनातीति कुशलः। प्राणिनां कर्मोच्छित्तये निर्जरार्थाय निपुणः समर्थः। "पर्याप्तिक्षेमपुण्येषु कुशलं शिक्षिते त्रिष्वित्यमरः"। अथवा प्राणिनां भावुको भद्रकारको मङ्गलप्रदः। "श्वः श्रेयस शिवं भद्रं कल्याणं मंगलं शुभम्। भावुकं भविकं भव्यं कुशलं" इत्यमरः। 'आसुपन्ने'–

इति पाठान्तरं तस्याऽयमर्थः । आसुपज्ञे=आशु शीघ्रं प्रज्ञा यस्यासावाशुप्रज्ञः, सर्वत्र सदोपयोगत्वात् [न तु छद्मस्थः शाठ्योऽल्पज्ञ इव विचिन्त्य जानातीति भावः । छद्मानि शाठ्येऽल्पज्ञत्वे तिष्ठतीति छद्मस्थः । "कपटोऽस्त्रीव्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे, कुसृतिर्निकृतिः शाठ्यमित्यमरः ।" छाद्यते स्वरूपमनेनेति छद्म, कपटे, छले, व्याजे, अपदेशे, स्वरूपाच्छादने, रजते, नवनीते, शुद्धे, ऽक्षिरोगभेदे च,] महर्षिः=महाँश्चासावृषिश्चेति महर्षिरित्यत्यन्तोग्रतपश्चरणानुष्ठायित्वादनुकूलमतिकूलपरिषहोपसर्गादिमहातितिक्षासहनाच्चेति वा, याथातथ्येन तत्वानां प्रकाशकत्वात्सत्यवाक्त्वान्महर्षिः । "ऋषयः सत्यवचस इत्यमरः" । अनन्तज्ञानी=अनन्तमवसानरहितमविनाश्यनन्तपदार्थपरिच्छेदकं वा विशेषार्थग्राहकं ज्ञानमस्यास्तीति अनन्तज्ञानी । एवं सामान्यार्थपरिच्छेदकत्वादनन्तदर्शीत्यथवा विशेषार्थज्ञानमनन्तमनवधिकमपरिच्छिन्नमित्यर्थः सर्वज्ञतेति भावः । सामान्यार्थग्राहकदर्शनं ते द्वे अपि यस्यानन्ते । "अनन्तोऽनवधावित्यमरः" तदेवं भूतस्य युक्तस्य, अनन्तगुणसहितस्य भगवतो यशःसुरासुरनरातिशाय्यतुलं प्रमाणरहितं चास्ति यस्य स यशस्वी=तस्य यशस्विनो, लोकस्य=जगतश्चक्षुःपथे=नयनमार्गे भवनस्य केवलावस्थायां विद्यमानस्य लोकाः सूक्ष्मव्यवहितपदार्थाविर्भवनेन च दृग्भूतस्य स्थितस्य जानीह्यवगच्छ । धर्मं संसारोद्धरणस्वभावत्वावच्छिन्नं श्रुतचारित्ररूपं । समयातपस्तुष्टियमार्जवोपमक्षमादिविहितात्मपुरुषार्थं वा । "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधं दशकं धर्मलक्षणमिति" स्मृतिः ।

तथा च—

धारणाद्धर्ममित्याहु, धर्मो धारयते प्रजाः,
धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः ॥

देशकालवयोवस्थाबुद्धिशक्त्यनुरूपतः
धर्मोपदेशभैषज्यं, वक्तव्यं धर्मपारगैः ॥ इति वृद्धाः ।

निष्प्रकम्पां चारित्राचलनस्वभावं धृतिं संयमे धैर्य्यं, अथ वा प्रतिज्ञायाः पालने दृढत्वं धैर्य्यम् । "धृतिर्धारण-धैर्य्ययोरित्यमरः ।" संयमे धृतिं रतिमेतीति, तत्प्रणीतां प्रेक्षस्व सम्यगवबुध्य पर्य्यालोचयेति भावः । यदि श्रमणैस्तैः सुधर्मस्वामिभिः कथितस्तत्त्वं भगवतो यशस्विनश्चक्षुःपथे स्थितस्य धर्मं धृतिं चावबुध्यसे तथैव रीत्यास्माकं कथयेति संगतिः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—[से] भगवान् महावीर [खेयन्ने] खेद अथवा क्षेत्र-आत्माके जानने वालोंमें [कुसले] प्रवीण [महेसी] महर्षि [अणंतनाणी] अनन्त-ज्ञानयुक्त [अणंतदंसी] अनन्त-दर्शनसमन्वित [य] और [जसंसिणो] यशस्वी थे, अतः अर्हन्दशामें ही भगवानको [चक्खुपहे] आखोंके विषयरूपसे [ठियस्स] स्थित [जाणाहि] जान ! (च) और (धम्मं) भगवान्के प्रतिपादित धर्मको (च) और (धिइं) संयमकी दृढतासे देख !

भावार्थ—आर्य्य-सुधर्माने आर्य्यजम्बूसे प्रभुके ज्ञान-दर्शन-चरित्रके तथा यशः कीर्तिके सम्बन्धमें यह वर्णन किया कि-वीरप्रभु जगत्के दुःखोंको कर्मोंके फलसे पैदा होना मानते थे, क्योंकि उनको आत्मासे अलग करनेका उपदेश करते थे। आत्माके सत्-चित्-सुखात्मक स्वरूपके ज्ञाता थे। कर्मरूपी कुशाको उखाडनेमें उद्यमशील थे, महान् ऋषि थे, अनन्त-पदार्थोंको एक समयमें जाननेके कारण अनन्तज्ञानी थे, अनन्तदर्शन-केवलदर्शनसमन्वित थे, तथा अखंडकीर्तियुक्त थे, इसलिए भगवानको अर्हन्दशा में आखोंके समान सूक्ष्म-पदार्थ दीखते थे, अतः उनके कहे हुए धर्मको तथा चरित्र सम्बन्धी स्थिरताका श्रद्धायुक्त दृढविचार करो ॥ ३ ॥

भाषाटीका—ज्ञातनन्दन महावीर प्रभु शासनके प्रति ३४ अतिशय युक्त और ३५ वाणीके गुणोंसे अलंकृत एवं शोभित थे।

३४ अतिशय–

(१) केश तथा दाढी मूछ के बाल बढते नहीं, या असुन्दर रीति से नहीं बढते। (२) शरीर नीरोग रहता है। (३) उनके शरीरका रुधिर तथा मांस दुधकी तरह सुन्दर और स्वच्छ होता है, आदिय होता है, घिनौना नहीं लगता। (४) मुखमें कमलकी सी सुगंधि रहती है, असत्य अथवा दुर्गंध नहीं होती। (५) आहार और नीहारको चर्मचक्षुवाले नहीं देखते, क्योंकि ये क्रियाएँ गुप्त की जाती हैं। (६) आकाश गत छत्र रहता है, अर्थात् सिद्धों का स्मरण अभेद रूपसे करते रहते हैं। (७) आकाश गत चमर युग्म श्रुत, चरित्र रूप धर्म ऊंचा रहता है। (८) आकाश गत स्फटिकमय सिंहासन, उनका १३ वां गुणस्थान शोभित है। (९) पादपीठिका सहित ध्वजरूप तीर्थकर नाम कर्मकी कीर्ति आकाशमें गूंजती रहती है। (१०) प्रभु अशोकमय छायामें रहते हैं, वहां जानेसे औरोंका शोक निवारण करते हैं। (११) मार्गमें चलते समय कांटेकी तरह तीक्ष्ण और पैने हठवादी विनीत हो जाते हैं। (१२) ऋतु अर्थात् समय अनुकूल तथा धर्मकाल हो जाता है। (१३) १२ योजन तक शान्तिका वायु चलता है। (१४) ज्ञान धारा प्रवाहित होनेसे कर्म रजका अभाव हो जाता है। (१५) भगवान् के समवसरणमें समभावका साम्राज्य छा जाता है। (१६) शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्शमें अनुकूलता और प्रतिकूलता रूप प्रकृति विकृति भाव जाता रहता है। (१७) निश्चय और व्यवहार नय रूपी चवँर ढुलते रहते हैं। (१८) प्रभा या अनन्तज्ञानप्रतिभारूप भामंडल पीठ आसन या आत्माकी शोभा युक्त हैं। (१९) उनकी मधुर भाषा एक योजन तक सुनाई पडती है। (२०) स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी उनकी सांकेतिक अर्ध मागधी भाषाको अपनी भाषामें समझते हैं। (२१) मर्म्य लेकर आनेवाले लोक प्रभुकी वाणीसे न्याय लेकर निरहंकार होजाते हैं। (२२) प्रभु जहां विचरते हैं वहासे १२५ योजन चारों ओर सात ईतियोंमेंसे कोईभी ईति (भय) नहीं होती। (२३) मनुष्य और तिर्यंच आपसका जातीय द्वेष भाव तथा वैर विरोध छोड देते हैं। (२४) जनता मे किसी प्रकार का भय नहीं होता। (२५) मारि आदिक रोग नहीं होवे। (२६) अतिवृष्टि नहीं होती। (२७) अनावृष्टि नहीं होती। (२८) दुर्भिक्ष नहीं होने पाता। (२९) स्वचक्र–अपने राजा या अशुभ कर्मोका उपद्रव नहीं होता। (३०) पर चक्र–पर राजा या पुद्गल प्रपंचका

विग्रहादि उपद्रव नहीं उठता। (३१) पहलेका फैला हुआ व्याधि रोगादिक नष्ट होजाता है। (३२) बलवान् दुर्बलको नहीं सताता। (३३) पुराण रोगकी उपशान्ति होजाती है। (३४) नवीन रोगका संवरण होजाता है।

३५ वाणी गुण–

(१) सुन्दर संस्कारित भाषा होती है। (२) स्वर उच्च होता है। (३) भाषा प्रामीण और साची होती है। (४) स्वर और भाषोच्चारणमें गंभीरता होती है। (५) बोलते समय ध्वनि निकलती है। (६) वाणी सरल होती है। (७) राग युक्त भाषा होती है। (८) सूत्र थोडा और अर्थ अधिक होता है। (९) वाणीमें पूर्वापर विरोध नहीं होता। (१०) सन्देह रहित भिन्न २ अर्थ प्रकाशन होता है। (११) निरशंकित गुण दाता हैं। (१२) वाणी अकाट्य युक्ति युक्त होती है। (१३) चित्त अन्यथा न होकर स्थिर होजाता है, अत-वाणी आकर्षक होती है। (१४) वाणी देश और कालसे उचित संबंध रखती है। (१५) अधिक विस्तृत होकर भी अनमेल या अरुचिकर नहीं होती। (१६) जीवादि वस्तु विचारका ज्ञान कराने वाली भाषा होती है। (१७) उपदेश करते समय किसीका मर्म प्रकाश नहीं करते। (१८) भाषा पूर्वापर सापेक्ष होती है। (१९) आख्यायिकाकी तरह वाणी मनको प्रेमास्पद बना देती है। (२०) भाषा मधुर और अनादिकालकी भूख मिटाने वाली होती है। (२१) उनकी श्रद्धेय भाषा स्वयं सिद्ध होती है। (२२) वस्तुका वास्तविक ज्ञान प्रकट कराती है। (२३) परनिन्दा रूप और अपनी प्रंशसा रूप भाषा नहीं होती। (२३) प्रशंसनीय भाषा होती है। (२५) बोलते समय अधिक कालक्षेप नहीं करते। (२६) चित्तको सन्तोष होता है। (२७) व्याख्यान मध्यम गतिका होता है। (२८) श्रोता कर्म रोगसे मुक्त हो जाता है परन्तु मनन करने पर। (२९) वाणी अनादि कालकी भ्रमणा मिटाती है। (३०) जिसका वर्णन करते हैं उसका संक्रमण उसी विशेष रूपसे करते हैं। (३१) उनकी भाषा वचनान्तर नहीं होती। (३२) पद, अर्थ अलग २ करके बोलते हैं। (३३) सत्व और साहस श्रोताओंका बढ जाता है। (३४) धर्मश्रवण करते हुए लोक अघाते नहीं। (३५) जीवादिक की अविच्छिन्न प्ररूपणा करते हैं।

खेदज्ञ–

संसारके प्राणियों द्वारा अर्जन किए हुए मार्मिक दुःखविपाकको जानते हैं। कर्म विपाकसे उत्पन्न शारीरिक मानसिक क्लेशोंको प्रभु सदय होकर जानते तथा देखते हैं। उनको दुःखोंका ज्ञान करानेके अनन्तर प्राण, भूत, जीव और सत्वकी अशान्ति दूर करनेके लिए अहिंसा, सत्य, निस्तृष्ण आदिका उपदेश करके संसारमें शान्तिकी स्थिति–स्थापना करते हैं। अतः खेदज्ञ हैं।

क्षेत्रज्ञ–

आकाशके अनन्त प्रदेशोंमें धर्म, अधर्म, जीव, काल और पुद्गलके अनन्त समूहको जाननेके कारण प्रभु क्षेत्रज्ञ भी हैं। क्योंकि लोक और अलोकके गुप्त और प्रगट सब भावों और विषयोंके ज्ञाता हैं। यथातथ्य स्व-स्वरूप और परस्वरूप जाननेसे आत्मज्ञ हैं। तथा इस नश्वर शरीर क्षेत्र में आत्मा या धर्म रूप सार जाननेसे, तथा स्त्रीके विषय दोष और उसके रमण और अनुरक्त रहनेमें जो दोष हैं उसे जाननेके कारण क्षेत्रज्ञ हैं।

कुशल–

सत् और असत्को अलग करके बता देते हैं, आठ प्रकारके कर्मरूपी तीक्ष्ण कुशको काटनेमें कुशल हैं। निर्जराका पथ बतानेमें समर्थ हैं, धर्मोपदेश देनेमें मंगलप्रद हैं अतः कुशल भी हैं।

आशुप्रज्ञ–

आपका उपयोग अनन्त होनेसे आशुप्रज्ञ हैं, परन्तु वह उपयोग छद्मस्थों-कासा नहीं है। [वहतो कुछ देर सोच विचार करनेके पश्चात् जानता है, कार्माण वर्गणाओंद्वारा आत्म-स्वरूप पर पर्दा पड जाने के कारण उस कर्म सहित संसारी आत्मा की छद्मस्थ संज्ञा है। परन्तु भगवान् तो 'वियट्ट छउमाणे' इस दोषसे निवृत्त हैं]

महर्षिः–

अनन्त उग्र तपस्वी अनुष्ठान करनेसे, अनुकूल प्रतिकूल परिषह और उपसर्ग सहन करनेसे, नाना तितिक्षाओं को सहनेसे, तत्व वस्तुका वास्तविक रूपमें प्रकाश करनेसे, सत्य वाणीका उच्चारण करनेसे महर्षि थे।

अतीत, अनागत, वर्तमानका अनन्त स्वरूप जाननेकी दृष्टिसे अनन्तज्ञानी; तथा सामान्य अर्थका भिन्न करण करनेसे अनन्तदर्शी थे।

उनके अक्षय और अतुल यश का गायन मनुष्य-असुर और देव सब मिल कर करते थे। संसारकी दो आंखों द्वारा प्रत्यक्षतया सूक्ष्म और बादर पदार्थोंका ज्ञान भलिभांति करा देनेसे उनके प्रतिपादित धर्मको तथा उनकी धीरताको देख!

धर्म-

संसारके प्राणिओंका दुःखोंसे उद्धार करना उसका स्वभाव है अतः वह धर्म है तथा ज्ञान और क्रियाके भेदसे धर्म दो तरहका है।

"समता, तप, सन्तोष, सरलता, उत्तम क्षमा, आदिक विहित पुरुषार्थको भी धर्म कहा है।"

"मनुने धैर्य रखना, शान्ति करना, अकिंचनवृत्ति रखना, इन्द्रिय दमन करना, आत्माको बुरे विचारोंसे हटा कर पवित्र करना, आत्मदोषका निग्रह करना, बुद्धि द्वारा सत्, असत् युक्त अयुक्तका निर्णय करना, निष्पाप तथा निस्पृह सत्य बोलना, आए हुए क्रोधको निष्फल करना, यह १० प्रकारका धर्म बताया है।"

धर्मके पारको पानेवाले पुरुषोंने देश काल, अवस्था, बुद्धि, शक्ति, आदि के अनुरूपसे धर्मोपदेशको ही औषध रूप कहा है।

इसके अतिरिक्त उनकी चरित्रमें निश्चलता धीरता देख! क्योंकि वे अपनी प्रतिज्ञामें सदैव दृढ रहते थे। संयम के अतिरिक्त वे किसीमें अनुरक्त न थे॥ ३॥

गुजराती अनुवाद—ज्ञातनन्दन शासनपति महावीर प्रभु ३४ अतिशय तथा ३५ प्रकारना वाणी गुणे करी अलंकृत हता।

३४ अतिशय—(१) माथाना केश-दाढीमूछ तथा शरीरना वाळ अने नख मर्यादित होय। (२) नीरोगी अने मेल, रज आदिथी निर्लेप शरीर होय। (३) मास अने लोही गायना दूध जेवा उज्वल अने मीठां होय। (४) श्वासोश्वास कमळ जेवा सुगन्धित होय। (५) प्रभुना आहार अने निहार चर्मचक्षुओथी अदृश्य होय, कारणके ते क्रियाओ गुप्त करवामां आवे छे। (६) आकाशमां धर्म चक्र चाले। (७) आकाशमां छत्र रहे। (८) आकाशमां श्वेतवर चामरो विंझाय। (९) आकाशमां अत्यन्त स्वच्छ स्फटिक सिंहासन पादपीठ सहित थई आवे। (१०) आकाशमां लघुपताकाओथी परिमंडित रत्नमय इन्द्र

ध्वज प्रभुनी आगल चाले। (११) अशोकवृक्ष थई आवे, त्यां जवाथी बीजाओना शोकनुं निवारण थाय। (१२) जरा पाछलना भागमां, मस्तक प्रदेशे तेजोमंडल थई आवे, ते दशे दिशाओना अंधकारने दूर करे। (१३) पृथ्वी बहु सपाट अने रमणीय बनी जाय। (१४) कांटा ऊंधां थई जाय, तेनी माफक बहु हठवादी विनीत थई जाय, (१५) विपरीत ऋतु सुखस्पर्शी थई जाय, समय अनुकूल तथा धर्म माटे योग्य थई जाय। (१६) शीतल-सुखकर-सुगन्धयुक्तवायु एक योजन क्षेत्रमां वहे। अने सर्व प्रकारनी अशुचि दूर करे। (१७) सुगन्धि वृष्टि थाय तेथी आकाशनी रज अने भूमि ऊपरनी रेणु ढंकाई जाय, ज्ञानधारा वरसवाथी कर्म रज दूर थई जाय। (१८) रमणीय पंचवर्ण फूल प्रगटे। (१९) अमनोज्ञ (अशुभ) शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्ध उपशमे अर्थात् नाश पामे। (२०) मनोज्ञ शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध उत्पन्न थाय। (२१) चारे बाजुए बेठेली परिषद भगवान्नो योजनातिक्रमी स्वर बराबर श्रवण करी शके अने ते शब्दो श्रोताओने प्रिय लागे। (२२) प्रभु अर्धमागधी भाषामां धर्मदेशना आपे। (२३) आर्य अनार्य देशना मनुष्यो-पशुओ-पक्षीओ विगेरेने आ भाषा पोतानी भाषामां परिणमे, ते हितकर-सुखकर-आनन्दकर अने मोक्षदायी लागे। (२४) जन्मवेर, जातिवेर, शान्त थायः। (२५) भगवान्ने देखतां अन्य दर्शन-मताभिमानी हठ छोडी नम्र बने छे। (२६) प्रतिवादी निरुत्तर बने। (२७) प्रभु विचरे छे त्यांथी २५ योजन चारे दिशामां दुष्काल-उंदर-तीड विगेरेनो उपद्रव रहे नहि। (२८) महामारी मरकी प्लेग न होय। (२९) स्वचक्रनो भय नहीं थाय। (३०) पर लश्करनो भय न होय। (३१) अति वृष्टि न थाय। (३२) अनावृष्टि न थाय। (३३) दुकाल न पडे। (३४) उत्पातो अने व्याधिओ तुरत शमी जाय।

सत्यवाणीना ३५ गुण-

(१) भगवान्नी वाणी संस्कार—लक्षण युक्त होय। (२) बुलंद आवाज वाली वाणी। (३) सादी। (४) गंभीर। (५) पडघेदा युक्त। (६) सरल। (७) उपनीत रागत्व-श्रोताओ धारे के भगवान् मने उद्देशीनेज उपदेश आपे छे। (८) महार्थ—सूत्र थोडो अर्थ घणो। (९) पूर्वापर वाक्यनी अविरोधी। (१०) शिष्ट। (११) असंदिग्ध, (१२) वाणीमां-अर्थमां दूषण रहित। (१३) हृदयग्राही, (१४) देश कालने अनुकूल। (१५) तत्वनी.

यथार्थ स्वरूप दर्शक। (१६) जे सम्बन्ध चालतो होय तेनी सिद्धि पुरतुंज कहेवुं ते। (१७) पद वाक्यनुं परस्पर सापेक्ष पणुं। (१८) इष्ट रीतिएं तत्वनुं कहेवुं। (१९) अत्यन्त मधुर-सुखकर। (२०) परना रहस्य विगेरेने प्रकट नहि करनारी। (२१) वस्तुना अर्थ तथा धर्म सहित। (२२) अर्थनो मलकाट उठे एवां पदो सहित। (२३) पर निन्दा अने आत्मप्रशंसा रहित। (२४) कहेला गुणोना योगथी प्रशंसा करवा लायक। (२५) व्याकरणना दोष रहित। (२६) श्रोताओने पोताना विषयनो जवाब मळवाथी आश्चर्य अने वैराग्य उत्पन्न करनारी। (२७) अद्भुत। (२८) अत्यन्त विलम्ब रहित। (२९) मननी भ्रान्ति तथा वाक्य बोलवानी असक्ति विगेरे दोष रहित। (३०) सर्व सुर-असुर-नर-अने तिर्यंच पोतानी भाषामां समजे तेवी। (३१) बीजा पुरुषोनी अपेक्षाए शिष्योने विषे विशेष बुद्धिने पेदा करनारी। (३२) पदो, वाक्यो स्पष्ट रीते समजाय तेवी चोक्खी। (३३) पराक्रमवाळी अनायासे वाणी प्रकाशे जाय। (३५) कहेवा धारेला अर्थोनी सारी रीते सिद्धि थाय त्यां सुधी अविच्छिन्न धाराए बोल्या करवा तेवी।

खेदज्ञ-

संसारना प्राणिओए संचय करेला मार्मिक कर्मोना दु खविपाकने तेओ जाणे छे। कर्मोना परिणामे उत्पन्न शारीरिक तथा मानसिक क्लेशोने प्रभु दयार्द्र बनीने जाणे छे तेमज देखे छे। तेमनां दु खोनुं ज्ञान करावाने तथा प्राण-भूत-जीव-सत्वनी अशान्ति दूर करवाने तेओ अहिंसा-सत्य-निस्तृष्ण विगेरेनो उपदेशकरीने संसारमां शान्तिनी स्थापना करे छे। तेथी भगवान् खेदज्ञ छे।

क्षेत्रज्ञ-

आकाशना अनन्त प्रदेशोमां धर्म-अधर्म-जीव-काल अने पुद्गलना अनन्त समूहने तेओ जाणे छे। तेथी क्षेत्रज्ञ पण छे। अथवा लोक-अलोकना गुप्त अने प्रगट सर्व भाव अने विषयना ज्ञाता छे। यथातथ्य स्वस्वरूप तथा परस्वरूपना ज्ञाता होवाथी आत्मज्ञ छे। आ नश्वर शरीर क्षेत्रमां तेमना आत्माना अथवा धर्मरूप सारना जाणकार होवाथी, तेमज स्त्रीना विषय दोष अने तेमां रमण करवाथी जे दोषो उत्पन्न थाय छे, तेना पण जाणकार होवाथी तेओ क्षेत्रज्ञ छे।

कुशल-

सत्-असत्ने भिन्न भिन्न करीने बतावे छे। आठ प्रकारना कर्मरूपी तीक्ष्ण

कुशने कापवामां कुशल छे। निर्जरानो मार्ग बतावावामा समर्थ छे, धर्मोपदेश देवामां मंगलप्रद छे।

आशुप्रज्ञ–

तेओनो उपयोग अनन्त होवाथी आशुप्रज्ञ छे। परन्तु ते उपयोग छद्मस्थोना जेवो होतो नथी। [छद्मस्थ तो थोडो समय विचारणा कर्या बाद जाणे छे। कार्मण वर्गणाओ द्वारा आत्म स्वरूप पर पडदो पडतां कर्म सहित संसारी आत्माने छद्मस्थ कहे छे। परन्तु भगवान् तो "वियट्ट छउमाणं" ए दोष थी मुक्त छे।

महर्षि–

अत्यन्त उग्र तपश्चर्या करवाथी अनुकूल प्रतिकूल परिषह तथा उपसर्ग सहन करवाथी नाना प्रकारना दु:खो सहवाथी तत्त्वस्वरूपनुं वास्तविक रूप प्रगट करवाथी, सत्यवाणी बोलता होवाथी, तेओ महर्षि हता।

भूत-भविष्य अने वर्तमानना अनन्त स्वरूप जाणवानी अपेक्षाए तेओ अनन्तज्ञानी तथा सामान्य अर्थनुं निरूपण करवाथी अनन्तदर्शी हता।

तेमना अक्षय अने अतुल यशनुं गान मनुष्य-सुर-असुर विगेरे सर्वे मळीने करता हता।

लोकने चक्षुभूत एवा श्रीमहावीरदेवना पढपेला धर्मने तथा तेमनी धीरजने जाण अने देख।

धर्म–

संसारना प्राणिओने दु:खमांथी उद्धार करवानो तेनो स्वभाव छे। ज्ञान अने क्रिया ए बे प्रकारनो धर्म छे। समता-तप-सन्तोष-सरलता-उत्तम क्षमा-विगेरेने पण धर्म कहेवामां आवे छे। धीरज राखवी-शान्तिधारण करवी-अकिंचनवृत्ति भजवी-इंद्रिय दमन-आत्माने खराब विचारोथी हटावीने पवित्रबनाववी-आत्मदोषनिग्रह-बुद्धि द्वारा सत्-असत्-युक्त-अयुक्तनो निर्णय, निष्पाप-निस्पृह-सत्य, क्रोध निष्फल करवो-एम दश प्रकारनो धर्म मनुए पण बतावेलो छे।

धर्म पारंगत पुरुषोए देश-काल अवस्था-बुद्धिशक्तिने अनुरूप धर्मोपदेश आप्यो छे।

महावीरप्रभुनी चारित्रनी निश्चलता, धीरता एटले तेओ पोतानी प्रतिज्ञामां हमेश दृढ रहेता हता, सदैव संयममांज तेओ मग्न रहता।

मूल

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जेय पाणा ।
से णिचणिचेहिं समिक्ख पन्ने,
दीवेव धम्मं समियं उदाहु ॥ ४ ॥

संस्कृतच्छाया

ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु दिक्षु,
त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणिनः ।
स नित्यानित्याभ्यां समीक्ष्य प्राज्ञः
दीप [द्वीप] इव धर्मं समितमुदाह ॥ ४ ॥

सं० टीका—अधुना सुधर्माचार्यस्तद्गुणान् स्फुटं प्रकटनचिकीर्षुराह—ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु दिक्षवथवा चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके ये जीवाः "शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यावसानवर्जितस्वपरप्रकाशकाविनश्वरनिरुपाधिशुद्धचैतन्यलक्षणनिश्चयमाणेन यद्यपि जीवन्ति, तथाप्यशुद्धनिश्चयनयेनानादिकर्मबन्धवशादशुद्धद्रव्यभावप्राणैर्जीवन्तीति जीवाः । 'उपयोगमयाः' शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनोपयोगमयास्तथाप्यशुद्धनयेन क्षायोपशमिकज्ञानदर्शननिर्वृत्तत्वाज्ज्ञानदर्शनोपयोगमया भवंति । "अमूर्तयः" यद्यपि व्यवहारेण मूर्तकर्म्माधीनत्वेन स्पर्शरसगन्धवर्णवत्या मूर्त्या सहितत्वान्मूर्तास्तथापि परमार्थेनामूर्तातीन्द्रियशुद्धबुद्धैकस्वभावत्वादमूर्ताः । "कर्तारः" यद्यपि भूतार्थनयेन निष्क्रियटंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावोऽयं तथाऽप्यभूतार्थनयेन मनोवचनकायव्यापारोत्पादककर्मबीजसहितत्वेन शुभाशुभकर्मकर्तृत्वात् कर्तारः । "सदेहपरिमाणा" यद्यपि निश्चयनयेन सहजशुद्धलोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशास्तथापि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धाधीन-

त्वेन शरीरनामकर्मोदयजनितोपसंहारविस्ताराधीनत्वात् घटादिभाजनस्थप्रदीपवत् सदेहपरिमाणाः। "भोक्तारः" यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वात्मोत्थसुखामृतभोक्तारस्तथाऽप्यशुद्धनयेन तथाविधसुखामृताभावाच्छुभाशुभकर्मजनितसुखदुःखभोक्तृत्वाद्भोक्तारः। "संसारस्थाः" यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन निस्संसारनित्यानन्दैकस्वभावास्तथाप्यशुद्धनयेन द्रव्यक्षेत्रकालभावभवपञ्चप्रकारसंसारे तिष्ठन्तीति संसारस्थाः। "सिद्धा" व्यवहारेण स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धत्वप्रतिपक्षभूतकर्मोदयेन यद्यप्यसिद्धास्तथापि निश्चयनयेनानन्तज्ञानानन्तगुणस्वभावत्वात् सिद्धाः। त एवंगुणविशिष्टा जीवाः। "विस्रसोर्द्ध्वगतिकाः।" यद्यपि व्यवहारेण चतुर्गतिजनककर्म्मोदयवशेनोर्द्ध्वाधस्तिर्यग्गतिस्वभावास्तथापि निश्चयेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणावाप्तिलक्षणमोक्षगमनकाले विस्रसा स्वभावेनोर्द्ध्वगतिकाश्चेति। अत्र शुद्धाशुद्धनयद्वयविभागेन नयार्था अप्युक्ताः। आगमार्थः पुनः "अस्त्यात्माऽनादिबद्धः" इत्यादिप्रसिद्ध एव शुद्धनयाश्रितं जीवस्वरूपमुपादेयं शेषं च हेयम्। एवंविधा जीवास्त्रसन्त्युद्वेगं भयं प्राप्नुवन्ति यद्वा त्वरन्ति चेतस्ततो गच्छन्तीति त्रसाः। "चरिष्णु जंगमचरं त्रसमिंगं चराचरमित्यमरः।" ते त्रसास्तु द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदाच्चतुर्धा। तथा ये च स्थावराः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिभेदात्पंचधा। तिष्ठन्तीति स्थावरा भूताः सत्त्वाश्चापि, यथा च—

"प्राणा द्वित्रिचतुःप्रोक्ता भूतास्तु तरवः स्मृताः।
जीवाः पंचेन्द्रियाः प्रोक्ताः शेषाः सत्त्वा उदीरिताः॥"

"स्थावरो जंगमेतर इत्यमरः।" एते प्राणानां धारकत्वात्प्राणिनो भवन्ति। प्राणास्तु दशधा यथा—"पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं

चं, हुच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः, प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोगीकरणं हि हिंसा ।" एते विद्यन्ते यस्य ते प्राणिनो, जीवस्याधुना तु बाह्यप्राणधनपराक्रमत्वात् "शक्तिः प्राणः पराक्रम इत्यमरः ।" चार्वाकशाक्यादिमतनिराकरणेन पृथ्व्याद्येकेन्द्रियाणामपि जीवत्वमित्यावेदितम् । तान् जीवान्नित्यानित्याभ्यां ध्रुवव्ययाभ्यां समीक्ष्य=ज्ञात्वा केवलज्ञानित्वात्प्रकर्षेण जानातीति प्राज्ञः । द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिकनयाश्रयणादावेवेति भावः । स ज्ञातपुत्रो महावीरो भगवान् तत्व–पदार्थ–स्वरूपाणां ज्ञापकतया दीपवद्दीपः प्रकाशकत्वात् यथार्थधर्ममाह–उक्तवान् । सम्यक्तया समतया श्रुतचारित्रात्मकं धर्मं वीतरागभावेन रागद्वेषरहितत्वेन सदनुष्ठानितया चेति । परमकारुणिको हि भगवान् लोकाननुग्रहीतुमेव धर्ममावेदितवानतु निजोत्कर्षप्रकाशनार्थमपीति सहृदयैर्ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—[से] उस [पन्ने] आत्मप्रज्ञ केवलज्ञानी प्रभुने [उड्ढं] ऊपर [अहेयं] नीचे और [तिरियं] तिरछी [दिसासु] दिशाओंमें [जे] जो [तसा] त्रस-हिलने सरकनेवाले (य) और [थावर] स्थावर [पाणा] प्राणी हैं, उनको [णिच्चणिच्चेहिं] नित्य और अनित्यदृष्टिसे [समिक्ख] जान कर [दीवे व] दीवेकी सदृश अथवा विश्वसागरमें डूबते जीवोंकेलिए द्वीपकी तरह (धम्मं) धर्मको [समियं] समानभावसे [उदाहु] बताया ॥ ४ ॥

भावार्थ—आर्य्य सुधर्म फिरसे बोले कि-भगवान् महावीर त्रस और स्थावर जीवोंको जोकि-ऊपर-नीचे और इधर उधर भरे पड़े हैं, सब जगह विद्यमान हैं, और जीवोंको उन्होंने पर्यायकी दृष्टिसे अनित्य और द्रव्यकी दृष्टिसे नित्य बताया है । और उनके उत्तम धर्मका उपदेश जगत्-सागरमें डूबते हुए प्राणिओंको द्वीपके समान सहारा देते हैं, और अज्ञानताके अंधेरेको मिटानेकेलिए दीवेके समान है । इस प्रवचनसे अनात्मवादका खण्डन हो जाता है

एवं वृक्ष-वायु-पृथ्वी आदिमें जीव है यह सिद्ध किया है, और जैनदर्शनके प्राणभूत स्याद्वाद-सिद्धान्तका सम्यक् दिग्दर्शन कर दिखाया है ॥ ४ ॥

श्रीसुधर्माचार्य वीर प्रभुके गुणों को प्रकट करते हैं !

भाषा-टीका—सर्वज्ञ-वीर भगवान्ने ऊर्ध्वलोक, मानवलोक, अधोलोक के सब जीवोंका स्वरूप इस भान्ति वर्णन करके बताया है कि-"जीव" यद्यपि जीवसमूह शुद्ध निश्चयनयसे आदि, मध्य और अन्त से रहित, अपने और परके गुणोंका प्रकाशक, उपाधिरहित और शुद्ध चैतन्य (ज्ञान) रूप निश्चय प्राणसे ही जीवित है, तथापि अशुद्ध निश्चयनयसे अनादि कर्मबन्ध के वशसे जो अशुद्ध द्रव्यप्राण और भाव प्राण हैं उनसे जीवित रहने के कारण-यह जीव है।

उपयोगमय-

यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे परिपूर्ण तथा निर्मल ज्ञान और दर्शन ही उपयोग हैं इसी से जीवसंज्ञा है, तो भी अशुद्ध-नयसे क्षायोपशमिकज्ञान और दर्शनसे बना हुआ है, इस लिए ज्ञानदर्शनोपयोगमय है।

अमूर्त-

यद्यपि व्यवहारनयसे यह जीव मूर्त कर्मों के अधीन होने से स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाली मूर्तिके द्वारा रचित रहनेके कारण मूर्त है तथापि निश्चय नयसे अमूर्त, इन्द्रियोंसे अगोचर, शुद्धरूप स्वभावका धारक होने से अमूर्त है।

कर्ता-

यद्यपि जीव निश्चयनयकी दृष्टिसे क्रिया रहित, उपाधिरहित जाननेके स्वभावका धारक है। तथापि व्यवहारनयसे मन, वचन तथा कायके व्यापारको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंसे युक्त होनेके कारण शुभ और अशुभ कर्मोंका करनेवाला है, अतः कर्ता है।

स्वदेह परिमाण-

यद्यपि जीव निश्चयनयपूर्वक स्वभावसे उत्पन्न शुद्धलोकाकाशके समान है और असंख्य प्रदेशोंका धारक है, तथापि शरीर नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न-संकोच तथा विस्तारके अधीन होने से घड़े आदि पात्रोंमें रहे हुए दीपककी सदृश अपने देहके परिमाण जितना है।

भोक्ता-

यद्यपि जीव शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे रागादिविकल्परूप उपाधियोंसे शून्य है, और अपने आत्मासे उत्पन्न हुए अमृतको भोगनेवाला है, तथापि अशुद्ध-नयसे उस सुखरूप अमृतपदार्थके अभावसे शुभ कर्मसे उत्पन्न सुख और अशुभ कर्मसे उत्पन्न दुःखोंको भोगता है अतः भोक्ता भी है।

संसारस्थ-

संसारमें स्थित रह कर अनेक पर्याय बदलता रहने के कारण संसारी है। यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनयसे संसार रहित है और नित्य आनन्दघन रूप एक स्वभावका धारक है तथापि अशुद्ध निश्चय नयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव इन भेदोंसे पांच प्रकारके संसारमें रहता है अतः यह आत्मा-जीव संसारस्थ भी है।

सिद्ध-

यह आत्मा सिद्ध भी है। यथाह प्रज्ञापनायाम्—सितं बद्धं—अष्टप्रकारं कर्मेन्धनम्, ध्मातं दग्धं जाज्वल्यमानशुक्लध्यानानलेन यैस्ते निरुक्तविधिना सिद्धाः। अथवा 'षिधु गतौ' इति वचनात् सेधन्ति स्म अपुनरावृत्त्या निर्वृतिपुरीमगच्छन्, अथवा 'षिधु संराद्धौ' इति वचनात् सिद्ध्यन्ति स्म निष्ठितार्था भवन्ति स्म। अथवा "षिधूञ् शास्त्रे मांगल्ये च" इति वचनात् सेधन्ति स्म शास्तारोऽभूवन्, मांगल्य-रूपतां चानुभवन्ति स्मेति सिद्धाः। अथवा सिद्धा नित्या अपर्यवसान-स्थितिकत्वात्, प्रख्याता वा भव्यैरुपलब्धगुणसन्दोहत्वात्, आह च,

"ध्मातं सितं येन पुराणकर्म, यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि;
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो, यः सोऽस्तु सिद्धः कृतमंगलो मे"

अतः स सिद्धो नमस्करणीयश्चैषामविप्रणाशिज्ञान-दर्शन-सुख-शक्त्यादिगुणयुक्ततया स्वविषयप्रमोदप्रकर्षोत्पादनेन भव्यानामतीवो-पकारहेतुत्वादिति।

भावार्थ—"आठ प्रकारके कर्मरूपईन्धनको शुक्लध्यानकी आगसे जिसने जला दिया हो वह सिद्ध होता है, अथवा गत्यर्थक 'षिधु' धातुसे सिद्ध अर्थात् अपुनरावृत्ति की अपेक्षा जो निर्वृत्तिपुरीमें पहुंच गए हैं वह सिद्ध हैं; *अथवा निष्पत्यर्थक 'षिधु' धातु द्वारा 'सिद्ध' यानी जिसने अपने अर्थको निष्पन्न* किया है, और जो कृतकृत्य होगया हो, वह सिद्ध है; अथवा शास्त्रार्थक और मांगल्यार्थक 'षिधूञ्' धातुसे 'सिद्ध' यानी जो शासनकर्ता हो, अथवा जो मंगलत्वके स्वरूपका अनुभव कर्ता हो, या जो स्वयं मंगलरूप हो वह 'सिद्ध' है; अथवा नित्य कारण जिनकी स्थिति अविनाशी है, अथवा भव्य जीवोंको *जिनके गुणसमूह उपलब्ध होने से प्रसिद्धि प्राप्त हैं, या जिन्होंने बांधा हुआ* पुराना कर्म जला दिया है, जो निर्वृत्तिरूप महलके शिखरके ऊपर जा पहुंचा है, जो प्रसिद्ध है, अनुशासन करनेवाला है, कृतार्थ है, वह सिद्ध प्रभु हमारे लिए कृत मंगल है नमस्कार करने योग्य है, इसीलिए कि—वे अविनाशी—ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति, आदिकसे युक्त हैं और स्वविषय आनन्दोत्कर्ष के उत्पादक होनेसे भव्य जीवोंके ऊपर अप्रतिम उपकार करने से वे नमन करने योग्य हैं; ।" यद्यपि जीव व्यवहार नयके कारण अपनी आत्माकी प्राप्ति रूप उपरोक्त सिद्धत्व युक्त है, और उसके प्रतिपक्षी कर्मोंके उदयसे असिद्ध है, तथापि निश्चय नयसे अनन्तज्ञान और अनन्तगुण स्वभावका धारक होनेसे सिद्ध है;

ऊर्द्धगामी—

इन कहे हुए गुणोंका धारक जीव स्वभावसे ऊर्ध्वगमनकरनेवाला है, यानी व्यवहारसे चार गतियोंको पैदा करनेवाले कर्मोंके उदयसे ऊंचा, नीचा, तथा तिर्छा गमन करनेवाला है, तथापि निश्चयनयसे केवलज्ञान, आदि अनन्त-गुणोंकी प्राप्ति स्वरूप मोक्षमें चला जानेके कारण स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करने वाला है, इस प्रकार जीवका स्वरूप शुद्ध और अशुद्ध नयकी दृष्टिसे समझाया गयाहै । और अनादि कालसे कर्मोंद्वारा आत्मा स्वयं बंधकर संसारमें रुल रहा है इत्यादि आगमका अर्थ तो प्रसिद्ध ही है । और शुद्ध नय के आश्रित जीवका स्वरूप उपादेय यानी ग्रहण करने योग्य है और बाकी सब हेय है तथा उनके त्रस और स्थावर ये दो भेद हैं ।

त्रस—

त्रस प्राणी वे हैं जो किसी के द्वारा भय, त्रास, और उद्वेग पाकर, या

सताया जाकर अपने बचनेके लिए जो इधर उधर भाग फिर सकते हैं, जिनके दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पांच इन्द्रिय, ये चार प्रकार हैं।

स्थावर–

पृथिवी, पानी, आग, हवा, वनस्पतिके भेदसे पांच स्थावर हैं। ये अपने ऊपर आए हुए संकट से बचनेके लिए उद्यम करनेमें सर्वथा अशक्त हैं, बहुत थोडी समझ है, और जन्म मरण भी अधिक करते रहते हैं, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु के जीव ४८ मिनिट में १२८२४ बार मर कर जन्म लेते हैं, वनस्पतिमें निगोदजीवकी अपेक्षा ६५५३६ बार जन्मते मरते हैं। हमारा एक श्वास मुखसे आता है और वे १७ बार जन्म कर मरते हैं। अतः ये सब स्थावर कहलाते हैं। इन्हीं में भूत सत्व भी हैं यथा–

२–३–४ इन्द्रियवालोंको प्राणी संज्ञक जानना चाहिए। वनस्पतिकी भूत संज्ञा है। पांच इन्द्रिय वालोंको जीव संज्ञक माना है। पृथ्वी, पानी, आग, हवाको सत्व संज्ञासे पहचानते हैं। इन सब जीवोंमें १० द्रव्य प्राण होते हैं। जिनकी गणना इस भांति है।

१० द्रव्य प्राण—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसेंद्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, मन, वचन, काय, आयुके प्रमाण, श्वास उच्छ्वासका लेना छोडना, इत्यादि १० प्राण हैं। यह प्राण धन सब जीवोंको अत्यन्त प्रिय है। जब इन पर मुसीबतका कुल्हाडा बजता है तब उस धनसे मोह एक दम हटा देता है। स्थावरोंमें जीव सिद्धि होनेसे चार्वाकादि का खण्डन हो जाता है। भगवान्ने इन सब जीवोंको द्रव्यकी दृष्टिसे नित्य और पर्याय की दृष्टिसे अनित्य फर्माया है। इसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयके आश्रयसे भी समझाया है। प्रभु स्वयं द्वीप की तरह डूबते हुए संसारी जीवोंको सहायक भूत हैं, और उनका ज्ञान तत्व-पदार्थ का पृथक् ज्ञान करानेके कारण दीपकके समान है। दीपककी तरह स्व-पर स्पष्ट ज्ञान प्रकट हो जाता है। यही भगवान्का धर्म है, जिसे उन्होंने और तीर्थंकरोंकी भांति समता अर्थात् तुलनात्मक दृष्टिसे कहा है। इनका धर्मोपदेश करनेका आशय लोकोंको समभाव-उपशमभाव-अर्हभाव तथा सत्यका स्वरूप समझाकर संसारमें परोपकारिता फैलाना था कुछ अन्य उत्कर्ष प्रकट करनेका उद्देश नहीं ॥ ४ ॥

गुजराती अनुवाद—सुधर्माचार्य वीरप्रभुना गुणोनुं वर्णन करे छे।

सर्वज्ञ प्रभु श्रीवीरभगवाने ऊर्ध्वलोक अधोलोक अने तिर्छालोकना समस्त जीवोनुं स्वरूप आ रीते वर्णवेलुं छे।

जीव-

जो के जीव समूह शुद्ध निश्चय नयथी आदि-मध्य अने अन्त रहित, स्व तथा पर गुण प्रकाशक, उपाधि रहित, अने शुद्ध चैतन्य (ज्ञान) रूप निश्चय प्राणथी जीवित छे। तो पण अशुद्ध निश्चय नये अनादि कर्म बंधना कारणे जे अशुद्ध द्रव्य प्राण अने भाव प्राण छे तेनाथी जीवित रहेवाने कारणे जीव छे।

उपयोगमय-

जो के शुद्ध द्रव्यार्थिक नये जीव परिपूर्ण तथा निर्मल ज्ञान दर्शन मय छे, तो पण अशुद्ध नये क्षायोपशमिक ज्ञान दर्शन युक्त छे, तेथी जीव ज्ञानदर्शनोपयोगमयी छे।

अमूर्त-

व्यवहारनयथी आ जीव मूर्त कर्मोने वश होवा थी स्पर्श-रस-गंध-वर्ण वाळी मूर्तिथी रचित होवाना कारणे मूर्त छे। पण निश्चय नये अमूर्त, इन्द्रियोथी अगोचर शुद्धरूप स्वभावनो धारक होवाथी अमूर्त छे।

कर्ता-

जीव निश्चयनये क्रिया रहित, उपाधिरहित, जाणवानो स्वभावनो धारक छे; पण व्यवहार नये मन-वचन-कायना व्यापारने उत्पन्न करवावाळा कर्मोथी सहित होवाना कारणे शुभाशुभ कर्मनो कर्ता छे।

सदेह परिमाण—जीव निश्चय पूर्वक स्वभावथी उत्पन्न शुद्ध लोकाकाश समान छे, तेमज असंख्य प्रदेशोनो धारक छे, पण शरीर नामकर्मना उदये घडा विगेरे पात्रमां रहेला दीवानी माफक संकोच विकोचमय होवाना कारणे देहप्रमाण रहे छे।

भोक्ता—शुद्ध द्रव्यार्थिक नये जीव रागादि विकल्परूप उपाधिथी रहित छे, तेमज निजात्मथी उत्पन्न अमृतनो भोक्ता छे, पण अशुद्धनये ते सुखरूप अमृत पदार्थोना अभावे शुभकर्मथी उत्पन्न सुख अने अशुभ कर्मथी उत्पन्न दुःखनो भोक्ता छे।

संसारस्थ—संसारमां रहीने पर्याय बदलता रहेवाने कारणे संसारी छे, जो के शुद्ध निश्चय दृष्टिए जीव संसार रहित छे, तेमज नित्य आनंदघनरूप स्वभावनो धारक छे, तो पण अशुद्ध निश्चय नये द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भव ए पांच प्रकारे संसारमां रहे छे, तेथी आत्मा-जीव संसारस्थ पण छे।

सिद्ध—आठ प्रकारना कर्मरूप ईंधणने शुक्लध्याननी आग वडे जेणे बाळी दीधा होय, ते सिद्ध छे; अथवा गत्यर्थक "षिध्" धातु थी सिद्ध अर्थात् अपुनरावृत्तिनी अपेक्षा जे निवृत्ति पुरीमा पहोंची गया छे, ते सिद्ध छे, अथवा निष्पत्यर्थक "षिधु" धातु थी सिद्ध एटले जेणे पोताना अर्थ निष्पन्न कर्या छे, अने जे कृतकृत्य थई गया छे, ते सिद्ध छे, अथवा शास्त्रार्थक तेमज मांगल्यार्थक 'षिधुम्' धातुथी सिद्ध अर्थात् जे शासन कर्ता छे, अथवा जे मंगलरचना स्वरूपना अनुभव कर्ता छे, अथवा जे स्वयं मंगलरूप छे, ते सिद्ध छे; अथवा नित्य होवाना कारणे जेनी स्थिति अविनाशी छे, अथवा भव्य जीवोमां जे गुणसमूह उपलब्ध होवाना कारणे प्रसिद्धि पामेला छे, अथवा जेणे पूर्वे बांधेलां जुनां कर्मो बाळी नाख्या छे, जे निवृत्ति महेलना शिखर पर बिराजे छे, जे प्रसिद्ध छे, शासन कर्ता छे, कृतार्थ छे, ते सिद्ध प्रभु उदासीन रूपेण आपणा मंगलना करनार छे, नमस्कार करवा योग्य छे, एटला माटे के तेओ अविनाशी ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति आदि थी युक्त छे, अने स्वविषय आनन्दोत्कर्ष उत्पादक होवाथी भव्य जीवो पर अप्रतिम उपकार करवाने लीधे नमन करवा योग्य छे, जो के जीव व्यवहार नये पोताना आत्मानी प्राप्तिरूप उपरोक्त सिद्धत्व गुणवाळो छे, ने तेना प्रतिपक्षी कर्मोना उदये असिद्ध छे, तो पण निश्चय नये अनन्तज्ञान अने अनन्तगुण स्वभावनो धारक होवाथी ते सिद्ध छे।

ऊर्ध्वगामी—उपरोक्त गुणो धारण करनार जीव स्वभावथी उर्ध्वगमन करवा वाळो छे, अने व्यवहारे चतुर्गतिमां रखडावनार कर्मोना उदयथी ऊंची, नीची तथा तिरछी दिशामां गमन करवावाळो छे, तो पण निश्चय नये केवलज्ञानादि अनन्त गुणोनी प्राप्ति स्वरूप मोक्षमां जवाना कारणे स्वभावथी ऊर्ध्वगमन करवावाळो छे, आ रीते शुद्ध अने अशुद्ध नये जीवनुं स्वरूप समजावेलुं छे, अनादिकालथी कर्मबंधथी बंधाएलो आत्मा ससारमां रखडीज रह्यो छे, इत्यादि आगमथी प्रसिद्ध छे, शुद्ध नये जीवनुं स्वरूप उपादेय अर्थात् ग्रहण करवा योग्य छे, अने बाकी बीजुं बधुं हेय छे, तेना त्रस अने स्थावर एवा बे भेद छे।

त्रस—कोई पण भय, त्रास, उद्वेग पामीने अथवा सतामणी पामतां पोताना बचाव अर्थे जे अहीं तहीं हरी फरी के भागी शके छे, ते त्रस छे, तेना बेंद्रिय, तेन्द्रिय, चौरिंद्रिय अने पंचेंद्रिय एवा चार भेद छे;

स्थावर—पृथ्वी-पाणी-अग्नि-वायु अने वनस्पति ए पांच स्थावरना भेद छे। तेओ पोतानां पर आवी पडेलां संकटोमांथी बचवानो प्रयत्न करवामां सर्वथा अशक्त छे, घणीज ओछी समजवाला छे, जन्म-मरण घणां करे छे; पृथ्वी-पाणी-अग्नि अने वायुना जीवो ४८ मिनिटमां १२८२४ वार जन्मे छे ने मरे छे, वनस्पतिमां निगोदना जीवो ६५५३६ वार जन्मे मरे छे, एक श्वासोश्वासमां ते एटला भव करे छे, आथी आ बधा स्थावर कहेवाय छे। आ दरेकमां जीव छे, अने ते केवा स्वरूपे छे ते नीचेनी हकीकतथी समजाशे ते तमामने शरीर छे, अने तेना शरीरने मनुष्यना शरीर साथे जुदी जुदी रीते सरखाववामां आवे छे।

पृथ्वीकाय—जेम मनुष्यने घाव वागेलो होय अने घा पडेल होय, ते रुझाता धीमे धीमे भराइ जाय छे, तेम खोदेली खाणो पण स्वयं भराइ जाय छे, जेम उघाडापगे चालनार मनुष्यना पगनुं तळियुं घसाय छे तेम पृथ्वी घसाय छे, तेवीज रीते माणसो-पशुपक्षी तथा वाहनोनी आवजाव थवाथी पृथ्वी पण रोज घसाय छे, ने रोज वधवा पामे छे, जेम बालक वधे छे तेम पर्वत पण धीमे धीमे नित्य वधे छे, माणसने लोढुं पकडवुं होयतो माणसने त्यां जवुं पडे छे, त्यारे लोह चुंबक नामनो पथ्थर पोताने स्थाने रहीने पोतानी चैतन्य शक्ति थी लोढाने पोतानी पासे खेंची ले छे, माणसना पेटमां पथरीनो रोग थाय छे ते सचेत पत्थर होवाथी नित्य वधे छे, माछलीना पेटमां रहेल मोती पण एक जातनो पत्थर छे, अने ते पण नित्य वधे छे, जेम माणसना शरीरमांना हाडकामां जीव होय छे, तेम पत्थरमां पण जीव होय छे।

अपकाय—जेम पक्षीना इंडामां रहेल प्रवाही पदार्थ पंचेन्द्रिय पक्षीना पिंड स्वरूपे छे, तेम पाणीना जीवो पण ते एकेन्द्रिय जीवोना पिंड रूपे छे, मनुष्य तथा तिर्यंच गर्भ अवस्थामां शरूआतमां प्रवाही पाणी रूपे होय छे, तेम पाणीमां पण जीव समजवा, जेम शियाळामां मनुष्यना मुखमांथी वराळ नीकळे छे, तेम कुवाना पाणीमांथी पण वराळ नीकळे छे, जेम शियाळामां मनुष्यनुं शरीर गरम होय छे, तेम शियाळामां कुवानुं पाणी पण गरम होय छे, जेम गरमीमां मनुष्यनुं शरीर शीतळ होय छे, तेम उनाळामां कुवानुं पाणी पण शीतल होय छे,

जेम मनुष्यनी प्रकृतिमां पण शरदी तथा गरमी होय छे, तेम पाणी नी प्रकृतिमां पण शरदी तथा गरमी होय छे, जेम मनुष्यनुं शरीर शियाळामा अकडाइ जाय छे, तेम शियाळामां तळावनुं पाणी पण अकडाई जइने बरफ बने [redacted], जेम मनुष्य बाल्यावस्था, युवावस्थाने वृद्धावस्था जेवा नवां रूप धारण करे छे, तेम पाणी पण बराळ-बरफ ने वरसाद आदि रूप धारण करे छे, जेम मनुष्यनो देह माताना गर्भमां पाके छे, तेम पाणी पण छ मास वादळामां गर्भ रूपे पाकीने वर्षानुं रूप धारण करे छे, जेम मनुष्यनो काचो गर्भ कोईक वार गळी जाय छे, तेम पाणीनो पण काचो गर्भ गळी जाय छे, जेने करा पड्या कहेवाय छे;

तेजस्काय—जेम मनुष्य श्वासोश्वास सिवाय जीवी न शके, तेम अग्नि पण श्वासोश्वास सिवाय जीवी शकतो नथी, जेम तावमां मनुष्यनुं शरीर गरम रहे छे, तेम अग्निना जीवो पण गरम होय छे, मरण पामवाथी मनुष्यनुं शरीर टंडु पडी जाय छे, तेम अग्निना जीवो पण मरी जवा थी ठंडा पडी जाय छे, जेम आगीयाना शरीरमां प्रकाश होय छे, तेम अग्निना जीवोमां पण प्रकाश होय छे, जेम माणस चाले छे, तेम अग्नि पण चाले छे, एटले अग्नि फेलाइने ते आगळ वधतो जाय छे, जेम मनुष्य ऑक्सीजन [प्राणवायु] हवा ले छे, ने कार्बन [विषवायु] बहार काढे छे, तेम अग्नि पण ऑक्सीजन हवा लइने कार्बन हवा बहार काढे छे ।

वायुकाय—हवा हजारो गाऊ सुधी स्वतन्त्र रीते चाली शके छे, हवा पोताना चैतन्य बळथी मोटा विशाळ वृक्ष तथा मोटा महेलोने पाडी नाखे छे, हवा पोतानुं शरीर नानामांथी मोटुं बनावे छे, वर्तमानकाळमां विज्ञानिओए शोध करी छे, के हवामां थेकसस नामनां सूक्ष्म जंतुओ उडे छे जे ते एटला सूक्ष्म छे के, सोयनी अणी जेटला भागमां एक लाख जंतुओ सुखेथी आराम पूर्वक बेसी शके छे ।

वनस्पति काय—मनुष्यनो जन्म माताना गर्भमां रह्या पछी थाय छे, तेम वनस्पतिना जीवो पण पृथ्वीमाताना गर्भमां अमुक समय रह्या पछी बहार नीकळे छे, जेम मनुष्यनुं शरीर नित्य वधे छे, तेम वनस्पतिनुं शरीर पण नित्य वधे छे, जेम मनुष्य बाळावस्था-युवावस्था ने वृद्धावस्था भोगवे छे, तेम त्रणे अवस्था वनस्पति पण भोगवे छे, जेम मनुष्यना शरीरने कापवाथी लोही नीकळे छे, तेम वनस्पतिना शरीरने कापवाथी तेमांथी प्रवाही पदार्थ विविध रंगना नीकळे छे,

जेम खोराक मळवाथी मनुष्यनुं शरीर पुष्ट थाय छे, अने न मळवाथी मुरझाई जाय छे, तेम वनस्पति पण खातर तथा पाणीनो खोराक मळवाथी ते विकास पामे छे, अने तेना अभावे ते मुरझाई जाय छे, जेम मनुष्य श्वास ले छे, तेम वनस्पति पण श्वास ले छे, दिवसे कार्बन हवा लईने रात्रे वनस्पति ऑक्सीजन हवा बाहर काढे छे, जेम केटलाक मनुष्यो मांसाहारी होय छे, तेम वनस्पति पण माखी-पतंग आदि नाना जीवोना सत्वने पोताना पांदडा वती चुसी ले छे, या खातर अने हवा द्वारा मांसाहार करे छे, चन्द्रमुखी पुष्प चन्द्रमानी सामे ने सूर्यमुखी पुष्प सूर्यनी सामे खीले छे, अने तेमना अस्त थवाथी बीडाई जाय छे।

तेमां भूत-सत्व पण छे, जेमके बे-त्रण-चार इन्द्रियवाळा जीवो प्राणी कहे-वाय छे, वनस्पतिने भूत, पांच इंद्रियवालाने 'जीव,' अने पृथ्वी-पाणी-अग्नि-वायुने 'सत्व' कहे छे, ए बधा जीवोमां १० द्रव्य प्राण होय छे, जेनी गणतरी नीचे मुजब नी छे।

पांच इन्द्रिय, मन, वचन, काय, आयुष्य, श्वासोश्वास, ए दश प्राण छे, आ प्राणधन सर्व जीवोने अत्यन्त प्रिय छे।

स्थावरोमां जीव होवानुं साबित थवाना पुष्ट कारणे चार्वाक-नास्तिक आदिनुं खंडन थई जाय छे, आ सर्व जीवो द्रव्य दृष्टिए नित्य अने पर्याय दृष्टिए अनित्य छे, एम महावीर भगवाने फरमावेलुं छे, प्रभु पोते बेट समान डूबता संसारी जीवोने सहायक छे, तेमज तेमनुं ज्ञान तत्वनो निर्णय करावबाने कारणे दीपक समान छे, दीपक समान स्वरूप-पररूपनुं ज्ञान प्रगट थई जाय छे, आ भगवान्नो धर्म छे, के जे तेओए तुलनात्मक दृष्टि थी कहेलो छे। धर्मोपदेश करवानो तेमनो उद्देश लोकोने समभाव-शान्ति-अहिंसा-सत्यनुं स्वरूप समजावीने परोपकार कर-वानो हतो, पण पोतानो उत्कर्ष प्रगट करवानो न हतो ॥ ४ ॥

मूल

से सव्वदंसी अभिभूय नाणी,
णिरामगंधे धिइमं ठियप्पा;
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं,
गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥ ५ ॥

संस्कृतच्छाया

स सर्वदर्शी अभिभूय ज्ञानी, निरामगन्धो धृतिमान् स्थितात्मा।
अनुत्तरः सर्वजगति विद्वान्, ग्रन्थादतीतोऽभयोऽनायुः ॥ ५ ॥

सं० टीका—स ज्ञातपुत्रमहावीरो भगवान् सर्वदर्शी समासीत्, किं कृत्वा, अभिभूय=यावद्द्वाविंशतिपरिषहान् तिरस्कृत्य पराजयं कृत्वेति। पुनः केवलाख्यं ज्ञानमस्यास्तीति सः। "अत इनिठनौ।" परतीर्थाधिपाधिकत्वमावेदितमित्यनेन॥ अथ ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष इति तस्य भगवतो ज्ञानं प्रदर्श्य क्रियां दर्शयितुमाह॥ निर्गतोऽपगत आमो विशोधिकोटिरूपो गन्धो यस्मात् सोऽस्ति निरामगन्धो=मूलोत्तरगुणसमन्वितां चरित्रक्रियां कृतवान् इति। धृतिमान् स्थैर्यसम्पन्नो निश्चलतया चरित्राराधकः। स्थितात्मा=निर्मलात्मा शुक्लध्यानीति, यावदथवा स्थित्यात्मा मर्यादान्वितात्मा, यथा "संस्थातुं मर्यादा धारणा स्थितिरित्यमरः।" अशेषकर्मविगमात्स्थितो व्यवस्थित आत्मा यस्य स स्थितात्मा। परिणामद्वारेण विशेषणं ज्ञानक्रिययोरेतदेवेति भावः। अनुत्तर=उत्कृष्टः श्रेष्ठो नास्मादुत्तरं प्रधानं सर्वस्मिन्नपि जगति विद्यते सोऽनुत्तरः। "अनुत्तर एषां विपर्यये श्रेष्ठ इत्यमरः"। विद्वान्=सर्वहेयोपादेयज्ञेयपदार्थवेत्ता, सकलद्रव्याणां करतलामलकवत्प्रत्यक्षदर्शीति भावः। "विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन्सुधीः कोविदो बुधः, धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञ, इत्यमरः"। ग्रन्थादतीतो=ऽन्तर्बाह्यपरिग्रहग्रंथादतीतो रहितः, अथवा कर्मरूपाद्ग्रन्थादतिक्रान्तो रहितो निर्ग्रन्थ इत्यर्थः। प्रवृत्तिभावेऽथवा कर्मपर्वणोऽतीत इत्याशयः। "ग्रन्थिनी पर्वपरुषी इत्यमरः"। अभयः=सप्त प्रकारकं भयं न विद्यते यस्यासावभयो भीतिरहितः। "दरस्त्रासो भीतिर्भीः साध्वसं भयमित्यमरः"। अनायुः=नारकतिर्यङ्नृसुरायुरहितत्वात्। दग्धकर्मबीजत्वेन पुनरु-

त्पादस्याभावाच्चेत्यर्थः । "दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, नारोहति भवांकुर इति" ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—[से] वह [सव्वदंसी] सब कुछ देखनेवाले भगवान् [अभिभूय] क्षायोपशमिक ज्ञानोंको जीतकर [नाणी] केवलज्ञान संयुक्त, [णिरामगंधे] निर्दोष चारित्र पालनेवाले [धिइमं] धीरता समन्वित [ठिअप्पा] अपने आत्म-स्वरूपमें स्थिर-लय [सव्वजगंसि] अखिल विश्वमें [अणुत्तरे] सबसे उत्कृष्ट [विज्जं] पदार्थोंके जाननेवाले सर्वज्ञ-सर्वविषयज्ञ [गंथा] परिग्रह-ग्रन्थीसे [अतीते] रहित [अभए] सात भयोंसे रहित [अणाउ] और आयु रहित थे ॥ ५ ॥

भावार्थ—भगवान महावीर स्वामी सामान्यरूपसे पदार्थोंके जाननेवाले तथा मति-श्रुति-अवधि और मन-पर्यव इन चार क्षयोपशमजन्य ज्ञानोंको खपा-कर केवलज्ञानसमुत्पन्न थे; और उन्होंने यह भी बताया कि-ज्ञान और चरित्रसे ही मोक्ष होताहै अत. प्रभुके ज्ञानका वर्णन करके चरित्रका वर्णन करते हैं। भग-वान्ने मूलगुण और उत्तरगुणोंका पूर्णतासे पालन किया तथा अनेक विघ्न बाधा और परिषह पड़नेपर भी स्वचरित्रमें निश्चल रहे। भगवान् तीनों लोकमें सबसे श्रेष्ठ विद्वान् परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ और सातभयसे रहित तथा सब कर्मोंसे मुक्त थे ॥५॥

भाषा-टीका—प्रभु २२ परिषह और शारीरिक मानसिक कष्ट तथा रागा-दिक एवं ज्ञानावरणीयादिक आन्तरिक शत्रुओंको जीत कर केवल ज्ञानी होगए। आपने ज्ञानको प्रमुख पद देकर संसारको क्रियाका भी भान कराया। और यह सिद्ध कर दिखाया कि ज्ञान और क्रिया इन दोनोंका आश्रय लेनेसे मोक्ष है। अतः ये स्वयं आमगन्ध—मूल गुण और उत्तर गुणरूपी दोषोंसे रहित थे। आपने धीरतासे चरित्रका पालन किया, आत्माको शुक्लध्यानमें स्थिर किया। कर्मोंका सर्वथा नाश करनेके लिए नियतात्मा होकर स्थित रहे, स्थिरता उनका प्रधान गुणथा। और ब्रह्मज्ञान—पाकर हाथ पर धरे आमलेकी तरह सब चरा-चरको जान लिया। क्योंकि अन्तर और बाह्य परिग्रहसे रहित होकर कर्म ग्रन्थिका सर्वथा भेदनकर चुके थे अतःआप निर्ग्रन्थ थे। यही कारण है कि बौद्धादिक आपको अब तक भी निग्गण्ठके नामसे स्मरणमें रखते हैं। आप स्वयं अभय रहकर औरोंको निर्भय बनानेके अर्थ उपदेश देते और लोगोंमें

सच्चा वीर रस पैदा करते । देव, मनुष्य, पशु और नरकके आयुके लम्बे तारोंको तोड फोड कर नष्ट कर दिया । क्योंकि जब बीजको सेक भून दिया जाता है तब उसे बोया भी जाय तब भी वह अंकुर नहीं देता अर्थात् उसकी सृष्टि अगाडी नहीं बढती, इसी प्रकार कर्मबीज नष्ट होने पर संसारका अंकुर अर्थात् जन्म और मरण नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

गुजराती अनुवाद—२२ परिषह, शारीरिक तथा मानसिक कष्ट, रागादिक तथा ज्ञानावरणीयादिक आन्तरिक शत्रुओने जीतीने प्रभु केवलज्ञानी थया, अने ज्ञानने प्रमुख पद आपीने संसारने क्रियानुं पण भान कराव्युं, अने सिद्ध करी बताव्युं के ज्ञान अने क्रियाथी मोक्ष छे, मूल तथा उत्तरगुणे दोष रहित संयमना पाळनारा, धैर्यवान्, सर्व कर्म नाश थवाथी स्थित आत्मवान्, सर्व जगत्ने विषे प्रधान ज्ञानवान्, बाह्य अने अभ्यन्तर परिग्रह रहित तेमज कर्मग्रन्थीनो सर्वथा नाश करवाथी निर्ग्रन्थ थया आ कारणे बौद्धादिक आपनुं 'निग्गंठ' (निर्ग्रन्थ) एवा नामथी स्मरण करे छे, आप सात भय रहित थया, अने बीजाओने निर्भय बनाववाने माटे उपदेश देता, अने लोकोमां साचो वीर रस पेदा करता, चार गतिना आयुष्य रहित ज्ञातपुत्र श्रीमहावीर देव हता, कारणके ज्यारे बीजने शेकी नाखवामां आवे त्यारे तेने वाववामां आवे तो पण ते उगतुं नथी, आ रीते कर्मबीजनो नाश थई जवाथी संसारना अंकुर जन्म-मरण नाश पामी जाय छे ।

मूल

से भूइपन्ने अणिए अचारी,
ओहंतरे धीरे अणंतचक्खु ।
अणुत्तरे तप्पइ सूरिए वा,
वइरोइणिंदे व तमं पगासे ॥ ६ ॥

संस्कृतच्छाया

स भूतिप्रज्ञोऽनियतचारी, ओघंतरो धीरोऽनन्तचक्षुः ।
अनुत्तरं तपति सूर्य इव, वैरोचनेन्द्र इव तमः प्रकाशः ॥ ६ ॥

सं० टीका—'से इति' । भूति शब्दो वृद्धौ, सम्पदि, ऐश्वर्ये, भस्मनि वर्तते, भूतिप्रज्ञस्तत्र प्रवृद्धज्ञानोऽनन्तज्ञानवानिति, तथा च भूतौ भस्मनि कर्म्मणां भस्मसात्करण इत्यर्थः कर्मक्षय इति यावत् प्रज्ञा यस्य स भूतिप्रज्ञः, तथा समग्रात्मैश्वर्योदयवान् च । "भूतिर्भस्मनि सम्पदि, इत्यमरः" । पुनस्तथा भूतिप्रज्ञो जगद्रक्षाविषयको भूतिप्रज्ञः । सर्वमंगलभूतिप्रज्ञ इत्यपि; । अनियतचारी=अप्रतिबन्ध-विहरमाणत्वात्, वायुरिवेतिभावः । ओघं संसारं तरीतुं शीलमस्येति ओघतरः । उत्पादव्ययोः ओघं परम्परां तरतीति सः । "ओघो वेगे जलस्य च । वृन्दे परम्परायां च, द्रुतनृत्योपदेशयोरिति" मेदिनी । अथवा कर्म्मणामोघः समूहस्तं तरतीति सः । "ओघो वृन्देऽम्भसां रय इत्यमरः" । धीर्बुद्धिस्तया राजत इति धीरः,=परिषहोपसर्गेऽक्षोभ्यो दृढो वेति धीरः । "धीरोमनीषी ज्ञः प्राज्ञ इत्यमरः ।" अनन्तत्वा-च्चक्षुर्ज्ञानं तत्केवलज्ञानमेव तदेव चक्षुर्भूतः सोऽनन्तचक्षुरिति । यथार्कः सूर्योऽनुत्तरमुत्कृष्टं सर्वतोऽधिकं तपति न तस्मादधिकस्तापे कश्च-नास्ति, तथैव भगवानपि ज्ञानेन सर्वोत्कृष्टः । पुनः कथंभूतो हि सूर्यो, विशेषेण रोचनो दीप्तिमान्, प्रकाशकाधिकत्वात्, इन्द्रोऽसौ यथा तमोऽपनीय-दूरीकृत्य प्रकाशयति, एवमसावपि भगवानज्ञानत-मोऽपहृत्य यथावस्थितपदार्थान्प्रकाशयतीत्यर्थः । 'विरोचन इत्यत्र स्वार्थेऽणि, वैरोचनः सूर्य्योऽथवाग्निरिव कर्मेन्धनं ज्वालयित्वा अकर्मकः परिशुद्धो जात इत्यपि । "विरोचनः प्रह्लादस्य तनयेऽर्केऽग्निचन्द्र-योरिति मेदिनी ।" विरोचनो रविरेवेति बहुमतम्, यथा—"तरणि स्तपनो भानुर्ब्रध्नः पूषार्य्यमा रविः, तिग्मः पतंगो द्युमणिर्मार्तण्डोऽर्को महाधिपः इनः सूर्य्यस्तमोध्वांतत्तिमिरारिर्विरोचनः । इति धनञ्जय-

ममालायाम्" । "शुमणिस्तरणिर्मित्रश्चित्रभानुर्विरोचन इत्यमरः" विरोचन एव वैरोचनः सूर्यः । स इव प्रकाशोऽतिप्रसिद्धो, जगद्विख्यातो ज्ञातपुत्र—महावीरप्रभुरित्यर्थः । "प्रकाशोऽतिप्रसिद्धेऽपीत्यमरः" । अथवा सः प्रभुर्ज्ञानातपने महान् इति । "प्रकाशोद्योत आतप इत्यमरः ।" ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—[से] वे भगवान् [भूइपण्णे] अनन्त बुद्धिमान् [अणिए अचारी] विचरते समय प्रतिबन्ध रहित [ओहंतरे] संसार समुद्रसे पार होनेवाले [धीरे] धैर्यवान् [अणंतचक्खु] अनन्तज्ञानवान् [अणुत्तरे] सबसे अधिक पवित्र-श्रेष्ठ [तप्पति] तपश्चरण करनेवाले [सूरिए व] सूर्यके समान तथा [वइरोयणिंदे व] वैरोचन नामक अग्नि के सदृश [तमं] अज्ञानान्धकारको नष्ट करके [पगासे] ज्ञानद्वारा तत्वोंको प्रकाशित करते थे ॥ ६ ॥

भावार्थ—भगवान् महावीरकी प्रज्ञा संसारका मंगल कल्याण एवं रक्षा करनेवाली थी, उनका भ्रमण अप्रतिबद्ध था, क्योंकि वे सर्वथा परिग्रहसे रहित थे, उनका चरित्र संसार समुद्रसे पार करनेवाला था, परिषह-शत्रुओंका आक्रमण समान भावसे सहन करते थे, इसीसे धीर एवं धी-बुद्धिसे राजित-शोभित थे, अनन्त ज्ञेय पदार्थोंके ज्ञाता थे, इसीकारण अनन्त ज्ञान सहित थे, विश्वमें सबसे अधिक तप करते थे, और जिसप्रकार सूर्य अन्धकारको नष्ट करता है अथवा वैरोचन नामक अग्निके जलनेसे अन्धकार या काष्ठका नाश होता है उसी प्रकार महावीर भगवान् भी अज्ञान अन्धकार या कर्मकाष्ठके नाशक थे ॥ ६ ॥

भाषा-टीका—वीर भगवान्का ज्ञान चौथी भूमिकासे बढ़कर अनन्त-वृद्धिको प्राप्त होगया । यह अनन्तज्ञानमय ऐश्वर्य सर्वथा घातिया कर्म्म क्षयकरनेपर ही मिला । तब संसारके लिए आप मंगलभूत और रक्षक बने तथा आपका वायुकी समान अप्रतिबद्ध विचरणथा । आपने संसारके समुद्रको पार किया । उपदेश दान देकर जीवोंको भी जन्म मरणसे मुक्त कर दिया, जिससे कहा जा सकता है कि—कर्मके समीपसे आप पार हुए । परिषह और उपसर्ग सहते समय किसी प्रकारका क्षोभ न होनेसे आप धीर थे । इसीके बाद आप अनन्त चक्षुवाले कहलाए । जिस तरह सूर्य उत्कृष्ट तापसे तपता है

उसी तरह महावीर भगवान्भी ज्ञानकी अनन्तताकी अपेक्षा सर्व्वोत्कृष्ट थे। उस ज्ञानसे भगवान् जनताके अज्ञानांधकारको अपहरण करके यथार्थ रीतिसे ज्ञानका आविर्भाव-प्रकट करनेवालोंमेंसे थे । प्रभुने अग्निकी तरह कर्म रूप इंधनको भी जलाकर अनन्त संसारकी अज्ञान आत्माओंको प्रकट रीतिसे परिशुद्ध किया। और सूर्यकी सदृश भगवान् महावीर-प्रभु अखिल विश्वमें अद्वितीय प्रसिद्धि प्राप्त महापुरुष थे। अधिकतर संसारमें उनदिनों प्रभुकी ज्ञान-क्रान्ति ही सब ओर चमक रही थी ॥ ६ ॥

गुजराती अनुवाद—वीर परमात्मानुं ज्ञान चोथी भूमिकाथी वधीने अनन्तताने प्राप्त थयुं, कर्मोनो क्षय थवाथी भगवान् अनन्तज्ञानवाळा थया, त्यारे संसारना मंगळ समान तेमज रक्षक तेओ थया, वायु समान अप्रतिबंध विहारी, संसार समुद्रने तारनार भगवान् हता, भीवाओने उपदेश दान करीने जन्म मरणथी मुक्त करावनार हता, परिषह तेमज उपसर्ग सहती वखते आपने कोई पण प्रकारनो क्षोभ न थवाना कारणे धीरजवान्, अनन्तज्ञानरूप चक्षुवाळा, तथा सूर्य जेम सर्वथी अधिक तपे छे, तेम प्रभु ज्ञाने करी सर्वोत्तम छे, विरोचन अग्नि जेम मळगवाथी प्रकाश करे तथा इन्द्रनी पेठे अन्धकारने दूर करी प्रकाश करे छे, तेम श्रीमहावीर देव पण अज्ञानरूप अन्धकार दूर करी प्रकाश करे छे, अग्निनी माफक कर्मरूप इंधणने बाळी अनन्त संसारना अज्ञान आत्माओने प्रगट रीते परिशुद्ध कर्या, अने सूर्यनी पेठे प्रभु अखिल विश्वमां अद्वितीय प्रसिद्धिने पामेल महापुरुष हता, ते दिवसोमां प्रभुनी ज्ञान-क्रान्ति अधिकतर प्रकाशती हती ॥ ६ ॥

मूल

अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं,
णेया मुणी कासव आसुपण्णे;
इंदेव देवाण महाणुभावे,
सहस्सणेता दिवि णं विसिट्ठे ॥ ७ ॥

संस्कृतच्छाया

अनुत्तरं धर्म्ममिमं जिनानां, नेता मुनिः काश्यप आशुप्रज्ञः ।
इन्द्र इव देवानां महानुभावः सहस्रनेता दिवि विशिष्टः ॥ ७ ॥

सं० टीका—अनुत्तरं० इति—अनुत्तरमुत्कृष्टं प्रधानं धर्मं जैनानामृषभादितीर्थकृतां सम्बन्ध्ययं 'मुनिः, 'मनेरुच्चेत्युणादिसूत्रेण त्यये कृते चोपधोत्वे जाते 'मुनि'रिति सिद्धं, परन्त्वत्र लघूपधगुणाशः प्राप्तस्तथापि तपरोच्चारणासामर्थ्यात् किदित्यनुवर्तनाच्च न भवतीति भावः' । "वाचं यमो मुनिरित्यमरः" । "मुनिर्भिक्षुश्च संयमीति, लेपः" । श्रीज्ञातृपुत्रमहावीराख्यः सुमुनिः, काश्यपो=गोत्रेण, आशुप्रज्ञः=केवलज्ञानी उत्पन्नदिव्यज्ञान इत्यर्थः । नेता,=प्रणेता चतुर्विधस्य धस्य धर्मप्रणेता, चतुष्प्रकारधर्मोपदेष्टा दानशीलतपोभावभेदाद्वा । अथवा साधुसाध्वीश्राद्धश्राविकारूपचतुर्विधसंघस्य प्रभुत्वादपि नेता=यकः । ताच्छीलिकस्तृन् । "अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृढोऽधिपः" इत्यमरः । धर्ममित्यत्र कर्म्मणि द्वितीयैव । ताच्छीलिकस्तृन् योगे 'न लोकाव्ययनिष्ठेत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् । यथेन्द्रो दिवि=देवलोके=स्वर्गे महानुभावो महाप्रभावः । एवमेव याथातथ्येन सम्यक्प्रकारेण अखिलद्रव्यपदार्थनिश्चयकर्ता महावीर इति । "अनुभावः प्रभावे च सतां च मतिनिश्चय इत्यमरः" । प्राकृतशैल्या णमिति वाक्यालंकारार्थे । सहस्रनेत्रो=विलक्षणसहस्रनयनयुक्तोऽसाविन्द्रः । विशिष्टो रूपबलवर्णादिकैर्विशिष्टो युक्तो हि प्रधानस्तथैव भगवानपि सर्व्वेभ्योऽपि विशिष्टः नायको महानुभावश्चेति सर्वं पूर्ववृत्तान्तं संयोज्यमिति भावः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—[जिणाणं] जिन भगवान्के [इणं] इस [अणुत्तरं] सर्व श्रेष्ठ [धम्मं] धर्मके [णेया] नेता [मुणि] मुनि [कासव] काश्यपगोत्रीय [महाणुभावे] महाप्रभावशाली भगवान् महावीर [दिवि] स्वर्गमें [सहस्स] हजारों [देवाण] देव समूहके [इंदे व] इन्द्रके समान [विसिट्ठे] रूप और गुण आदिमें सबसे उत्तम और प्रधान [णेता] नेता अर्थात् संपूर्ण ज्ञानयुक्त ईश्वर थे ॥ ७ ॥

आत्माने माटे उचत मार्ग बतावनार हता, ते धर्म ऋषभादि २३ तीर्थंकरोए बतावेल धर्मथी भिन्न न हतो, देश कालने अनुसार संशोधन अवश्य करेलुं हतुं, पण तेओ जैनधर्मना आदि प्रवर्तक न हता, ते प्रभु काश्यप गोत्रीय क्षत्रियोमांनी विमल विभूति हता, दिव्य ज्ञान प्राप्त करीने चतुर्विध संघने धर्म पथ बतावनार होवाथी तेओ नेता पण हता, कारणके संघने तेओएज ज्ञान-दर्शन-चारित्र-अहिंसा-सत्य-तप-त्याग-संयमादिमां प्रवृत्त कर्यो हतो, संसारना कल्याणार्थे तेओए संघने दान-शील-तप-भाव एम धर्मना चार भेद बताव्या, साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप संघनी स्थापना करीने तेओए तेमने संगठननी परम शक्तिनुं तत्त्व बताव्युं हतुं, देवलोकने विषे इन्द्र जेम देवोमां महाप्रभावान्, हजारो देवोनो नायक अने सर्वोत्तम छे, तेम पदार्थ विज्ञाननो निश्चय प्रगट करवावाळा तत्त्ववेत्ताओमां महावीरप्रभु ऐश्वर्यशाळी हता, संसार अने मोक्ष तेमज सारभूत तत्त्वोने प्रगट करवामां प्रखर प्रकाशक हता। सात तत्त्व-नव पदार्थ आदि महान् तेमज गंभीर पदार्थोनो सरळ आशय निपुणताथी जनतामां तेओए प्रगट कर्यो हतो। जे तरफ इन्द्रनी दृष्टि रहे छे, तेज तरफ तेना ५०० प्रधानोनी नजर पण रहे छे, तेज रीते अनेकान्त पर तेओनी दृष्टि हती। तेज मार्गनुं संसारे पण अनुसरण कर्युं। जेथी तेओ पण सहस्रनेत्र गणाया। रूप-बल-वर्ण-वीर्य विगेरेमां तेओ सर्वोत्तम हता। मुनिगणरूपी ताराओमां तेओ मुनिचन्द्ररूप ईश्वर हता ॥ ७ ॥

मूल

से पन्नया अक्खयसागरे वा,
महोदही वा वि अणंतपारे।
अणाइले वा अकसायी मुक्के,
सक्केव देवाहिवई जुईमं ॥ ८ ॥

संस्कृतच्छाया

स प्रज्ञयाऽक्षयसागरो वा, महोदधिरिव अनन्तपारः।
अनाविलो वा अकषायी मुक्तः, शक्र इव देवाधिपतिर्द्युतिमान् ॥८॥

सं० टीका—स इति, पुनरसौ भगवान् प्रज्ञयाऽक्षयोऽक्षीणज्ञानः, प्रज्ञायते अनयेति प्रज्ञा तयाऽक्षयो, ज्ञातव्येऽर्थे तस्य बुद्धिर्न प्रक्षीयते

न प्रतिहन्यते चेति, "बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञेत्यमरः" । अथवा तस्य बुद्धि केवलज्ञानाख्या सा साधनन्ता–साद्यपर्यवसाना कालतो, द्रव्यक्षेत्रभावापेक्षयाऽप्यनन्ता तयाऽक्षयः, यथा सागरो महोदधिः स्वयंभूरमणः समुद्रः स इवानन्तपारः । यथासौ विस्तीर्णो गंभीरजलोऽक्षोभ्यस्तथैव तस्य भगवतो विस्तीर्णा प्रज्ञाऽनन्तप्रज्ञा, स्वयंभूरमणसमुद्रादनन्तगुणितो गंभीरोऽक्षोभ्यश्च, अनाविलोऽकलुषजलः, "कलुषोऽनच्छ आविल इत्यमरः" । नाविलोऽनाविलो निर्मलस्तथैव कर्मलेशाभावादकलुषज्ञानो निर्मलज्ञान इति । न कषायी-अकषायी ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धनवियुक्तत्वात् । मुक्तःकर्मरहितोऽपुनरावृत्तिं प्राप्तः । सर्वलोके पूज्यत्वेऽपि, निश्शेषान्तरायक्षयेऽपि निरवद्यभिक्षामात्रोपजीवित्वाद्भिक्षुः । पुनश्च स ज्ञातृपुत्रीयो महावीरो भगवान् दीप्तिमान्, शक्र इव देवाधिपतिरिव कान्तिमानिति, "शक्र इन्द्रः सुनासीरः शतक्रतुरिति धनञ्जयः" । "जिष्णुर्लेखर्षभः शक्र इत्यमरः" ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—[वे] वे भगवान् महावीर [पन्नया] बुद्धिकी अपेक्षा अनन्तपारवाले तथा [अणाइले] पवित्र जलसे भरपूर [महोदहीवावि] स्वयम्भूरमण समुद्रकी तरह [अक्खयसागरे] अक्षीण समुद्र थे तथा [अकसाइ] चार कषायसे रहित [मुक्के] आठ कर्मोंसे रहित [देवाहिवइ] असंख्य देवोंके अधिपति [सक्के] इन्द्रकी तरह [जुईमं] दीप्तिमान्-चमकीले थे ॥ ८ ॥

भावार्थ—भगवानको किसी अन्य पदार्थसे उपमा न दी जा सकनेके कारण समुद्रसे हि एक देशीय उपमा दी गई है । अर्थात् जिसप्रकार स्वयंभूरमणसमुद्र अनन्तपार युक्त है उसी प्रकार भगवान् भी द्रव्य क्षेत्र-काल और भावकी अपेक्षा अनन्त ज्ञानवान् थे, समुद्रके निर्मल जलके समान उनका ज्ञान भी स्पष्ट और आवरण रहित था, इसी प्रकार कषायसे रहित तथा आठ कर्मोंके बंधसे मुक्त थे, जैसे इन्द्रका प्रभाव देवोंपर होताहै उसी प्रकार प्रभुका प्रभाव भी प्राणीमात्र पर था ॥ ८ ॥

भाषा-टीका—प्रभुका ज्ञान कोष अक्षय था, क्योंकि उनकी बुद्धि भी केवलज्ञानरूपा थी। जो कि आदि-अनन्त थी। जिसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी पूर्ण अनन्तता थी। विस्तीर्ण और स्वच्छ तथा गंभीर स्वयम्भूरमण समुद्र की सदृश प्रभु गंभीर तथा अक्षोभ्य और पवित्र गुणोंमें उससे भी अनन्तगुण अधिक थे। आपका अनुभव, विचार तथा ज्ञान जल अनाविल-यानी कालुष्यता-पूर्वापर विरोधरहित था, जिसमें कर्म मलका लेश कोई खोजेसे भी न पा सके। ज्ञानावरणीयादिक आठ कर्म-बन्धनसे रहित होनेके कारण आपमें कषाय कहां हो। इसीसे आप जीवन मुक्त थे। आप तीनो लोकोंके पूज्य होने पर भी निरवद्य भिक्षा लेवे। आप शूरवीर शक्रेन्द्रकी तरह द्युतिमान् और प्रतापी-महापुरुष थे। और यह बात विश्व विख्यात थी ॥ ८ ॥

गुजराती अनुवाद—प्रभुनो ज्ञान भण्डार अखूट हतो, कारणके तेमनी बुद्धि पण केवलज्ञान रूपे हती, जे सादि-अनन्त हती। जेम स्वयंभूरमण नामे मोटो समुद्र अनन्त-अपार अने निर्मल जलवाळो छे, तेमज प्रभु गंभीर-अक्षोभ्य-अने पवित्र गुणोमां तेनाथी पण अनन्तगणा अधिक हता। तेओनुं अनुभव-विचार तथा ज्ञान जल अत्यन्त निर्मल हतुं। शोधवा छतां पण कर्मरूप मेल तेमां मळी शके नहि। ज्ञानावरणीयादिक कर्मबन्धनथी रहित थयाने कारणे तेओ अकषायी=कषाय रहित हता। तेथी आप जीवन्मुक्त हता, त्रिलोक पूज्य होवा छतां आप निरवद्य भिक्षाए आजीविका करनार हता। देवोना स्वामी शक्रेन्द्रनी पेठे तेओ तेजस्वी तथा अनन्त प्रतापी अने महापुरुष हता ॥ ८ ॥

मूल

से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए,
सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे।
सुरालएवासि मुदागरे से,
विरायए णेगगुणोववेए ॥ ९ ॥

संस्कृतच्छाया

स वीर्येण प्रतिपूर्णवीर्यः, सुदर्शन इव नगसर्वश्रेष्ठः।
सुरालयवासिमुदाकरः स, विराजतेऽनेकगुणोपपेतः ॥ ९ ॥

सं० टीका—स इति, वीर्यान्तरायस्य निःशेषतः क्षीणत्वात् स भगवान् वीरो वीर्येणौरसेन धृतसंहननादिबलेन प्रतिपूर्णवीर्यः, अनन्तशक्तिमानित्यर्थः । अथवोत्कर्षवत्तया प्रतिपूर्णप्रभाववान् अथवा सर्वशक्तिमान् । "सवीर्यमतिशक्तिभाक्" इति । "वीर्यं बले प्रभावे चेत्यमरः" । नगानां पर्वतानां मध्ये यथा, "शैलवृक्षौ नगावगावित्यमरः" "नगः शिलोच्चयोऽद्रिश्च शिखरीति धनंजयः" । सुदर्शनो मेरुः केवलकल्प्यजंम्बूद्वीपमध्ये श्रेष्ठस्तथैव गुणैर्भगवान् श्रेष्ठः । यथा सुरालयः स्वर्गस्तन्निवासिनां देवानां मुदाकरो हर्षकर आनन्दजनको मनोऽनोकूलवर्णगंधरसस्पर्शप्रभावादिगुणै राजते । एवं भगवानप्यनन्तगुणैः शोभते, विराजतेऽनेकैर्गुणैरुपेतो भगवान् वीर इति ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—[से] वे भगवान् [वीरिएण] बल-वीर्यसे [पडिपुण्णवीरिए] प्रतिपूर्ण शक्तिवाले थे, तथा [वा] जिसप्रकार [सुदंसणे] सुमेरु पर्वत [णगसव्वसेट्ठे] सब पहाडोंमें अवलोकनीय और महान् एवं श्रेष्ठ है, उसी प्रकार महावीर प्रभु भी सर्वश्रेष्ठ थे, और सुमेरु पर्वत जिसप्रकार [सुरालए-वासिमुदागरे] देवोंको प्रसन्नता उत्पादक होता है उसी प्रकार भगवान् सब प्राणीवर्गकेलिए हर्षदायक थे, तथा जैसे सुमेरु [णेगगुणोववेए] अनेक गुणोंसे शोभित है वैसेही भगवान् भी अनन्त उत्तमोत्तम गुणोंसे समलङ्कृत थे ॥ ९ ॥

भावार्थ—भगवान्का वीर्यान्तराय कर्म्म बिलकुल नष्ट हो गया था, अतएव उनमें अनन्तवीर्य-अनन्त बलका प्रादुर्भाव हो गया था, जैसे सुमेरु-पर्वत सब पहाडोंमें श्रेष्ठ है उच्च है उसी प्रकार भगवान् भी शक्ति आदि गुणोंमें उच्च और सर्वश्रेष्ठ थे । तथा जिस प्रकार स्वर्ग देवोंकेलिए हर्षोत्पादक है उसी प्रकार सुमेरु भी हर्ष जनक है वैसे ही भगवान् भी प्राणीमात्रकेलिए हर्षको उत्पन्न करनेवाले थे । सुमेरु जैसे अनेक गुणोंसे—सुनहरी रंग और चन्दनादि गन्ध तथा उत्तम फलोंसे शोभित होता है, भगवान् भी ज्ञान-शक्ति-सुखादि गुणोंसे विराजमान थे ॥ ९ ॥

भाषा-टीका—वीर्य्यान्तरायका सर्व्वथा क्षय होनेसे भगवान् अनन्त शक्तिमान् और, धैर्य्य, शौर्य्य, सहिष्णुतादि शारीरिक बलसे बलिष्ठ थे,

प्रतिष्ठाशालिओं में भगवान् अद्वितीय प्रभाववाले थे। जहां जीवोंको केवलज्ञान प्राप्त होता है उस जम्बूद्वीपके मध्यमें जिस प्रकार सुमेरु पर्वत दृढ, अचल, और श्रेष्ठ है इसी प्रकार प्रभुकी वाणी भी अनेकान्त रूप सकल श्रेष्ठ है तथा वे स्वयं भी पर्वतकी तरह दृढ थे। सुमेरुपर्वत स्वर्गवासिओंको बडा सुहावना लगता है और हर्ष पैदा करता है इसी भान्ति प्रभु भी ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति आदिक अनन्त गुणोंसे युक्त और भव्य आत्माओंके लिए अनुपम आनन्ददायक थे ॥ ९ ॥

गुजराती अनुवाद—वीर्यान्तरायनो सर्वथा नाश थवाथी भगवान् अनन्त-शक्तिमान् हता, तेमज धैर्य-शौर्य-सहिष्णुतादि शारीरिक बले करी प्रतिपूर्ण बलवान् हता। प्रतिष्ठा शालिओमां भगवान् अद्वितीय प्रभाव वाळा हता, ज्यां जीवोने केवलज्ञान प्राप्त थाय छे ते जंबूद्वीपमां मेरु पर्वत जेम दृढ-अचल-अने श्रेष्ठ छे, तेम भगवान् पण वीर्यादिक गुणे करी श्रेष्ठ तथा दृढ हता। मेरु पर्वत जेम स्वर्गवासी देवोने हर्ष उत्पन्न करे छे तथा अनेक गुणोए करी शोभित छे, तेमज प्रभु पण ज्ञान-दर्शन-सुख अने शक्ति आदिक अनन्त गुणोए करी शोभे छे, तेमज भव्यात्माओने आनन्द प्रद छे ॥ ९ ॥

मूल

सयं सहस्साण उ जोयणाणं,
तिकंडगे पंडगवेजयंते।
से जोयणे णवणवति सहस्से,
उद्धुस्सितो हेट्ठ सहस्समेगं ॥ १० ॥

संस्कृतच्छाया

शतं सहस्राणां तु योजनानाम्, त्रिकण्डकः पण्डकवैजयन्तः।
स योजने नवनवतिसहस्रे ऊर्ध्वोच्छ्रितोऽधः सहस्रमेकम् ॥१०॥

सं० टीका—पुनश्चापि मेरुवर्णनायाह, 'सयं इति,' स सुमेरुर्योजनसहस्राणां शतमुच्छ्रितोऽस्ति "मेरुः सुमेरुर्हेमाद्रिः रत्नसानुः सुरालयः इत्यमरः।" तथा त्रीणि कण्डकानि यस्य स त्रिकण्डकः। भौमं-

जाम्बूनदं—वैडूर्यं चेति भेदात् । स किं भूतः, पण्डकवैजयन्तः,—पण्ड-कवनं शिरसि व्यवसितं, वैजयन्तीकल्पं पताकाभूतं यस्य स तथोक्तः । "पताका वैजयन्ती स्यात्केतनं ध्वजमस्त्रियामित्यमरः" । असौ मेरुर्नवनवतिसहस्रे योजने ऊर्ध्वोच्छ्रितः=भूतलादुपरि प्रवृद्ध उन्नतो वा "उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्ग" इति, "जातोत्रद्ध प्रवृद्धाः स्युरुच्छ्रिता इति चामरः" । अधः=भूमेरधस्तादेशे एकं सहस्रं योजनमवगाढ इत्यर्थः । एकसहस्रोनलक्षयोजनं पृथिवीत ऊर्ध्वे, सहस्रमेकं च योजनं भूमाविति भावः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—[से] वह सुमेरु पर्वत [सयं सहस्साण] एक लाख [जोयणाणं] योजनका है, [तिकंडगे] उसके तीन भाग हैं, [पंडगवेजयंते] पाण्डुक वन जिसकी ध्वजाके समान है, तथा [णवणवते] ९९ निनानवे [सहस्से] हजार [जोयणे] योजन [उद्धुस्सितं] ऊंचा है, और [एगं] एक [सहस्स] हजार योजन [हेट्ठं] बुनियादमें नीचा है ॥ १० ॥

भावार्थ—इस गाथामें भगवानकी उपमा भूत सुमेरुगिरिका वर्णन किया है, सुमेरु एक लाख योजन ऊंचा है, निनानवे हजार योजन जमीनसे ऊपर तथा एक हजार योजन जमीनमें है, इसके तीन कंडक-भाग हैं, उन तीन कण्डिकाओंमें सबसे ऊपरकी कण्डिका पर पाण्डुक वन है । और मानो वह ध्वजाकी तरह जान पडता है, जिसप्रकार यह सुमेरु पर्वत तीनों लोकोंमें व्याप्त है उसी भांति भगवानके भी ज्ञान-दर्शन-चरित्रादि गुण समस्त लोकालोकमें व्याप्त हैं ॥ १० ॥

भाषा-टीका—वह सुमेरु पर्वत ऊंचाईमें एक लाख योजन है, जिसके तीन काण्ड-भाग हैं । जिनके क्रमसे भौम-जाम्बूनद-वैडूर्य नाम हैं । उस पर पण्डकवन ऊंचाईमें सबसे अधिक होनेके कारण सुन्दर ध्वजाकी तरह उसकी सुशोभाको और भी बढाकर मानो चार चांद लगा रहा है । जिस मेरुकी जड जमीनमें १००० योजन तक पाई जाती है। और वह ९९००० योजन पृथ्वीके ऊपरी भागमें आकाशकी चोटीकी तरह शोभित है । उसके तीनों भाग तीनों लोकोंमें अवकाश पाए हुए हैं । इसी तरह प्रभुके कथन किए हुए तीनों रत्न

सुमेरु की भांति विशाल और महान् हैं, तथा तीनों लोकके भव्यप्राणिओंके मन-वचन-काय योगमें समाविष्ट-ओत-प्रोत हैं ॥ १० ॥

गुजराती अनुवाद—ते मेरु पर्वत उंचाइमां एक लाख योजननो छे, तेना एक भूमिमय, बीजो सुवर्ण मय अने त्रीजो वैडूर्य रत्न मय एवा त्रण कांड (भाग) छे, तथा ते मेरु पर्वतनी टोच ऊपर पंडग वन ध्वजानी माफक शोभी रह्युं छे। ते मेरु पर्वत नवाणुं हजार योजन ऊंचो अने एक हजार योजन नीचे जमीनमा छे। तेना त्रणे भाग त्रणे लोकमां अवकाश प्राप्त छे। तेवीज रीते प्रभुना बतावेला ज्ञान-दर्शन-चरित्र रूपी त्रणे रत्न सुमेरुनी पेठे विशाल छे, अने त्रणे लोकना भव्योना मन-वचन-काय मां सम्पूर्ण रीतिथी समाविष्ट छे ॥ १० ॥

मूल

पुट्ठे णभे चिट्ठइ भूमिवट्ठिए,
जं सूरिया अणुपरिवट्टयंति ।
से हेमवण्णे बहुनंदणे य,
जंसि रइं वेदयती महिंदा ॥ ११ ॥

संस्कृतच्छाया

स्पृष्टो नभसि तिष्ठति भूम्यवस्थितः,
यं सूर्याः अनुपरिवर्तयन्ति ।
स हेमवर्णो बहुनन्दनश्च,
यस्मिन् रतिं वेदयन्ति महेन्द्राः ॥ ११ ॥

सं० टीका—स्पृष्टः संलग्नो नभसाकाशेऽथवा नभो व्याप्य तिष्ठति स मेरुः, "स्पृष्टिः पृक्तावित्यमरः"। तथैव भूमिं पृथिवीं चाव-गाह्य स्थितः। ऊर्ध्वाधस्तिर्यक् संस्पर्शीति भावः। यथा च यं मेरुं सूर्यादयो ज्योतिष्का अंगारकादिग्रहा अप्यनुवर्तयन्ति यस्य पार्श्वतः परिभ्रमन्तीत्यर्थः। हेमवर्णो वा कनकाभो निष्टप्तकाञ्चनसदृशस्तथा बहूनि चत्वारि नन्दनवनानि यस्य स बहुनन्दनवनः। भूमौ तु भद्र-शालवनं ततः पञ्चयोजनशतान्यारुह्यातिक्रम्योल्लंघ्य मेखलायां शैल-

नितम्बदेशो मध्यभाग इत्यर्थः । "मेखला खड्गबन्धे स्यात्काञ्ची शैल-नितम्बयोरिति मेदिनीकोशः" । नन्दनवनमायाति । तथा द्विषष्टि-योजनसहस्राण्यधिकान्यतिक्रम्य सौमनसवनम् । ततः षट् त्रिंशत्सह-स्राण्यारुह्योल्लंघ्य शिखरे पण्डकवनमिति मेरोश्चत्वारि वनानि । यस्मिन् मेरौ महेन्द्रा त्रिदशालयात् स्वर्गात्समागत्य रमणीयतमशब्दादिगुणेन रतिं रमणक्रीडां वेदयन्त्यनुभवन्ति । अतश्चतुर्नन्दनवनाद्युपेतो विचि-त्रक्रीडास्थलसमन्वितः स मेरुः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—[से] वह सुमेरु [नमे] आकाश को [पुट्ठे] छूकर [चिट्ठइ] ठहरा हुआ है, तथा [भूमिवट्ठिए] भूमिको छूकर स्थित है, [जं] जिसकी [सूरिया] सूर्य [अणुपरिवट्टयंति] प्रदक्षिणा करते हैं, और जो [हेम-वन्ने] सोनेके समान परम कान्ति युक्त है, जिसमें [बहु] बहुत अर्थात् चार [नंदणे] नन्दनादि वन हैं [जंसी] तथा जिसमें [महिंदा] महेन्द्र आकर [रतिं] सुरता [वेदयती] अनुभव करते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—वह सुमेरु पर्वत ऊपरके भागमें आकाशको व्याप्त करके तथा नीचे भूमिको स्पर्श करके स्थित है, इसलिए वह ऊर्ध्वलोक-अधोलोक और तिर्यक् लोकको स्पर्श करता है। ज्योतिष्क विमान उसकी प्रदक्षिणा करते हैं। उसका रंग सुवर्णकी तरह पीला है। उसके ऊपर चार वन हैं; समान भूमिमें भद्रशाल वन है, उसके पांचसो योजन ऊपर नन्दन वन है, उसके बासठ हजार योजन ऊपर सौमनस वन है, उससे छत्तिस हजार योजन ऊपर पाण्डुक वन है, इस प्रकार वह अनेक क्रीडास्थलोंसे युक्त है, और उसमें देव तथा देवेन्द्र आकर रति-क्रीडाका अनुभव करते हैं ॥ ११ ॥

भाषा-टीका—उस सुमेरु पर्वतने ऊर्ध्व लोक-अधोलोक और मनुष्य-लोक इस प्रकार तीनों लोकोंके आकाशको छू लिया है। जिसकी चारोंही जगह सूर्य चांद तथा ग्रहगण चारों ओर परिक्रमा देते रहते हैं। तब वह तपे हुए सोनेकी तरह चमचमाट करने लगता है। उसके चारों ओर के बहुतसे वनोंमें चार मुख्य सुन्दर वन हैं। और प्रथम समतल भूमि पर भद्रशाल वन है। उस जगहसे ५०० योजन ऊपर जानेसे मानो उसकी चारोंही

अगाड़ नन्दन वन आता है। उससे ६२००० योजन ऊपर सौमनस वन है। उससे ३६००० योजन ऊपर शिखरके पास पंडकवन है। ये सुमेरुके चार सघन वन हैं। यहां पर बडे २ महेन्द्र और देव गण आकर मनोहर खेल कूद करते हैं। उसका सौन्दर्य्य निहारनेके लिए स्वर्गसे चल कर आते हैं। इसी भांति भगवान भी सुवर्णके रंग जैसे सुन्दर हैं। इनके पास ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप तथा तत्व, पदार्थ, नय, निक्षेपादि चार सुन्दर विचार स्थल हैं, जिनमें आत्माका अनुपम आनन्द आता है। और इस क्रीडास्थली पर भव्य जन स्वावलम्बी होकर सहजानन्द लूटते हैं ॥ ११ ॥

गुजराती अनुवाद—ते मेरु पर्व्वत ऊर्ध्व दिशामां आकाशने स्पर्शी रह्यो छे, एटले ऊर्ध्वलोक-अधोलोक अने मनुष्यलोकने स्पर्शी रह्यो छे, जे मेरु पर्व्वतनी आसपास सूर्यप्रमुख ज्योतिषी-देवो प्रदक्षिणा करी रह्या छे। ते मेरु-पर्वत सुवर्णना जेवी कान्तिवाळो छे। तेनी चारे बाजुए घणा वनोमां चार मुख्य सुंदर वन छे। समतल भूमिपर भद्रशाल वन छे, त्यांथी ५०० योजन ऊपर जतां नन्दनवन आवे छे, त्यांथी ६२००० योजन ऊंचे सौमनस वन छे। त्यांथी ३६००० योजन ऊंचे शिखरनी पासे पंडकवन छे। मेरु पर्व्वतना आ चार नन्दनवनमां मोटा इन्द्रो पण आवीने इच्छानुसार मनोहर क्रीडा करे छे। तेनुं मनोमोहक सौन्दर्य जोवाने स्वर्गमां थी आवे छे। ते रीते भगवान महावीर प्रभु पण सुवर्ण समान सुंदर छे। तेमनी पासे ज्ञान-दर्शन-चरित्र तथा तप तेमज तत्व-पदार्थ-नय-निक्षेपादि चार सुन्दर विचार स्थल छे। जेमां आत्माने आनन्द आवे छे। तेमज ते क्रीडा स्थल पर भव्य जनो स्वावलम्बी बनीने सहजानन्द लूटे छे ॥ ११ ॥

मूल

से पव्वए सद्दमहप्पगासे,
विरायई कंचणमट्ठवण्णे।
अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे,
गिरिवरे से जलिएव भोमे ॥ १२ ॥

संस्कृतच्छाया

स पर्वतः शब्दमहाप्रकाशो, विराजते काञ्चनमृष्टवर्णः ।
अनुत्तरो गिरिषु च पर्वदुर्गो, गिरिवरः स ज्वलित इव भौमः ॥१२॥

सं० टीका—स मेरुनामापर्वतः सुदर्शनः शोभनदर्शनः सुगिरिर्मन्दरो हेमाद्रिरित्यादिभिःशब्दैःपर्यायवाचकैर्महान् प्रकाशः प्रसिद्धिमानीतः । "प्रकाशोऽतिप्रसिद्धेऽपीत्यमरः" । यः, स शब्दमहाप्रकाशो विराजते=शोभते, वा सुरासुरकिन्नरादिगन्धर्वगायनशब्दैर्महाप्रकाशो दीप्यमानः । काञ्चनस्येव मृष्टः शुद्धो, "निर्णिक्तं शोधितं मृष्टं निश्शोध्यमनवस्करमित्यमरः" । वर्णो यस्य स काञ्चनमृष्टवर्णः । अनुत्तरः प्रधानस्तथा गिरिषु पर्वतेषु मध्ये पर्वभिर्मेखलादिभिः सन्धिभिर्वा "पर्वं क्लीवं महे ग्रन्थौ, प्रस्तावे लक्षणान्तरे, दर्शः प्रतिपदोः सन्धाविति मेदिनी कोषः" । अथवा च दंष्ट्रापर्वतैर्वा दुर्गो दुर्गमः, "दुर्गो मानिल्योः स्त्री दुर्गमे त्रिष्विति मेदिनी" । सामान्यप्राणिनां दुरारोहो गिरिरिति भावः । स गिरिवरः पर्वतप्रधानो मणिभिरौषधिभिश्च ज्वलितो दीप्यमानो भौम इव मंगलग्रह इवाथवा भूदेश इवेति भावः । "भौमः कुजे च नरके पुंसि भूमिभवे त्रिष्विति मेदिनी" ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—[से] वह [पव्वए] सुमेरु पर्वत [सद्दमहप्पगासे] अनेक सुशब्दोंसे गूंजता है, तथा [कंचणमट्ठवण्णे] सोनेकी तरह पीले वर्णसे [विरायई] शोभा प्राप्त है, [गिरिसु] सब पर्वतोंमें वह [अणुत्तरे] सर्वश्रेष्ठ है, [पव्वदुग्गे] वह पर्वत मेखला आदिके कारण दुर्गम है, और [से] वह [गिरिवरे] सबमें प्रधान सुमेरु [भोमे व] मंगल ग्रह तथा पृथ्वीकी तरह [जलिए] कान्तियुक्त है ॥ १२ ॥

भावार्थ—शब्दका स्वभाव गूंजनेका है, छोटे पर्वत और गुंबदोंमें आवाज करनेपर उसमें प्रतिध्वनि हो उठती है और वह पहली आवाजसे भी

अधिक गंभीर होती है, इसीप्रकार सुमेरु पर्वत देवोंका क्रीडास्थल है और वह भी उनकी प्रतिध्वनिओंसे गूंज उठता है तथा वह गूंज सबसे प्रबल है; इसी प्रकार महावीर-परमात्माकी दिव्यध्वनि सबसे प्रबल और जोरदार है, यही कारण है कि—भगवान्के सदुपदेशका प्रभाव अमिट और शीघ्र होता है। पर्वतके सुनहरी रंगके समान प्रभुका पीतवर्ण युक्त शरीर दर्शनीय और मनोहर था। जिस-प्रकार सुमेरुपर चढना कठिन है उसीप्रकार भगवान्की सर्वज्ञताको जीतना भी दुष्कर है ॥ १२ ॥

भाषा-टीका—वह सुमेरु पर्वत अधिराज है, दर्शनमें सौन्दर्यशाली है। बुद्धिमान् अच्छी २ शब्दोपमाऐं देकर प्रख्यात कर चुके हैं। जिसपर गान्धर्वोंका मनोमोहक गायन होता है, सोनेसे लीप पोत कर मानो अभी शुद्ध किया गया है इसीसे सर्व पर्वतों में उसे प्रधानता दी गई है, उसकी उंचाई और अधिक सन्धियोंके कारण उसपर मनुष्योंको पैरोंसे चढना सांस तोडने जैसा है। अतः सामान्य प्राणी उसे चढ कर पार नहीं पासकते। इसी लिए उसे प्रधानता दी गई है। उस पर मणिमाणिक्य जैसे बहुमूल्य रत्न और कई अलौकिक जडी बूटियां मंगलग्रह की तरह चमकती हैं। इसी भांति वीर भगवान्का दर्शन अनेकान्त है, परम सुन्दर है। जिसकी अकाट्य तर्कमयता प्रसिद्ध है। जिसकी गौतम जैसे दार्शनिकोंने प्रशंसा की है। उस दर्शनका सुन्दर वर्ण अर्थात् शब्दों में निर्माण हुआ है। तथा वह सब दर्शनोंमें प्रधान है। साधारण तथा अनुभव शून्य मानवोंके लिए अगम्य और दुरारोह है। जिनकी २८ लब्धिरूप औषधिओंकी चमक विलक्षण है। जो धर्मकी प्रभावनारूप आरोग्यता प्रदानकरनेके अर्थ काममें आई जाती हैं। इसीसे दुराग्रहरूपी रोग शान्त होते हैं ॥ १२ ॥

गुजराती अनुवाद—वळी ते मेरु पर्वत मंदर १, मेरु २, मनोरम ३, सुदर्शन ४, स्वयंप्रभ ५, गिरिराज ६, रत्नोच्चय ७, तिलकोपम ८, लोकमध्य ९, लोकनाभि १०, रत्न ११, सूर्यावर्त १२, सूर्यवरण १३, उत्तम १४, दिशादि १५ और अवतंस १६, ए सोळ नामे करी महा प्रकाश (प्रसिद्ध) वान् थई शोभे छे। जेना पर गान्धर्वोना मनोमोहक गायनो थाय छे। सुवर्णनी पेठे शुद्ध वर्णवाळो सर्व पर्वतोमां प्रधान छे। तेनी उंचाई अने अधिक संधिओने लीधे मनुष्योने माटे तेना पर चढवुं पण अशक्य छे। वळी ते गिरिराज मणि

અને ઔષધિઓએ કરી દેદીપ્યમાન છે, તેમ રીતે વીર ભગવાનનું અનેકવર્ણ દર્શન પરમ સુંદર અને મનોહર છે । જેની અકાટ્ય તર્કમયતા પ્રસિદ્ધ છે । જેની ગૌતમ જેવા દાર્શનિકોએ પણ પ્રશંસા કરેલી છે । તે દર્શનનું સુન્દર વર્ણ અર્થાત્ શબ્દોમાં નિર્માણ થયલું છે । તથા તે સર્વ દર્શનોમાં પ્રધાન અને સર્વોત્તમ છે । સાધારણ તથા અનુભવ શૂન્ય મનુષ્યોને માટે અગમ્ય તથા અતિ દુરાધ્ય છે । જેની ૨૮ લબ્ધિરૂપ ઔષધિઓની ચમક દમકથી વિલક્ષણ છે । કે જે ધર્મની પ્રભાવના કરવામાં ઉપયોગમાં લાવવામાં આવે છે । તેનાથી દુષ્પ્રદ રોગ જડમૂળથી નષ્ટ થઈને શાન્ત થઈ જાય છે ॥ १२ ॥

मूल

महीइ मज्झंमि ठिते णगिंदे,
पन्नायते सूरियसुद्धलेस्से;
एवं सिरीए उ स भूरिपण्णे,
मणोरमे जोयइ अच्चिमाली ॥ १३ ॥

संस्कृत-छाया

मह्यां मध्ये स्थितो नगेन्द्रः, प्रज्ञायते सूर्य्यवच्छुद्धलेश्यः ।
एवं श्रिया तु स भूरिप्रज्ञः, मनोरमो द्योतयत्यर्चिमाली ॥१३॥

सं० टीका—मह्यां मध्यदेशेऽन्तर्भागे यो जम्बूद्वीपस्तस्यापि बहुमध्यदेशे स नगेन्द्रः स्थितः । पुनश्च सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन, माल्यवंतदंष्ट्रापर्वतचतुष्टयोपशोभितः समभूभागे दशसहस्रयोजनविस्तीर्णः, शिरसि सहस्रमेकमधस्तादपि दशसहस्राणि नवति योजनानि योजनैकादशभागैर्दशभिर्भागैरधिकानि विस्तीर्णश्चत्वारिंशद्योजनोच्चूलिकोपशोभितो नगेन्द्रः पर्वतप्रधानो मेरुः । प्रकर्षेण जगति सूर्यवच्छुद्धलेश्यो निर्मलकान्तिः सूर्यसमप्रभ इति । एवमनन्तरोक्तया श्रिया तु शब्दाद्विशिष्टतरया कान्त्या स मेरुर्भूरिवर्णोऽनेकवर्णोऽनेकरंगाद्युपेतः

"वर्णो द्विजादौ शुक्लादावित्यमरः" वीरपक्षे भूरि=प्रभूतं बहुलं "प्रचुरं प्रभूतं प्राज्यं मदभ्रं बहुलं बहु, पुरुहूः पुरुभूयिष्टं, स्फारं भूयश्च भूरि चेत्यमरः"। वर्णः परिस्तोमो यस्य स भूरिवर्णः, दीर्घसिंहासनस्य प्रवेणीति। "प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्तोमः कुथो द्वयोरित्यमरः"। अथवा भूरिः स्वर्णं काञ्चनं तस्येव वर्णो (कान्तिः) यस्य स तथा। "स्वर्णेऽपि भूरीत्यमरः"। अथवा भूरिर्बहुलो, वर्णःस्तुतिर्यस्य स तथा। "स्तुतिर्वर्णं तु वाऽक्षर इत्यमरः"। "वर्णः स्तुतौ ना इति मेदिनी"। अथ किं भूतः स मेरुर्मनोरमश्चारुःशोभनः, "सुन्दरं रुचिरं चारु, सुषमं साधुशोभनम्; कान्तं मनोरममित्यमरः"। एवमेव वीरोऽप्येवं विधो जगति मनोरमः। पुनश्च=अर्चिःकिरणस्तस्य माला विद्यते यस्य सोऽर्चिमाली सूर्य इव द्योतयति दिश इति शेषः। "दीधितिर्भानुरुस्रोंऽशुर्गभस्तिः किरणः करः। पादो रुचिर्मरीचिर्भो तेजोर्चिरिति धनंजयः" ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—[महीइ] पृथ्वीके [मज्झम्मि] बीचमें [ठिये] स्थित [णगिंदे] पर्वतोंमें प्रधान सुमेरु [पन्नायते] लोकमें उत्कृष्ट रूपसे जाना जाता है, तथा [सूरियसुद्धलेस्से] सूर्यके सदृश शुद्ध तेजवाला [एवं] इसी भांतिकी [सिरीए] लक्ष्मीसे [उ] अधिकाधिक [भूरिवन्ने] विचित्र रत्नोंसे शोभित रहनेके कारण नानावर्ण युक्त और [मणोरमे] मनको मोहित करने वाले [अच्चिमाली] सूर्यकी तरह [जोयइ] दशों दिशाओंको प्रकाशित करता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—रत्नप्रभा पृथ्वीके मध्यभागमें जम्बू द्वीप है, और इसके बीचमें सब पर्वतोंमें प्रधान सुमेरु पर्वत है, यद्यपि सुमेरु पर्वत दोनों धातृ खंड और दोनों पुष्करार्द्ध द्वीपमें भी हैं, किन्तु उनकी उंचाई ८५ हजार योजन ही है, और जम्बूद्वीपके मध्यभागस्थ सुमेरु एक लाख योजन ऊंचा है, अतः यह सबमें प्रधान गिनाजाता है। इसी प्रकार ऋषि-मुनि और महात्माओंमें महावीर प्रधान थे, सुमेरु पर सूर्यकी कान्ति पड़ने पर जैसे वह चमकने लगता है वैसे ही

भगवान्का शरीर भी प्रभाशाली था, वे अज्ञानान्धकारके नाशक थे, भगवान्का शरीर स्वयं प्रकाशित था, तथा औरोंके ज्ञान का प्रकाश भी देता था ॥ १३ ॥

भाषा-टीका—पृथ्वीके विचके प्रदेशमें जम्बूद्वीपके मध्यस्थलमें वह मेरु पर्व्वत समस्त पहाडोंके राजाकी तरह स्थित है। सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन, माल्यवन्त इन चार दाढापर्व्वतोंसे वह बडा मनोहर लगता है, वह पृथ्वीके सम भाग में दशहजार योजन विस्तीर्ण है, ग्यारह २ हजार योजन पर एक २ हजार योजन घट कर शिखर पर एक हजार योजन रह जाता है। वह जगत्में सूर्यकी तरह शुद्ध कान्ति और निर्म्मल आकृति युक्त है। और जिसमें अनेक बहु मूल्य धातु और उत्तमरत्न पाए जाते हैं।

वीर पक्षमें—सोनेकी तरह जिनके शरीरकी चमक दमक है। जिनके गुण चान्दकी तरह स्वच्छ हैं। जिनकी स्तुतिएँ महती हैं। जिन्हें अपुनरावृत्ति रूप अक्षर—मोक्ष प्राप्त है। जिनका सत्संग अनन्त सुख दाता है। सुमेरुकी तरह मनोरम हैं, जो सूर्यकी किरणोंकी तरह तेजस्वी हैं ॥ १३ ॥

गुजराती अनुवाद—पृथ्वीना मध्य भागमां सर्व पर्व्वतोनो इन्द्र मेरु पर्व्वत सूर्यनी पेठे शुद्ध कान्ति अने निर्मल आकृतिवालो छे। सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन, माल्यवान, ए चार दाढाओथी पर्वत बहु सुन्दर देखाय छे। ते पृथ्वीना समभागमां १०००० योजन पहोलो छे। अग्यार अग्यार हजार योजन पर एक एक हजार योजन घटतां शिखर पर एक हजार योजन पहोलो छे। तेमां अनेक बहुमूल्य धातुओ एवं रत्नो मळी आवे छे। वीर पक्षे—सुवर्णसमान जेना शरीरनी शोभा छे, जेना गुणो चन्द्रमानी पेठे स्वच्छ छे। जेणे अपुनरावृत्तिरूप अक्षर—मोक्ष प्राप्त करेल छे, जेमनो सत्संग अनन्त सुख दाता छे। सुमेरु नी पेठे जे मनोहर छे, ते सूर्यना किरण समान तेजस्वी छे ॥ १३ ॥

मूल

सुदंसणस्सेव जसो गिरिस्स,
पवुच्चई महतो पव्वयस्स ।
एतोवमे समणे नायपुत्ते,
जाईजसोदंसणनाणसीले ॥ १४ ॥

संस्कृतच्छाया

सुदर्शनस्येव यशो गिरेः, प्रोच्यते महतः पर्वतस्य।
एतदुपमः श्रमणो ज्ञातपुत्रो, जातियशोदर्शनज्ञानशीलः ॥ १४॥

सं० टीका—भगवतो वीरस्यैतद्यशः कीर्तनं महतः पर्वतस्य सुदर्शनस्य मेरोर्गिरेरिव प्रोच्यते, महतः पर्वतस्यैतदुपम एतत्तुल्यः। साम्प्रतमेतदेव भगवति दार्ष्टान्तिके योज्यते। एषः=अनन्तरोक्तमेरुगिरिरित्यर्थः, उपमा=उपमानं सादृश्यप्रतियोगी यस्य स एतदुपमः। कः। श्राम्यति=तपस्यतीति श्रमणः। तपोनिष्टप्तदेहो ज्ञातपुत्रः श्रीमहावीरमनुजात्या="जातिर्जातं च सामान्यमित्यमरः।" यशसा=कीर्त्या "यशः कीर्तिः समज्ञाचेत्यमरः।" सकलदर्शनज्ञानचरित्रवतां-मध्ये श्रेष्ठः प्रधानः। जात्यादीनां कृतद्वन्द्वानामतिशायने 'अर्श आदित्वादच्' प्रत्ययविधानेनाक्षरघटना विधेयेति भावः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—[महतो] महान् [पव्वयस्स] पर्वत [सुदंसणस्सेव] सुदर्शन [गिरिस्स] मेरु पर्वतका [जसो] यशः कीर्ति जैसे प्रतिपादित है उसीप्रकार [पवुचइ] भगवान्‌की कीर्ति करते हैं [एतोवमे] पूर्वकथित उपमासे अलंकृत [समणे] श्रमण [नायपुत्ते] ज्ञातपुत्र-महावीर भगवान् [जाइजसोदंसणनाणसीले] जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शीलमें सर्वश्रेष्ठ थे ॥ १४ ॥

भावार्थ—भगवान्‌की एक देशीय उपमा तो सुमेरु पर्वतसे दीगई, और इसी प्रसंगको लेकर सुमेरुका यशोगायन कियाहै, और अब फिर उपमेयका-भगवान् महावीरका वर्णन करते हैं। वे ज्ञात वंशके क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न भगवान् समस्त जातिवालोंमें और अखिल यशस्वियोंमें, समस्त ज्ञानियोंमें तथा दर्शनवालोंमें और सब चारित्रनिष्ठोंमें श्रेष्ठ थे ॥ १४ ॥

भाषा-टीका—भगवान् वीरका यश सुमेरुकी सदृश महान् था, यह उपमा उनके ही ऊपर भलि भाति घटती है। वे श्रमण थे, तपसे शरीरको सोनेकी तरह तपा डाला था, ज्ञात वंशके क्षत्रिय पुत्र थे। जिनकी जाति-यशः कीर्ति-समस्त ज्ञान, दर्शन और चरित्र समन्वित है। श्रेष्ठतर तथा प्रधानतर है ॥१४॥

गुजराती अनुवाद्—भगवान् ज्ञातनन्दन वीरप्रभुनो अनुपम यश सुमेरु पर्वत समान महान् छे। ए पूर्वोक्त उपमाए श्रमण भगवान् महावीरदेव जातिए-यशे-दर्शने-ज्ञाने-अने आचारे सर्वोत्तम छे।

मूल

गिरिवरे वा निसहायययाणं,
रुयए व सेट्ठे वलयायताणं।
तओवमे से जगभूइपन्ने,
मुणीण मज्झे तमुदाहु पण्णे ॥ १५ ॥

संस्कृतच्छाया

गिरिवरो वा निषध आयतानां, रुचको वा श्रेष्ठो वलयायतानाम्।
तदुपमः स जगद्भूतिप्रज्ञः, मुनीनां मध्ये तमुदाहुः प्रज्ञाः ॥ १५ ॥

सं० टीका—दृष्टान्तद्वारेण पुनरप्याह, निषधः=तन्नामा पर्वतो यथा गिरिवराणामायतानां=दीर्घाणां, "दीर्घमायतमित्यमरः"। मध्ये, जम्बूद्वीपेऽन्येषु वा द्वीपेष्वपेक्षया दैर्घ्येण श्रेष्ठ उत्तमः। पुनश्च वलयायतानां कटकायतानां मध्ये "आवापकः पारिहार्य्यः कटको वलयोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः। रुचकः पर्वतः श्रेष्ठोऽन्येभ्यो वलयाकारत्वेनेति भावः। हि रुचको द्वीपान्तर्वर्तिमानुषोत्तरगिरिरिव वृत्तायतो वर्तुलायतः, "वर्तुलं निस्तलं वृत्तमित्यमरः"। असंख्येययोजनपरिक्षेपेण परिधिनेति। तथा स वीरोऽपि तदुपमः। यथा वायतवृत्तताभ्यां प्रधानश्चेति। तथैव भगवानपि जगति संसारे भूतिप्रज्ञः प्रभूतज्ञानपरिज्ञया श्रेष्ठ इत्यर्थः। परमुनीनामपेक्षया प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः सर्वज्ञश्चेति। तदेवं स्वरूपविद्—आहुः, उदाहृतवन्तः कथितवन्तः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—[व] जैसे [निसह] निषध पर्वत [आययाणं] लम्बे पर्वतोंमें [गिरिवरे] श्रेष्ठ पर्वत है, तथा [व] जैसे [रुयए] रुचक पर्वत [वलयायताणं] गोलाकार पर्वतोंमें [सेट्ठे] श्रेष्ठ है, [तओवमे] इनकी तरह

[से] भगवान् महावीर भी [जगभूईपन्ने] संसारमें प्रभूतप्रज्ञा-अनन्त ज्ञान-युक्त हैं। अतः [पन्ने] प्रकृष्ट ज्ञानवालोंने [तं] उन्हें [मुणीण] सब मुनिराजोंके [मज्झे] बीचमें [उदाहु] उत्कृष्ट कहा है ॥ १५ ॥

भावार्थ—हरिवर्ष क्षेत्रके पर्वतका नाम निषध पर्वत है, वह लम्बाईमें सबसे बड़ा है, तथा रुचक नामका पर्वत गोलाईमें अद्वितीय है जिसके समान अन्य दूसरा नहीं है। उसी प्रकार भगवान् महावीर भी ज्ञानमें अद्वितीय थे, उनके समान पूर्णज्ञानी उस समय कोई और नहीं था, अत एव बुद्धिमान् अन्य दार्शनिकोंने उनको उत्कृष्ट कहा है ॥ १५ ॥

भाषा-टीका—निषध पर्वत सब लम्बे पहाड़ोंमें श्रेष्ठ है, चूड़ीकी तरह गोल पहाड़ोंमें रुचक पर्वत सर्वाधिक सुन्दर है, इसी तरह वीरप्रभु भी जगत्में भूतिप्रज्ञ-अध्यात्म विद्यामें अद्वितीय है। और वह अन्य मुनिओंकी अपेक्षासे हैं। उनके स्वरूपको जाननेवालोंने यथार्थतया कहा है कि वह सर्वज्ञ हैं ॥१५॥

गुजराती अनुवाद—लांबा पर्वतोमां निषध नामक पर्वत मोटो छे। गोळाकार पर्वतोमां रुचक पर्वत श्रेष्ठ छे। ते उपमाए श्रीमहावीर शासनदेव जगत्मां प्रज्ञाए करी श्रेष्ठ कह्या छे, अध्यात्म विद्यामां अद्वितीय अने सर्वमान्य छे। तथा सर्व मुनिओने विषे प्रज्ञावन्त कह्या छे। तेमना स्वरूपने जाणवावाळाओए यथार्थज कह्युं छे के तेओ सर्वज्ञ छे ॥ १५ ॥

मूल

अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता,
अणुत्तरं ज्झाणवरं झियाई।
सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं,
संखिंदुएगंतवदातसुक्कं ॥ १६ ॥

संस्कृतच्छाया

अनुत्तरं धर्ममुदीर्य्य, अनुत्तरं ध्यानवरं ध्यायति।
सुशुक्लशुक्लमपगण्डशुक्लं, शंखेन्दुकान्तावदातशुक्लम् ॥ १६ ॥

सं० टीका—अनुत्तरं प्रधानमुत्कृष्टं धर्ममुदात्तस्येनेरयित्वा= कथयित्वा प्रकाश्य च, "प्रोक्ते प्रेरिते, क्षिप्त इति शब्दार्थचिन्ता-

वा *गंडमुदकफेनं बुद्बुदं तद्वन्निर्मलं चेति, निर्दोषार्जुनसुवर्णवच्छुक्लम्, तथा च शंखेन्दुवदेकान्तावदातं शुभ्रं शुक्लं शुक्लध्यानोत्तरं भेदद्वयं ध्यायतीति भावः । "गण्डः कपोले, पिटके, दोषजनके, जलबुद्बुदे, इति शब्दार्थचिन्तामणिः" ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—[अणुत्तरं] सबसे उत्तम [धम्मं] धर्मको [उईरइत्ता] कहकर भगवान् [अणुत्तरं] प्रधान [झाणवरं] व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति नामक ध्यानको [झियाइ] चिन्तवन करते हैं, अर्थात् [सुसुक्कसुक्कं] उत्तम श्वेतवर्णकी तरह शुक्लनामक श्रेष्ठ और पवित्र ध्यान जोकि–[अपगंडसुक्कं] अर्जुन सेतक सुवर्णकी तरह अथवा जलके फेनकी तरह या [संखिंदु एगंतऽवदातसुक्कं] शंख और चन्द्रमाकी तरह एकान्त सफेद है उसका भगवान्ने ध्यान किया ॥ १६ ॥

भावार्थ—भगवान् महावीरने ऐसे धर्मका पूर्ण उपदेश किया है, जोकि समस्त धर्मोंमें प्रधान है तथा शुक्लध्यानको धारण किया, वह शुक्लध्यान अर्जुन नामक सुवर्णके समान और जलके फेनकी तरह तथा शंखकी तरह और चन्द्रमाके समान स्वच्छ है। भगवान् सूक्ष्मकाययोगका निरोध करते हुए शुक्लध्यानके तीसरा भेद-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक ध्यानका विषय चिन्तवन करते हैं, तथा फिर जब योगका निरोध करते हैं तब व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यानके विषयको धारण करते हैं ॥ १६ ॥

अत्रोदाहरणं यथा—

वैरिमानविघाताय, केपि षट्पुरुषाः पुरा । चलिताः समुदायेन, तेष्वेक इदमब्रवीत् ॥ १ ॥ सर्व्वं हन्तव्यमेवात्र, द्विपदं वा चतुष्पदम् ॥ अन्यः प्राह मनुष्याण्यपोऽस्तु पशुभिः किमु ?–॥ २ ॥ तृतीयः प्राह हन्तव्या नरा एव नहि स्त्रियः ॥ तुर्य्येणाभाणि हन्तव्या, पुरुषेष्वपि सायुधाः ॥ ३ ॥ पञ्चमोऽप्याह ये घ्नन्ति ते वध्याः सायुधेष्वपि, षष्ठस्त्वाह विना शत्रून्, घातः कार्य्यो न कस्यचित् ॥४॥ इति भिन्नं मनस्तेषामभूल्लेश्याविशेषतः । ताः कृष्णनीलकापोत, तेजः पद्मसिताभिधाः ॥ ५ ॥ तदेवं तारतम्येन, विशुद्धपरिणामतः । येन सर्व्वे रिपुभ्योऽन्ये, रक्षिताः स हि सत्तमः ॥ ६ ॥

* गंडो फोटे कपोलहि" इत्यनिपातनप्यदीपिका ।

भाषा-टीका—जिसमें राग, द्वेषका त्याग हो और ज्ञान पूर्वक त्याग, वैराग्य, संयम, स्वाभिमान, सहानुभूति आदि गुण पाए जायें तथा मानव जीवनको उन्नत बनानेकेलिए और संसारमें उत्कृष्ट धर्मको प्रकट करनेके लिए प्रभुने उपदेश किया, जो कि—अभेद रूपमें था, और वह धर्म प्राणी मात्रके लिए कहा था। इसकी स्वयमेव सिद्धिकेलिए उत्कृष्ट ध्यानका आश्रय लिया; उस ध्यानके प्रबल प्रतापसे उस पावन पुरुषको फल स्वरूप केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। इसके अनन्तर भी मन, वचन, कायके योगोंका निरोधन करनेके फलमें सूक्ष्मकाययोगको रोककर शुक्लध्यानके तीसरे पदको प्राप्त करना आरम्भ किया; जिस स्थितिमें मन और वचनके व्यापारको रोक दिया जाता है तथा काययोगका भी आधा भाग रुक जाता है। यह शुक्लध्यानका तीसरा चरण तेरहवें गुणस्थानपर वर्तमान सूक्ष्म क्रिया रूप होजाता है।

और जिस स्थितिमें मन, वचन, कायकी अप्रतिपाति रूप निवृत्ति होती है वह शुक्लध्यानका चौथा पाद है। अर्थात् कर्मरहित केवलज्ञानरूपी सूर्यसे पदार्थोंका प्रकाश करनेवाले सर्वज्ञ भगवान् जब अन्तरमुहूर्त प्रमाण आयु बाकी रह जाता है तब सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति नामक शुक्लध्यानके योग्य बन जाते हैं, उस समयकी चेष्टा अचिन्त्य होती है, बादरकाययोगमें स्थिति करके बादरवचनयोग और बादरमनोयोगको वे सूक्ष्मतम करते हैं, पुनः भगवान् काय-योगके अतिरिक्त वचनयोग मनोयोगकी स्थिति करके बादरकाययोगसूक्ष्म करते हैं, तत्पश्चात् सूक्ष्मकाययोगमें स्थिति करके क्षणमात्रमें उसी समय वचनयोग और मनोयोग इन दोनोंका सम्यक् प्रकारसे निग्रह करते हैं, तब वह सूक्ष्म क्रिया ध्यानको साक्षात् ध्यानके करने योग्य बना लेती हैं, और वे वहां एक सूक्ष्म काययोगमें स्थित होकर उसका ध्यान करते हैं। इस तरह प्रभुका यह सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति ध्यान है।

और अयोग गुणस्थानके उपान्त्य अर्थात् अंत समयके प्रथम समयमें देवा-धिदेवके मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी प्रतिबन्धक कर्मोंकी प्रकृतिएं शीघ्रमेव नष्ट होजाती हैं। भगवान् अयोगी परमेष्ठीको उसी अयोगगुणस्थानके उपान्त्य समयमें साक्षात् रूप और निर्मल "समुच्छिन्न क्रिया" नामक चौथा शुक्ल ध्यान प्रकट हो जाता है।

भगवान्का यह प्रशस्त और शुक्लसे भी अधिक शुक्लध्यान है। वेदान्तकी दृष्टिसे महान् शुक्लेश्य हैं। "जिसने आत्मामें पुण्य पापको लिप्त करके जब अपने

जैसा बनालेती है अतः उसे लेश्या कहते हैं," यह दो तरहकी है। प्रवृत्ति और यौगिकी ये दो भेद है। प्रवृत्ति कषायके रंगमें रंग लेती है। भावसे असद् परिणति या परपरिणति रूपा है। योग, अविरति, मिथ्यात्व, कषाय, जन्म, कर्म, संस्कारोंसे भावलेश्या होती है। जोकि पाप और आस्रवका कारण हैं।"

कापोती तीव्र भाव है, नीला तीव्रतर और कृष्णा तीव्रतम भाव है, यह अशुद्ध विचारोंका क्रम है। पीता उस पापकी मन्दताका नाम है, पद्मा मन्दतर है, शुक्ला मन्दतमको कहते हैं; अशुभ भावलेश्या निर्मलताका नाश करती है, शुभभावलेश्या कर्मकी कालिमाको प्रध्वंस कर देती है। अन्तिम लेश्या सहजानन्द निर्लेश्य पद देनेमें निमित्त भूत है।

कृष्णलेश्या–

आत्मा इस दुर्भावके फंदमें पड कर राग, द्वेषके मद्दसे ग्रसा जाता है, परपरिणति और जड पूजाका दुराग्रह इसीसे आता है, मन दुष्ट और म्लान रहता है, अनन्तानु बन्धीके तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ कषायसे भरित होता है, सदैव भावोंमें निर्दयता बनी रहती है निकल नहीं जाती, यह पापका समाचरण करके उसका कभी पछतावा नहीं करता, यह मांस मदिराका लम्पट होता है, कुत्सित कर्ममें आसक्ति बनी रहती है। इन लक्षणोंसे समन्वित मनुष्य कृष्णलेश्यायुक्त समझना चाहिए।

नीललेश्या–

जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, शोक हो। नृशंसता, क्रूरता, हिंसकता रहती हो, चाण्डाल वृत्ति हो; चोर, मूर्ख, स्तब्ध, औरोंका तिरस्कार करता हो, नीन्दकी अधिकता, कामुकता, मन्दबुद्धि, जडता तथा सत्–असत्में अविवेकी हो, महा आरम्भ, महामूर्च्छा–मोह हो तो समझो कि—इसमें नीललेश्या है।

कापोतीलेश्या–

शोक, भय, ईर्षा, मत्सरभाव, औरोंकी निन्दा, अपनी प्रशंसा करना, कोई अपनी स्तुति करे तो प्रसन्न होना, हानिलाभको न जानना स्व और परमें विपर्यय विवेचना हो, अहंकार-ग्रह ग्रस्त हो; अच्छी, बुरी सब प्रकारकी क्रियाएँ कर डालता हो, अपनी प्रशंसा सुनकर अन्यको सर्वस्व तक अर्पण कर डालता हो, लडाईमें मरनेकी इच्छा रखता हो, अन्यकी यशः कीर्तिका नाश कर डालता हो, इन लक्षणोंसे कापोतीलेश्या समझनी चाहिए।

तेजोलेश्या–

यह पुरुष समदृष्टि होता है, अधिकमात्रामें द्वेष नहीं रखता, औरोंके कल्याण और अहितको सोचता हैं, अपने बुद्धि बलसे युक्त और अनुकूल ज्ञान कर लेता है, किसी अन्यकी शोचनीय दशा पर उसे दया आजाती है, चातुर्य्यता पूर्ण और अनिन्द्य व्यवहार है, ये पीतलेश्याके लक्षण हैं ।

पद्मलेश्या

कर्मोंकी निर्जरा करके पवित्र होनेकी प्रबल इच्छा हो, सुपात्रोंमें सात्विक दान वितरण करके सहजानन्द लूटता हो, जिसका अन्तर और बाह्य अत्यन्त मृदु और सरल हो, आत्मामें सदैव विनय और नम्रता रहती हो, शत्रुओंका प्रेमसे आदर करता हो, आत्म ज्ञानके उदयमें रमना ही जिसका ध्येयहो, सच्चारित्र पालक साधु हो तो समझो कि इसने. नीति युक्त किया है, यह पद्मलेश्याका लक्षण है ।

शुक्ललेश्या

अभिमानका लेश तक न हो, अपने चारित्रका फल मांगनेकी अभिलाषासे निदान न करता हो, पक्षपातका अत्यन्त अभाव हो, सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता हो, रागद्वेषका अत्यन्ताभाव हो, समाधि और अध्यात्मिकतामें स्थायी भाव हो, आस्तिक्यता हो, ये लक्षण शुक्ललेश्याके हैं; ।

तेजोलेश्या, पद्म और शुक्ल ये तीन प्रशस्त लेश्या हैं, क्रमसे संवेगको उत्तम रीतिसे बढानेमें सहायिका हैं,

इन्हें उदाहरणसे समझाते हैं,

चोरोंका एक समुदाय किसी ग्रामको लूट कर भाग गया, तब उस बस्तीके लोकभी उनसे बदला लेनेकी इच्छासे अपने समुदायको संगठित बनाकर चले जा रहे थे उनमें छः आदमी अलग २ छः प्रकृतिके थे । रस्तेमें चलते २, पहले ने यह कहा कि—

[१] हम सब वहां जाकर सारे ग्रामके जीवोंको मार देंगे, उनकी पली हुई चिड़िया तकको भी न छोडेंगे ।

[२] दूसरेने कहा हम उनके पशु पक्षियोंको कुछ न कहेंगे ।

[३] उनकी स्त्रियोंको कुछभी कष्ट न देंगे । क्योंकि औरोंकी बहु बेटिएँ अपने जैसी ही होती हैं ।

[४] पुरुषोंमें भी उनको मारना चाहिए जिनके हाथोंमें शस्त्र हों, निःशस्त्र शत्रुका मारना नीतिविरुद्ध है।

[५] उसी शस्त्र-धारीको मारा जायगा जो हम पर आक्रमण करेगा,

[६] शत्रुको छोडकर भूलकर भी किसी निरपराधके ऊपर हाथ न डाला जाय।

इस प्रकार भिन्न २ विचार भिन्न २ लेश्याओंके द्वारा होते हैं, अनुक्रमसे पवित्रविचारों द्वारा जो कर्मरूपी शत्रुके अतिरिक्त अन्य सबकी रक्षाकरता हो वही नरपुंगव सबमें प्रधान और उत्तम है।

इसी प्रकार भगवान् वीर प्रभुका भी शुक्ललेश्या युक्त ध्यान है, जिसमें निर्दोष शाल्म द्रव्य अर्थात् आत्माका अन्तरंग भाव स्वच्छ है। जिनका पवित्रध्यान चन्द्रमा और शंखकी तरह उज्वलवर्ण है, इस प्रकारके शुक्लध्यानका उपदेश संसारकी आत्माओंके हितार्थ प्रभुने स्वयं किया है ॥ १६ ॥

गुजराती अनुवाद-जेमां राग द्वेषनो त्याग होय, एवा ज्ञानपूर्वक त्याग, वैराग्य, संयम, स्वाभिमान, सहानुभूति विगेरे गुणो होय, एवो धर्म मानव जीवनने उन्नत बनाववा माटे संसारमां सर्वोत्कृष्ट गणाय छे ते धर्मने प्रगट करवाने माटे प्रभुए उपदेश आप्यो के जे अभेद रुपे हतो। वळी ते धर्म प्राणिमात्रने माटे कहेलो हतो। तेनी सिद्धिने माटे तेओए उत्कृष्ट ध्याननो आश्रय लीधो। तेना फल स्वरूपे तेमने केवलज्ञान प्राप्त थयुं। ते पछी पण मन, वचन, कायना योगोनुं निरुंधन करवाना समये सूक्ष्म काय योगने रोकीने शुक्लध्याननो त्रीजो पायो प्राप्त करवानो आरम्भ कर्यो, जे स्थितिमां मन-वचनना व्यापारोने रोकी देवामां आवेछे, तथा काय योगनो पण अर्धो भाग रोकाई जाय छे। आ शुक्लध्याननो त्रीजो पायो तेरमे गुणस्थाने वर्तता जीवोने होय छे। अने जे स्थितिमा मन वचन कायनी अप्रतिपातिरुप निवृत्तिथई जाय छे ते शुक्लध्याननो चोथो पायो छे।

कर्मरहित केवलज्ञानरूपी सूर्यथी पदार्थोनो प्रकाश करवावाला सर्वज्ञ भगवाननुं ज्यारे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयुष्य बाकी रही जाय छे, त्यारे सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति नामे शुक्ल ध्यानने तेओ योग्य बनी जाय छे ते समयनी स्थिति अचिन्त्य होय छे। बादरकाय योगमां स्थिति करीने बादर वचनयोग अने बादर मनोयोगने ते सूक्ष्मतम करे छे। वळी भगवान् काययोग सिवाय वचनयोग, मनोयोगनी स्थिति सूक्ष्म करीने बादर काययोग पण सूक्ष्म करे छे। ते पछी सूक्ष्मकाययोगमा स्थिति करीने क्षणमात्रमां तेज समये वचनयोग अने मनोयोग

ए बन्नेनो सम्यक् प्रकारे निग्रह करे छे। त्यारे ते सूक्ष्म क्रिया ध्यानने साक्षात् ध्यान करवा योग्य बनावी ले छे। अने ते त्यां एक सूक्ष्म काययोगमां स्थिति करीने तेनुं ध्यान करे छे। आ रीते प्रभुनुं आ "सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति" ध्यान छे।

अयोग गुणस्थानना उपान्त्य अर्थात् अन्तसमयना प्रथम समये देवाधिदेवनी मुक्तिरूपी लक्ष्मीने प्रतिबन्धक कर्मोनी प्रकृतिओ शीघ्र नाश पामी जाय छे भगवान् अयोगी परमेष्ठीने ते अयोग नामा गुणस्थानना उपान्त्य समये साक्षात् रूप अने निर्मल "समुच्छिन्नक्रिया" नामे शुक्लध्याननो चोथो पायो प्रगट थाय छे।

ते भगवान् प्रधान धर्म प्रकाशीने प्रधान-उज्ज्वळमां उज्ज्वळ, दोष रहित, उज्ज्वल शंख अने चन्द्रमानी पेठे एकान्त निर्मल सर्वध्यानमां सर्वोत्तम एवुं शुक्ल ध्यान ध्याय छे।

लेश्यानी दृष्टिए पण तेमनी महान् शुक्लेश्या छे।

आत्मामां पुण्य पापने लिप्त करीने पोताना जेवां बनावी ल्ये, तेने लेश्या कहे छे, ते बे जातनी होय छे। ते प्राकृत्ति अने यौगिकी होय छे। प्रकृति कषायना रंगथी रंगी ल्ये छे। भावथी असत् परिणति तथा पर परिणतिरूप छे। योग-अविरति-मिथ्यात्व-कषाय-प्रमादजन्य कर्मसंस्कारोथी भावलेश्या होय छे। के जे पाप अने आस्रवनुं कारण छे।

कापोती तीव्र भाव छे, नीला तीव्रतर अने कृष्णा तीव्रतम भाव छे। आ अशुद्ध विचारोनो क्रम छे। पीता पापनी मन्दतानुं नाम छे, पद्मा मन्दतर अने शुक्ला मन्दतमने कहे छे। अशुभ भाव-लेश्या आत्मानी निर्मलतानो नाश करे छे, शुभ भावलेश्या कर्ममेलनो नाश करे छे, अन्तिम लेश्या सहजानन्द-निर्लेपपद अपाववामां निमित्तभूत छे।

कृष्णलेश्या–

आ दुर्भावनाना फंदमां पडीने जीवने राग-द्वेषना मद्यथी प्रसाय छे, पर परिणति अने पुद्गलपूजा-जडपूजानो दुराग्रह तेना थी आवे छे, मन दुष्ट अने म्लान रहे छे, अनन्तानुबन्धीना तीव्र क्रोध-मान-माया-लोभथी पेरायेलो होय छे, भावोमां थी निर्दयता जती नथी, पाप कार्य करीने तेनो कदी पस्तावो थतो नथी। मांस मदिरानो भोगी होय छे, कुकर्ममां आसक्त होय छे। आ लक्षणो वाळो मनुष्य 'कृष्णलेश्या' वाळो जाणवो।

नीललेश्या–

जेनामा क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-द्वेष-मोह-शोक-भय-जुगुप्सा होय, ध्वंसता क्रूरता–हिंसकता होय, चाण्डालवृत्ति होय, चोर-मूर्ख-स्तब्ध होय, बीजाओनो तिरस्कार करतो होय, निद्रानी अधिकता-कामासक्ति-मंद बुद्धि-जडता होय, सत् असत्मां अविवेकी होय, महाआरम्भ-महामूर्च्छा=मोह होय, आ लक्षणो वाळो जीव नीललेश्या वाळो जाणवो।

कापोती लेश्या–

शोक-भय-ईर्षा-मत्सर-अन्यनी निन्दा, पोतानी प्रशंसा तथा पोतानी कोई प्रशंसा करे तो प्रसन्न थवुं, आत्माना हानि लाभने न समजे, स्व- परमां विपर्यय बुद्धि होय, अहंकारमत्त-सारी नरसी सर्वे प्रकारनी क्रियाओ करी बेसे, पोतानी स्तुति सांभळीने सर्वस्व पण आपी दे, लडाईमां मरवानी इच्छा राखे। आ लक्षणो वाळो जीव कापोती लेश्या वाळो समजवो।

तेजोलेश्या–

आ लेश्यावाळो समदृष्टि होय छे, अधिक मात्रामां द्वेष नथी करतो, अन्यना कल्याण अकल्याणनो विचार करे छे। पोताना बुद्धिबलथी युक्त अयुक्तनुं ज्ञान विचारे छे। कोई अन्यनी शोचनीय दशा पर तेने दया आवे छे। चातुर्यतापूर्ण तेमज अनिंद्य व्यापार होय छे। आ पीतलेश्याना लक्षण छे।

पद्मलेश्या–

कर्मनी निर्जरा करीने पवित्र तथा कर्मरहित बनवानी इच्छा होय। सुपात्रे दान दईने सहजानन्द लूटे। आन्तर तेमज बाह्य व्यवहार जेनो अत्यन्त मृदु अने सरल होय। आत्मामां हमेशां विनय अने नम्रता होय। शत्रुपर पण प्रेम राखे। आत्मज्ञान प्राप्तिनो जेनो ध्येय होय। सच्चरित्र पालक साधक होय, नीति युक्त क्रियावन्त होय। आ पद्मलेश्या वाळानां लक्षणो छे।

शुक्लेश्या–

अभिमान लेशमात्र पण न होय, पोताना चारित्रनुं फळ मागवानी अभिलाषारूप निदान न करे, निष्पक्षपाती होय, सम्यक् ज्ञाननी पूर्णता होय, राग द्वेषनो अत्यन्त अभाव होय, समाधि तेमज अध्यात्मिकतामां स्थिर होय, आस्तिक्य होय, आ लक्षणो शुक्लेश्याना जाणवा।

तेजो, पद्म अने शुक्ल ए त्रण प्रशस्त लेश्या छे, क्रमे करीने संवेगने उत्तमरीते वधारवामां सहायरूप छे।

लेश्याओने उदाहरणथी समजावे छे—

चोरोनो एक समुदाय कोई गामने लूंटीने चाल्यो गयो त्यारे ते गामना लोको तेनो बदलो लेवानी इच्छाए संगठित बनीने चाल्या जाय छे। ते मां छ माणसो जुदी जुदी छ प्रकृति ना हता, रस्तामां चालता चालता पहेलाए कह्युं के—

(१) आपणे त्यां जईने आखा गामना जीवोनो नाश करी नाखीशुं, तेमना पाळेलां पक्षिओने पण नहि छोडीशुं

(२) बीजाए कह्युंके आपणे तेमना पशु पक्षिओने कंई ईजा नहि करीए।

(३) त्रीजाए कह्युं के आपणे तेमनी स्त्रीओने कोई पण जातनुं कष्ट नहि आपिए। कारणके अन्यनी बहु दीकरीओ आपणी बहु दीकरीओ जेवी छे।

(४) चोथाए कह्युं के पुरुषोमां पण जेना हाथमां शस्त्र होय तेनेज मारवा जोइए, निरशस्त्र शत्रुने मारवा नीति विरुद्ध छे।

(५) पांचमाए कह्युं के शस्त्रधारिओमां पण जेओ आपणा पर आक्रमण करे तेनेज मारवा।

(६) छट्ठाए कह्युंके शत्रु सिवाय भूलथी पण कोई निरपराधीने न मराय।

आ रीते जुदा जुदा विचारो जुदी जुदी लेश्याओ द्वारा थाय छे। अनुक्रमे पवित्र विचारो द्वारा जे कर्मरूपी शत्रु सिवाय बीजा बधानी रक्षा करे ते नरपुंगव सर्वमां प्रधान अने उत्तम छे।

आ रीते भगवान् वीरप्रभुनुं पण शुक्ललेश्या युक्त ध्यान छे। जेमां आत्माना अन्तरंग भाव स्वच्छ होय छे, तेमनुं पवित्र ध्यान शंखनी पेठे उज्वळ वर्णेलुं छे। आ रीते जगत् जीवोना हितार्थे शुक्लध्याननो उपदेश पण वीर प्रभुथीए करेल छे १६

मूल

अणुत्तरग्गं परमं महेसी,
असेसकम्मं स विसोहइत्ता।
सिद्धिं गते साइमणंतपत्ते,
नाणेण सीलेण य दंसणेण ॥ १७ ॥

(संस्कृतच्छाया)

अनुत्तराख्यां परमां महर्षिः, अशेषकर्म स विशोध्य ।
सिद्धिं गतः साद्यनन्तप्राप्तः, ज्ञानेन शीलेन च दर्शनेन ॥ १७ ॥

सं० टीका—तथा चासौ भगवान् शैलेश्यवस्थाऽऽपादितशुक्लध्यानस्य चतुर्थभेदानन्तरं साद्यपर्यवसानां सिद्धिं मोक्षं । "योग्यभेदेऽन्त्ययोने मोक्ष इति शब्दस्तोममहानिधिः" । "मोक्खो, निरोधो, निब्बाणं, दीपो, तण्हक्खयो, परं, । ताणं, लेणं, अरूपं च, सन्तं, सच्चं, अनालयं । असंखतं, सिवं, अमतं, सुदुद्दसं, परायणं, सरणं, अनीतिकं, तथा । अनासवं, धुवं, अनिदस्सना, कता, अपलोकितं, निपुणं, अनन्तं, अक्खरं, दुक्खक्खयो अव्यापज्झं च, विवट्टं, खेमं, केवलं, । अपवग्गो, विरागो, च, पणीतं, अच्चुतं, पदं । योगक्खेमो, पारं पि, मुत्ति, सन्ति, विसुद्धि, यो । विमुत्य,ऽसंखताधातु, सुद्धि, निब्बुतियो (सियुं)" इत्यभिधानप्पदीपिका । "मोक्षस्तु मुक्तियाटलिमोचने" इति मेदिनी" । गतिं मोक्षगतिं या पञ्चमी तां प्राप्तः । सिद्धिगतिमेव विशिनष्टि, अनुत्तरा चासौ सर्वोत्तमत्वात्, अग्र्या च लोकाग्रभागे व्यवस्थितत्वादनुत्तराऽग्र्या तां परमां प्रधानां गतिं चेति । महर्षि=रसावत्यन्तोग्रतपो विशेषो वा सर्वज्ञः । "महर्षिः सर्वज्ञेषु, विद्यासम्प्रदायप्रवर्तकेषु चेति, शब्दार्थचिन्तामणिः" । "महेसी, च विनायको, समन्तचक्खु, सब्बञ्ञु, इत्यभिधानप्पदीपिका" । निष्प्रदेहत्वादशेषं कर्म ज्ञानावरणादिकं विशोध्यापनीय दूरीकृत्य च विशिष्टेन ज्ञानेन दर्शनेन शीलेन क्षायिकेण तां सिद्धिं गतिं प्राप्त इति, ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—[स] वे [महेसी] महर्षि भगवान् [असेसकम्मं] सब कर्मोंको [विसोहइत्ता] भलिभांति क्षय करके [अणुत्तरग्गं] सब प्रकारसे प्रधान

लोकके अग्रभागमें [गते] जा विराजे, [साइमणंत] और आदि-अनन्त, तथा [परमं] उत्कृष्ट [सिद्धिं] मोक्षको [नाणेण] ज्ञान [सीलेण] चरित्र [य] और [दंसणे] दर्शनके द्वारा प्राप्त हुए ॥ १७ ॥

भावार्थ—भगवान्‌ने क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन और क्षायिकचारित्र द्वारा सर्वोत्तम लोकाग्रभागमें धारण करनेवाली मुक्तिको सकल कर्मोंका अन्त करके उसे पाया, वह मुक्ति सादि अनन्त है, कई लोक मोक्षसे वापिस आना मानते हैं; किन्तु, वह मुक्ति संगत नहीं है, क्योंकि संसारमें रुलानेवाले राग-द्वेष-क्रोध-मान-मायादि विकार हैं, जहांतक ये विकार हैं वहांतक मोक्ष नहीं, और मुक्तात्मामें कोई विकार नहीं है। अतः विकार रहित आत्मा संसारमें क्योंकर पुनरावर्तन कर सकता है? यदि उसमें रागादिका सद्भाव मानाजाय तो वह मोक्ष नहीं, यदि मोक्ष होनेपर पुनः अवतरित होते हों तो वहभी ठीक नहीं, क्योंकि विकारोंको विकारही पैदा कर सकते हैं, जब मुक्तात्मा निर्विकार है तो विकारकी उत्पत्ति क्योंकर हो सकती है ॥१७॥

भाषा-टीका—भगवान् शैलेसी अवस्थासे शुक्लध्यानके चतुर्थ भेदको पानेके अनन्तर आदि अनन्त मोक्षरूप अपुनरावृत्ति धाममें जा विराजे। लोकके अग्रभागमें व्यवस्थित होनेसे वह परमप्रधान है, उसे उस सर्वज्ञ-महर्षि ने देहको तपसे तपा कर ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मोंका विशोधन करके (वह भी अपने निजी पुरुषार्थ से,) फिर ज्ञान, दर्शन चरित्र के द्वारा सिद्धि गति-मोक्षको पाया है।

आकाश सबमें अनन्त है, उस पूर्ण लोकालोकाकाशमें सिद्ध परमात्माका ज्ञान घनीभूत होकर भरा पड़ा है। उस सिद्धावस्थाके होने पर वे निद्रा, तन्द्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीड़ा, संशयसे रहित हो जाते हैं। तथा शोक, मोह, जरा, जन्म, मरण, आदि भी नहीं रहते है। क्षुधा, तृषा, खेद, मद, उन्माद, मूर्च्छा, मत्सर का भी अत्यन्ताभाव है। इनकि आत्मामें अब घटाबढी भी नहीं है, इनका आत्म वैभव कल्पनातीत है। सिद्ध भगवान् शरीर रहित हैं, इन्द्रिय रहित हैं, विकल्प, संकल्प नहीं हैं, अनन्तवीर्यत्व प्राप्त हैं, अपने स्वभावसे कभी स्खलित नहीं होते। सहज और नित्य आनन्दसे आनन्द रूप हैं। जिनके सुखमें कभी विच्छेद नहीं होता है। परमपद में विराजित हैं, ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित हैं। परिपूर्ण, सनातन, संसारकी खटपटसे रहित हैं एवं जिनको अब कुछ भी करना धरना नहीं है, अचल स्थिति है, आत्म प्रदेशों की क्रियासे रहित हैं। सन्तृप्त हैं,

तृष्णा रहित हैं, सदा तीनें लोकके शिखर पर विराजित हैं। अनुपमेय हैं, आकाश और काल कि तरह प्रभु अनन्त हैं, और वचन अगोचर हैं ॥ १७ ॥

गुजराती अनुवाद—भगवान् शैलेशी अवस्थाथी शुक्लध्यानना चोथा भेदने प्राप्त कर्या पछी आदि अनन्त मोक्षरूप अपुनरावृत्ति स्थानमां जइ विराज्या, ते मोटा ऋषीश्वर [महावीर देव] समस्त कर्म खपावीने पोतानाज पुरुषार्थथी ज्ञान, दर्शन, चारित्रे करी, सर्वोत्तम लोकने अग्र भागे उत्कृष्ट सिद्धगतिने पाम्या।

आकाश अनन्त छे, ते पूर्ण लोकालोक-आकाशमां सिद्ध-परमात्मानुं ज्ञान भर्युं पड्युं छे, ते सिद्धावस्थामां निद्रा, तन्द्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीडा, संशय नथी, शोक-मोह-जन्म-जरा-मरणादि पण नथी; क्षुधा-तृषा-खेद-मद-उन्माद-मूर्छा-मत्सरनो अत्यन्त अभाव छे; तेमनो आत्मा अगुरु लघुत्व गुणने प्राप्त थयो छे, तेमनो आत्मवैभव कल्पनातीत छे, सिद्ध भगवान् शरीर-इन्द्रिय-सङ्कल्प-विकल्पथी रहित छे, अनन्त वीर्यवान् छे, स्व-स्वभावथी कदी पण स्खलित थता नथी, सहजानन्द प्राप्त छे, निराबाध सुखवाळा छे, परम पदमां विराजमान छे, ज्ञान-प्रकाशथी प्रकाशित छे, सदैव नित्य-परिपूर्ण छे, सनातन छे, संसारना प्रपंचोथी रहित छे, कृतकृत्य छे, अचल छे, अरुज छे, अक्षय छे, आत्मप्रदेशोनी क्रियाथी रहित छे, सन्तुष्ट छे, तृष्णा रहित छे, त्रणलोकना अग्रभागे विराजे छे, अनुपमेय छे, आकाश अने काळनी पेठे प्रभु अनन्त छे, तेमज वचनातीत छे ॥ १७ ॥

मूल

रुक्खेसु णाते जह सामली वा,
जस्सि रइं वेययंती सुवण्णा।
वणेसु वा णंदणमाहु सेट्ठं,
नाणेण सीलेण य भूतिपन्ने ॥ १८ ॥

संस्कृतच्छाया

वृक्षेषु ज्ञातो यथा शाल्मली वा, यस्मिन् रतिं वेदयन्ति सुपर्णाः।
वनेषु वा नन्दनमाहुः श्रेष्ठं, ज्ञानेन शीलेन च भूतिप्रज्ञः ॥ १८ ॥

सं० टीका—पुनरपि वीरस्य स्तुतिं दृष्टान्तद्वारेणाह, वृक्षेषु मध्ये यथा ज्ञातः प्रसिद्धो देवकुरुव्यवस्थितः शाल्मलीवृक्षः, ▪ च भुवन-

पतिदेवानां क्रीडास्थानम्, "शाल्मले शाल्मलीवृक्ष इति हैमः"। यस्मिन् वृक्षे व्यवस्थिता अन्यतश्चागत्य सुपर्णा=भुवनपतिविशेषा देवा रतिं=रममाणा रतिं रमणं क्रीडां वेदयन्त्यनुभवन्तीति । वनेषु मध्ये नन्दनं=देवानां क्रीडास्थानं श्रेष्ठम् भवति "नन्दनं, मिस्सकं, चित्तलता, फारुसकं, वना इत्यभिधानप्पदीपिका" । एवं भगवान् वीरोऽपि केवलाख्येन ज्ञानेन समस्तपदार्थाविर्भावकेन शीलेन=चारित्रेण यथाख्यातेन स्वभावेन सहजधर्म्मविशेषेण सद्वृत्तेन साधुचरित्रेण प्रधानस्तथा भूतिप्रज्ञः=प्रवृद्धज्ञानोऽनन्तज्ञानो भगवान् इति भावः ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—[जह] जैसे [रुक्खेसु] वृक्षोंमें [सामली] शाल्मली वृक्ष [वा] तथा [वणेसु] वनोंमें [नंदणं] नन्दनवन [सेट्ठं] श्रेष्ठ [णाए] समझा जाता है [जस्सिं] जिसमें कि-[सुवण्णा] सुपर्ण-कुमार नामक भुवनवासी देव [रतिं] आराम क्रीडाका [वेदयंती] अनुभव करते हैं उसी प्रकार भगवान् [नाणेण] ज्ञानसे [य] और [सीलेण] चरित्रसे श्रेष्ठ तथा [भूइपन्ने] प्रभूत ज्ञानशाली [आहु] कहलाते थे ॥ १८ ॥

भावार्थ—वृक्षोंमें सेमलवृक्ष सुंदर सघन छाया युक्त होता है, यह वृक्ष पृथ्वीकायिक और नित्य है । तथा संसारके समस्त वनोंमें नन्दनवन खूबसूरत है, क्योंकि कथित दोनों स्थानोंमें रहनेवाले तथा बाहरसे आनेवाले सुपर्णकुमार जातिके भुवनवासी देव, आनन्दमें आमोदप्रमोदसे अनेकप्रकारका विलास करते हैं, उसीप्रकार भगवान् महावीर प्रभु भी सबमें उत्तम थे, कारण उस समय प्रभुके मुकाबलेमें उनके ज्ञान और चरित्रकी बराबरी करनेवाला कोई भी व्यक्ति न था, इसीलिए सेमल और नन्दनवनकी उपमा देकर भगवानकि स्तुति की गई है ॥१८॥

भाषा-टीका—शाल्मली वृक्षकी शीतल छाया होनेसे वह सब वृक्षोंमें श्रेष्ठ है, और वह भुवनवासी देवोंका क्रीडा स्थल है, । वनोंमें जिसप्रकार नन्दनवन उत्तम वन है, इसी प्रकार भगवान् महावीर प्रभु भी केवलज्ञानके कारण श्रेष्ठ हैं, जिससे सर्व्वपदार्थोंका उन्हें प्रत्यक्ष आविर्भाव है । ज्ञानके साथ साथ उनमें यथाख्यात चरित्रमें भी पूर्णश्रेष्ठता प्राप्त है । जोकि आत्माका सहज स्वभाव समन्वित गुण है ॥ १८ ॥

गुजराती अनुवाद—शीतल छाया होवाने लीधे शाल्मली वृक्ष सर्व वृक्षोथी श्रेष्ठ छे, ते भुवनवासी देवोनुं क्रीडा स्थान छे, वनोमां जेम नन्दनवन श्रेष्ठ छे, तेमज भगवान् महावीर पण केवलज्ञाने करी सर्वोत्तम छे, जेनाथी सर्व पदार्थोनो प्रत्यक्ष आविर्भाव तेमने थाय छे, ज्ञाननी साथे यथाख्यात चरित्रमां पण तेओ श्रेष्ठ छे के जे आत्मानो सहज स्वभाव छे ॥ १८ ॥

मूल

थणियं व सद्दाण अणुत्तरे उ,
चंदो व ताराण महाणुभावे ।
गंधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठं,
एवं मुणीणं अपडिन्नमाहु ॥ १९ ॥

संस्कृतच्छाया

स्तनितं वा शब्दानामनुत्तरं तु, चन्द्रो वा ताराणां महानुभावः ।
गन्धेषु वा चन्दनमाहुः श्रेष्ठम्, एवं मुनीनामप्रतिज्ञमाहुः ॥ १९ ॥

सं० टीका—यथा च शब्दानां मध्ये स्तनितं मेघगर्जितं "स्तनितं गर्जितं मेघनिर्घोषो रसितादि चेत्यमरः" । तदनुत्तरं प्रधानं तुशब्दो विशेषणार्थः, आह च, "समुच्चयेऽवधारणे, नियोगे, प्रशंसायां, उत्कशंकानिवृत्तौ, पादपूरणे, विशेषणार्थे चेति कोषः" । तथा च तारकाणां=नक्षत्रगणानां मध्ये चन्द्रो महानुभावः, "नक्खत्तं, जोति, भं, तारा, (अपुमे) तारको इत्यभिधानप्पदीपिका" । सकलरजोनिवृत्तिकारिण्या कान्त्या मनोरमः श्रेष्ठः । गन्धेषु चेति गुणगुणिनोरभेदान्मतुब्लोपाद्वा, गन्धवत्सु मध्ये यथा चंदनं मलयजं गोशीर्षकाख्यं "चन्नं (निथियं) गंधसारो मलयजो (प्पथ)" "गोसीसं तलपण्णिकं, (पुमे वा) हरिचंदनं" "इत्यभिधानप्पदीपिका" । मलयजं मलयपर्वतादौ-जायते तद् वा तज्ज्ञाः श्रेष्ठमाहुः । एवं मुनीनां महर्षीणां च मध्ये भगवन्तं । पुनश्च नास्य प्रतिज्ञा इहलोकपरलोकानां शंसिनी

विपत इत्यमतिज्ञः, इहलोकपरलोकाशंसारहितप्रतिज्ञस्तमेवंभूतं महावीरम् श्रेष्ठमाहुरिति ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—[व] जैसे [थणिय] मेघकी गर्जना [सद्दाण] सब शब्दोंमें [अणुत्तर उ] प्रधान है—सबसे बढकर है, और [व] जैसे [चंदो] चन्द्रमा [ताराण] सब तारोंमें [महाणुभावे] उज्वल और मनोहर है, [वा] इसीप्रकार [गंधेसु] सब सुगन्धित पदार्थोंमें [चंदणं] चन्दनको [सेट्ठं] अच्छा [आहु] कहा है [एवं] इसी प्रकार भगवान्‌को भी [मुणीणं] सब मुनिओंमें [अपडिण्णं] इस लोक और परलोककी प्रतिज्ञा-कामनासे विरक्त [आहु] कहा है ॥ १९ ॥

भावार्थ—जैसे सब शब्दोंमें मेघकी गर्जनाका शब्द बडा प्रबल होता है, सबके सब शब्द उससे नीची कक्षामें हैं, तथा सब नक्षत्र मण्डलमें चांद सबमें उज्वल और सुन्दर है, और समस्त सुगन्धित पदार्थोंमें मलयज चन्दन सुरभि और उत्तम है, उसी प्रकार समस्त मुनिओंमें भगवान् महावीर उस समय सबमें प्रधान थे, क्योंकि उनमें आत्मासे भिन्न इसलोक और परलोक संबंधी किसी भी विषयकी कामना न थी ॥ १९ ॥

भाषा-टीका—शब्दोंमें मेघकी गर्जनाका शब्द सबसे बडा होता है, असंख्य तारों और नक्षत्रोंमें चंद्रमा तेजस्वी शीतल और महानुभाव है, सुगन्ध वस्तुओंमें मलयवनका गोशीर्ष चन्दन श्रेष्ठ होता है । इसी प्रकार मुनि महर्षिगणोंमें भगवान् सबमें विलक्षण श्रेष्ठतापूर्ण थे । उनकी सब प्रतिज्ञाएँ इस लोक और परलोक सम्बन्धी विषयाकांक्षाओंसे रहित थीं ॥ १९ ॥

गुजराती अनुवाद—शब्दोमां जेम मेघनी गर्जनानो शब्द, ताराओने विषे जेम चन्द्रमा, अने सुगंधीओमां जेम गोशीर्ष चन्दन श्रेष्ठ छे, तेम मुनि महर्षिगणोमां भगवान् श्रीमहावीर श्रेष्ठ छे, तेमनी सर्व प्रतिज्ञाओ आ लोक अने परलोक सम्बन्धीनी वांछना रहित छे ॥ १९ ॥

मूल

जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे,
नागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठे ।
खोओदए वा रस वेजयंते,
तवोवहाणे मुणि वेजयंते ॥ २० ॥

संस्कृतच्छाया

यथा स्वयम्भूरुदधीनां श्रेष्ठः, नागेषु वा धरणेन्द्रमाहु श्रेष्ठम् । क्षोदोदकं वा रसं वैजयन्तः, तप उपधानेन मुनिर्वैजयन्तः ॥ २० ॥

सं० टीका—यथा स्वयं भवंतीति स्वयंभुवो देवास्तत्रागत्य रमन्त इति, स्वयंभूरमणस्तदेवोदधिः समुद्राणां मध्ये यथा स्वयंभूरमणः समुद्रः समस्तद्वीपसागरपर्य्यन्तवर्ती श्रेष्ठः प्रधानो महत्तरः । नागेषु च भुवनपतिविशेषेषु मध्ये धरणेन्द्रं नागानामिन्द्रं यथा श्रेष्ठमाहुः । तथेक्षुरस इवोदकं जलं यस्य सः इक्षुरसोदकः, ॥ यथा रसमाश्रित्येति वृद्धाः, वैजयन्तःप्रधानः । स्वगुणैः समुद्राणां पताकेवोपरि स्वयंभूर्धरणेन्द्रो रसश्च प्रधानः समन्वितस्तथैव तप उपधानेन विशिष्टतपोविशेषेण मनुते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिर्भगवान् वैजयन्तः प्रधानः समस्तलोकस्य महातपसा वैजयन्तीव सर्वोपरिव्यवस्थितः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—[जहा] जैसे [सयंभू] स्वयंभूरमण समुद्र [उदहीण] सब समुद्रोंमें [सेट्ठे] श्रेष्ठ है [वा] तथा [धरणिंदे] धरणेन्द्र [नागेसु] नागकुमार जातिके भवनवासी देवोंमें [सेट्ठ] अच्छे हैं [वा] और [खो ओदए] इक्षुरस [रसवेजयंते] सब रसोंमें मुख्य है, उसी प्रकार [तवोवहाणे] उत्तम तपके तपनेवालोंमें [मुनि] भगवान्‌को [वेजयंते] उत्तम [आहु] कहते हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—सब समुद्रोंमें,स्वयंभूरमण प्रधान है, क्योंकि यहां अनेक प्रकारके देव आकर क्रीडा करते हैं, तथा अपने चित्तको प्रसन्न करते हैं, उसी प्रकार सब ऋषि-मुनिओंमें भगवान् सर्वोत्तम थे, क्योंकि वे अज्ञात विषयोंका विशेष ज्ञान कराकर लोगोंका चित्त सन्तुष्ट करते थे। तथा नागकुमार-भुवनपतिओंमें धरणेन्द्र प्रधान है अथवा समस्त रसोंमें इक्षुरस अच्छा है उसी प्रकार भगवान् भी सबमें अच्छे थे ॥ २० ॥

भाषा-टीका—संसार भरके समुद्रोंमें स्वयम्भूरमण समुद्र सबमें प्रधान है, जिसके तटपर देवगण वायुसेवन करने आते हैं । भुवनपती देवोंमें, धरणेन्द्र देवराज प्रधान है । मीठे और सरस पदार्थोंमें इक्षुका रस

शान्तिकर और स्वादिष्ट वस्तु है, इसी प्रकार विशेष तपसे जगत्की तीनों कालकी अवस्थाओंको नित्य और परिवर्तन शील माननेवालोंमें मुनि-भगवान् महावीर प्रभु श्रीष्वजाकी तरह समस्त लोकमें महान् तपसे तप कर निकले हुए कुंदनकी तरह सुशोभित थे ॥ २० ॥

गुजराती अनुवाद—सर्व समुद्रोमां स्वयंभूरमण समुद्र मोटो छे, तेन कांठा पर देवताओ पादसेवन करवाने आवे छे, भुवनपति देवोमां धरणेन्द्र देवराज प्रधान छे, मीठा अने सरस पदार्थोमां शेरडीना रस शान्तिकर तेमज मीठ तथा स्वादिष्ट छे, तेवीज रीते तप उपधानथी जगत्नी त्रणे काळनी अवस्थाओने नित्य तेमज परिवर्तनशील माननाराओमां मुनींद्र श्री भगवान् महावीर प्रभु समस्त लोकमां शुद्ध कुन्दननी माफक सुशोभित छे ॥ २० ॥

मूल

हत्थीसु एरावणमाहु णाए,
सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा ।
पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवो,
णिव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ॥ २१ ॥

(संस्कृतच्छाया)

हस्तिष्वैरावणमाहुर्ज्ञातं, सिंहो मृगाणां सलिलानां गंगा ।
पक्षिषु वा गरुत्मान् वेणुदेवो, निर्वाणवादिनामिहज्ञातपुत्रः ॥२१॥

सं० टीका—हस्तिषु=करिवरेषु मध्ये, यथैरावतं=शक्रवाहनं ज्ञातं प्रसिद्धं "ऐरावतोऽभ्रमातंगैरावणाभ्रमुवल्लभाः इत्यमरः" । "कुंजरो, वारणो हत्थीत्यभिधानप्पदीपिका" । दृष्टान्तभूतं वा प्रधानमाहुस्तज्ज्ञाः, अथवा हत्थं रत्नं रत्नत्रयं तदस्यास्तीति हत्थी तेषु हत्थिषु, "हत्थो पाणिम्हि, रतने, गणे, सोण्डाय, भन्तरे; इति अभिधानप्पदीपिका" । ऐरावतो नागरंगसदृच्छोभनीयः । अथवा हस्तो नागस्तोयदस्तन्मध्य ऐरावत इचेति । अथवा भूतवस्तुहत्थिषु हि ऐरावतो नारंगो नारंगसदृशः

सुगन्धितरससमन्वितत्वात्। "ऐरावतो नागरंगो नादेयी भूमिजम्बुका इत्यमरः" । तथा मृगाणां हरिणादिवन्यजन्तूनां मध्ये यथा सिंहः केसरी, तथा भरतापेक्षया। सलिलानां नदीनां यथा गंगाजलं प्रधानभावमनुभवति नैर्मल्यत्वात्। पक्षिषु=पतत्रिषु यथा गरुत्मान् वेणुदेवाऽपरनामाप्राधान्येन व्यवस्थितः कथितः। एवं निर्वाणं सिद्धक्षेत्राख्यं कर्म्मणामत्यन्ताभावलक्षणं वा स्वरूपतस्तदुपायप्राप्तिर्हेतुतो वा वादितुं शीलं येषां ते तथा, तेषां मध्ये ज्ञाताः क्षत्रियास्तत्पुत्रोऽपत्यं ज्ञातपुत्रः श्रीमन्महावीरप्रभुरेव प्रधान इति, यथावस्थितनिर्वाणत्वादिति भावः ॥२१॥

अन्वयार्थ—जैसे [हत्थीसु] सब हाथियोंमें [एरावणं] ऐरावत हाथी [णायं] प्रधान है [मिगाणं] पशुओंमें [सीहो] सिंह जैसे प्रधान है, [सलिलाण] पानीकी जातिमें [गंगा] महागंगाका पानी निर्मलतामें प्रधान है [वा] और [पक्खीसु] उड़नेवाले पक्षियोंमें [वेणुदेवे] वेणुदेव नामक [गरुले] गरुड पक्षी प्रधान है, उसी प्रकार [इह] समस्त संसारमें [निव्वाणवादीण] मोक्षके माननेवालोंके अन्तर्गत [णायपुत्ते] ज्ञातपुत्रमहावीरस्वामीको प्रधान [आहु] कहते थे ॥ २१ ॥

भावार्थ—ऐरावत हाथी सब हाथियोंमें प्रधान है, उसका सुन्दर श्वेतरंग है, श्रीवृद्धि करता है, जब भगवान् गर्भमें आये थे तबसे ही महाराजा सिद्धार्थके घर श्रीवृद्धि हुई थी जिससे प्रभुका नाम वर्धमान रक्खा गया था, अतः सब हाथियोंमें ऐरावत हाथीके समान, पशुओंमें सिंहके सदृश, जलोंमें महागंगाके पानीकी तरह और पक्षियोंमें गरुड पक्षीकी भांति भगवान् समस्त मोक्षवादिओंमें प्रमुख थे, क्योंकि भगवानने ही मोक्षका यथार्थ स्वरूप और उसका उपाय तथा मार्ग बताया था ॥ २१ ॥

भाषा-टीका—जैसे ऊंचे तथा सुन्दर हाथियोंमें ऐरावत हाथी निष्कलंक और अच्छा होता है, और वह इन्द्रकी सवारीके काम आनेवाली सुन्दर वस्तु है। इसी प्रकार प्रभु भी ज्ञान दर्शन, चरित्ररूप जो तीन रत्न हैं उनमें हाथीकी तरह ऊंचे हैं। या वे तीनों रत्न आत्माको नरंगीकी तरह मनोहर और उपादेय हैं, अथवा हस्ती नाम बादलका भी है, अथवा जिनकी अमोघ वाणीकी वर्षा

ऐरावतकी तरह उच्च कोटिकी है। अथवा हाथमें जिस प्रकार नारंगी सुन्दर लगती है उसी तरह प्रभु भी जगती-तल पर नारंगीकी तरह भव्य प्राणिओंके हृदयोंमें सुन्दर लगते हैं। हरिणादिक जंगली जीवोंमें सिंह बलिष्ट होता है, इसी तरह भरत क्षेत्रकी अपेक्षा मानवसृष्टिमें वीर प्रभु सिंहकी तरह आत्म-बलसे बलवान् थे, जैसे सब प्रकारके जलोंमें गंगाजल अनेक औषधियोंसे मिश्रित होनेके कारण निर्म्मल है, ऐसे ही प्रभु भी कर्म्म-लेपसे अलिप्त होनेसे अत्यन्त स्वच्छ हैं। और पक्षिओंमें गरुड नामक वेणुदेव प्रधान है, इसी प्रकार निर्वाण अर्थात् जो सिद्धक्षेत्र है जहां कर्म्म-मलका अत्यन्त अभाव है, उसका स्वरूप बतानेमें तथा उसके पानेके उपाय बतानेमें ज्ञातपुत्र महावीर प्रभु सर्व्वोपरि हैं। उनका निर्वाण सबमें उच्चकोटिका और असाध्य है ॥ २१ ॥

गुजराती अनुवाद—जेम ऊंचा तथा सुन्दर हाथिओमां ऐरावत हाथी निष्कलंक अने उत्तम छे, केमके तेनापर इन्द्र सवारी करे छे, अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप जे त्रण रत्नो छे, तेमां प्रभु पण हाथीनी पेठे जे ऊंचा छे, अथवा ते रत्नत्रय मनोहर तेमज उपादेय छे, अथवा हस्तिनो अर्थ वादल पण थाय छे, जेमनी वाणी अमोघ वाणी छे, अने ऐरावत हाथीनी पेठे उच्च कोटिनी छे, अथवा जेम नारंगी हाथमां सुंदर लागे छे तेम प्रभु पण भूतल पर नारंगीनी जेम भव्य प्राणीओना स्वच्छ हृदयने सुंदर लागे छे, मृगादिक जनावरोमां सिंह बलिष्ठ होय छे, तेम भरतक्षेत्रनी अपेक्षाए मानव सृष्टिमां श्रीवीरप्रभु कर्मरूप मृगोने जीतवा माटे सिंह समान आत्मबलमां बलवान् छे, अनेक प्रकारनी औषधि-युक्त होवाने लीधे गंगाजल सर्व जलमां निर्मल छे, तेमज प्रभु पण कर्म लेपथी अलिप्त होवाने लीधे अत्यन्त विशुद्ध छे, पक्षिओने विषे गरुड [वेणुदेव] प्रधान छे, तेवीज रीते निर्वाण (सिद्ध) क्षेत्र के ज्यां कर्ममळनो अत्यन्त अभाव छे, तेनुं स्वरूप बतावबामां तथा तेनी प्राप्तिनो उपाय बतावबामां ज्ञातपुत्र महावीर प्रभु सर्वोपरि छे ॥२१॥

मूल

जोहेसु णाए जह वीससेणे,
पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु।
खत्तीणसेट्ठे जह दंतवक्के,
इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ॥ २२ ॥

भावार्थ—कृष्ण-वासुदेवसे बढकर अन्य कोई योद्धा नहीं है, गन्धयुक्त फूलोंमें कमल अच्छा होता है, समस्त भूमिके क्षत्रियोंमें चक्रवर्ती मुख्य कहलाता है, इसी भांति भगवान्-महावीर उस समयके सब ऋषि-मुनिओंमें सर्वश्रेष्ठ थे ॥ २२ ॥

भाषा-टीका—लडाके वीरोंमें पुष्कल हाथी, घोडे रथ पैदल आदि चतुरंगीसेना का आधिपत्य भोक्ता अर्धचक्री वासुदेव कृष्ण प्रधान होता है। फूलोंमें हजार पंखुडियोंवाला अरविंद नामक कमल श्रेष्ठ है। सताए गए वे मनुष्य जिसके कि-शत्रुओंने हृदयके सैंकडों टुकडे कर डाले हैं। तथा उन (कर्म रूपी) शत्रुओंसे जो सुरक्षित रखनेवाला हो वही क्षत्रिय होता है। उन्हींको दीप्तिमान् राजा कहा जाता है। उनमें उपशान्त गुण प्रधान होता है जिसके कथन मात्रसे शत्रु शिथिल पड जाते हैं वही चक्रवर्ती भी होता है अत एव वह सबमें मुख्य है। इसी प्रकार इन सुन्दर दृष्टान्तोंके जिनपर अनायासमें ही घटाया जाता हो ऐसे वे हमारे परम पवित्र वर्धमानस्वामी अन्तिम जिन-भगवान् सब ऋषिमहर्षियोंमें श्रेष्ठ थे ॥ २२ ॥

गुजराती अनुवाद—योद्धाओमां गज-अश्व-रथ-पायदल, ए चतुरंगी सेनानो अधिपति अर्ध चक्रवर्ती वासुदेवकृष्ण सर्वोत्तम छे, फूलोमां हजार पांखडीवाळुं अरविंद कमल श्रेष्ठ छे, शत्रु (कर्मरूपी शत्रु) थी रक्षा करनार क्षत्रिय कहेवाय छे, तेने दीप्तिमान् राजा कहे छे, तेनामां उपशान्त रस प्रधान होय छे, जेना कथन मात्र थी शत्रु शिथिल थई जाय छे, ते चक्रवर्तीज होय छे, ते सर्वोत्तम छे, तेवीज रीते आवा सुन्दर-दृष्टान्तो जेवा पर घटी शके ते अमारा परम पवित्र, पतित पावन, जगदुद्धारक वर्धमान भगवान् अन्तिम जिन सर्व ऋषिओमां श्रेष्ठ छे ॥ २२ ॥

मूल

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं,
सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति।
तवेसु वा उत्तमबंभचेरं,
लोगुत्तमे समणे णायपुत्ते ॥ २३ ॥

संस्कृतच्छाया

दानानां श्रेष्ठं अभयप्रदानं, सत्येषु वाऽनवद्यं वदन्ति ।
तपस्सु वोत्तमं ब्रह्मचर्य्यं, लोकोत्तमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः ॥ २३ ॥

सं० टीका—तथा च सपरानुमहार्थमर्थिने दीयत इति दानं, अथवा स्व-स्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोपादानं दानं, यद्वा श्रद्धा भक्तितया परिग्रहममत्वत्यागभावेन कर्म्मनिर्जराऽर्थं चानुकम्पया यद्दीयते तद्दानं;* तच्चतुर्धा वाऽनेकधा, परन्तु तेषां दानानां मध्ये प्राणिनां जीवानां

* तुष्टिश्रद्धाविनयभजना लुब्धता क्षान्तिसत्वप्राणत्राणव्यवसितगुणज्ञान-कालज्ञताढ्यः। दानार्शकिर्जननमतिमिथ्यास्तिक्ये मत्सरेर्ष्यो, दक्षात्मा यो भवति स नरो दातृमुख्यो जिनोक्तः॥ कालेऽन्नस्य क्षुधमवहितो दिसमानो विश्रुत्य, नो भोक्तव्यं प्रथममतिथेर्यस्तदा विरतीति। तस्याप्यासावपि गतमलं पुण्यराशिं श्रयन्ते, तं दातारं जिनपतिमते मुख्यमाहुर्जिनेन्द्राः॥ सर्व्वाभीष्टा बुधजननुता धर्मकामार्थमोक्षाः, संसंख्याता वितरणपरा दुःखविध्वंसदक्षाः। लब्धुं शक्या जगति नयतो जीवितव्यं विनैव, तद्दानेन ध्रुवममुमृतां किं न दत्तं ततोऽत्र॥ कृत्याकृत्ये फलयति यतः कामकोपौ लुनीते, धर्मे श्रद्धां रचयति परां पापबुद्धिं धुनीते। अक्षार्थेभ्यो विरमति रजो हन्ति चित्तं पुनीते। तद्दातव्यं भवति विदुषा शास्त्रमत्र व्रतिभ्यः॥ भार्य्या-भ्रातृस्वजनतनयान्यद्विमित्तं त्यजन्ति, प्रज्ञासत्वव्रतसमितयो यद्विना यान्ति नाशम्। क्षुद्‌दुःखेन क्षपितवपुषो भुंजते च त्वभक्ष्यं, तद्दातव्यं भवति विदुषा संयतायान्न-मुग्रम्॥ सम्यग् विद्यादमदमतपोध्यानमौनव्रताढ्यं, श्रेयोहेतुर्गतरुजि तनौ जायते येन सर्वम्। तत्साधूनां व्यथितवपुषां तीव्ररोगप्रपञ्चेस्तद्रक्षार्थं वितरत जना. साधु-कान्त्यौषधानि॥ शात्रवत्वान्महदपि फलं नो विधातुं समर्थं, कन्यास्वर्णेद्विपहयध-रागोमहिष्यादिदानम्। लब्ध्वा दयाञ्जिनमतदयामेषजाहारदानं, भूत्वाऽप्यल्पं विपुलफलदं दोषमुक्तं वियुक्तम्॥ नीतिश्रीतिश्रुतिमतिधृतिज्योतिभक्तिप्रतीतिं, प्रीति-ख्यातिस्मृतिरतिमतिख्यातिशक्तिप्रणीति.। यस्माद्देही जगति लभते नो विना भोजनेन तस्माद्दानं स्फुरिह ददता ताः समस्ताः प्रशस्ताः॥ दर्पोद्रेकव्यसनमथनक्रोधयुद्ध-प्रबाधा पापारम्भक्षितिहतधियां जायते तन्निमित्तम्। यत्संगृह्य श्रयति विषयान् दु.खितं यत्स्वयं स्याद्दुःखाद्यं प्रभवति न तच्छ्रुप्यतेऽत्र प्रदेयम्॥ साधू रत्नत्रि-तयनिरतो जायते निर्जिताशो, धर्म्मं दत्ते व्यपगतमलं सर्व्वकल्याणमूलम्। राग-द्वेषप्रभृतिमथनं यद्गृहीत्वा बिभर्ति, तद्दातव्यं भवति विदुषां देवशिष्टं तदेव॥ धर्म्मध्यानव्रतममितिभृत्संयतश्चारु पात्रं, व्याप्तशात्मात्रसहननतः श्रावको मध्यमं तु। सम्यग्दृष्टिर्व्रतविरहितः श्रावकः स्याज्जघन्यमेव त्रेधा जिनपतिमते पात्रमाहुः

"सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरीजिउं" वा जीवो जीवितुमिच्छतीत्युक्तत्वाज्जीवितार्थिनां चाऽभयदानं त्राणकारित्वाच्च श्रेष्ठं ।

श्रुतज्ञाः ॥ यो जीवानां जनकसदृशः सत्यवाग्दत्तभोजी, सप्रेमस्त्रीनयनविशिखाभिन्नचित्तः स्थिरात्मा, द्वेधा ग्रन्थादुपरममना सर्व्वथा निर्जिताक्षो, दातुं पात्रं व्रतपतिममुं वर्यमाहुर्जिनेन्द्राः ॥ यद्वत्तोयं निपतति घनादेकरूपं रसेन, प्राप्याधारं सगुणमगुणं याति नानाविधित्वम् । तद्वद्दानं सफलमफलं प्राप्यमप्येति गत्वा, देयं दानं समयमभूता सयतना यतीनाम् ॥ यद्वत्क्षिप्तं गलति सकलं छिद्रयुक्ते घटेऽम्भस्तित्कालाम्बुनिहितमहितं जायते दुग्धमग्र्यम् । आमामत्रे रचयति भिदां तस्य नाशं च याति, तद्वद्दत्तं विगततपसे केवले ध्वंसमेति ॥ शश्वच्छीलव्रतविरहिताः क्रोधलोभादिवन्तो, नानारम्भग्रहितमनसो ये मदमन्थचक्राः । ते दातारं कथमसुखतो रक्षितुं सन्ति शक्ता, नावा लोहं न हि जलनिधेस्तार्यते लोहमय्या ॥ क्षेत्रद्रव्यप्रभृतिसमयान् वीक्ष्य बीजं यथोक्तं, दत्ते सस्यं विपुलममलं चारुसंस्कारयोगात् । दत्तं पात्रे गुणवति तथा दानमुक्तं फलाय, सामग्रीतो भवति हि जने सर्व्वकार्यप्रसिद्धिः ॥ नानादुःखव्यसननिपुणाभाशिनोऽतृप्तिहेतुः, कर्म्मारातिप्रचयनपराल्लत्वतो केवलभोगान् । भुक्त्वाबाधा विषयविषया कर्म्मनिर्नाशनेच्छो, दद्याद्दानं प्रगुणमनसा संभतापामि विद्वान् ॥ यस्मै गत्वा विषयमपर बीयदे पुण्यवृद्धि., पात्रे तस्मिन् गृहमुपगते सयमाधारभूते ॥ नो यो मूढो वितरति धने विद्यमानेऽप्यनल्पे, तेनात्मात्र क्षयमपधिया वञ्चितो मानवेन ॥ दीर्घायुष्कः शशिधितयशोव्याप्तदिक्चक्रवालः, सद्विद्याश्रीकुलबलधनप्रीतिकीर्तिप्रतापः । शूरो धीरः स्थिरतरमना निर्भयश्चादरस्त्यागी भोगी भवति भविनां देहभीतिप्रदायी । कर्म्मारण्यं दहति शिथिलम्भानुवत्पातिदुःखात्सम्यक्नीतिं वदति गुरुवत्स्वामिवच्चद्विभर्ति । तत्वातत्वप्रकटनपटुस्पष्टमाप्नोति पूतं; तत्सज्ञानं विगलितमलं ज्ञानदानेन मर्त्यः ॥ दाता भोक्ता बहुधनयुतः सर्व्वसत्वानुकम्पी, सत्सौभाग्यो मधुरवचनः कामरूपातिशायी; शश्वद्भक्त्या बुधजनशतैः सेचनीयाङ्घ्रियुग्मो; मर्त्यः प्राज्ञो व्यपगतमदो जायतेऽन्नस्य दानात् ॥ रोगैर्वातप्रभृतिजनितैर्वा-द्दर्भिर्नाम्बुमग्नः सर्व्वोऽप्यन्यथनपट्टुमिर्बाधितुं नो स शक्यः । आजन्मान्तः परमसुखिनां जायते चौषधाना, दाता यो निर्भरकुलवपु.स्थानकान्तिप्रतापः ॥ दत्वा दानं जिनमतरुचिः कर्मनिर्नाशनाय, भुक्त्वा भोगांस्त्रिदशवसती दिव्यनारीमनाथः मर्त्यावासे वरकुलवपुर्जैनधर्मं विधाय, हत्वा कर्म्म स्थिरतरमीपुं मुक्तिसौख्यं प्रयाति ॥

यतः

"यथा मम प्रियाः प्राणास्तथाऽन्यस्यापि देहिनः ।
इति मत्वा न कर्तव्यो, घोरप्राणिवधो बुधैः ॥"

अन्यच्च—

"अहिंसा परमो धर्मो, हिंसा सर्वत्र निन्दिता"

इति श्लोकमर्थमभ्यस्य स्वमनसि सदैव दयैव धारणीया, यदि कोऽपि लोभावेशेन रसनातृप्तये धनार्जनाशया विजयाभिलाषेण च आमोदप्रमोदार्थं जन्तून्निहन्यात्तदा तेषां नरकपतनमवश्यं भावि । पातञ्जलयोगदर्शनादावपि चाहिंसायामेव प्रमुखत्वम्, यथाह—

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः"

अहिंसा-सत्यमित्यादियमास्तेषां मध्येऽहिंसैव प्राथमिकी;

पुनश्च—

"वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्"

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदु-मध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।

तथा चान्यदपि—

"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधाने वैरत्यागः ।" तद्विपक्षिणी हिंसा तस्य लक्षणं यथा—

"प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा"

प्रमत्तो यः कायवाङ्मनोयोगैः प्राणव्यपरोपणं करोति सा हिंसा । हिंसा, मारणं, प्राणातिपातः, प्राणवधो, देहान्तरसंक्रामणं, प्राणव्यपरोपणमित्यनर्थान्तरम् । न हिंसाऽहिंसा । इति तत्त्वार्थसूत्रम्, तथा च योगसूत्रस्य व्यासकृतभाष्येऽपि 'तत्राऽहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामभिद्रोहः ।'

तथैव याज्ञवल्क्यसंहितायाम्—

"कर्मणा मनसा वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा,
अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः ।"

तथा स्मृतावाचाराध्याये—

"अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दया दमः शान्तिः, सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥

"मा हिंसीः पुरुषं जगदिति" यजुर्वेदसंहितायां षोडशोऽध्याय-स्तृतीयमन्त्रः ।

मा हिंस्यात् सर्वभूतानीति 'शतपथे' ।

तथा च मनुः—पंचमाध्याये

"योऽहिंसकानि भूतानि, हिनस्त्यात्महितेच्छया,
स जीवंश्च मृतश्चैव, न कश्चित्सुखमेधते" ॥ ४५ ॥

पुनश्च मनुः—

"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
अहिंसा सत्यमक्रोधो, दशकं धर्मलक्षणम् ॥"

तथा च महाभारते—

"अहिंसा परमो धर्मो हिंसाऽधर्मस्तथाविधः ।
सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि, यो धर्मः सत्यवादिनाम् ॥"

धर्मिजनानामुत्कृष्टं प्राथमिकं धर्मन्त्वहिंसैवेति यथा—

"अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥"

"अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा परं फलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥"

"सर्वयज्ञेषु वा दानं, सर्वतीर्थेषु वा स्तुतम् ।
सर्वदानफलं वापि, नैव तुल्यमहिंसया ॥"

तथाहि नियमसारे—

कुलजोणिजीवमग्गण–ठाणाइसु जाणऊण जीवाणं ।
तस्सारंभनियत्तणपरिणामो होइ पढमवदं ॥ ५६ ॥
कुलयोनिजीवमार्गणास्थानेषु ज्ञात्वा जीवानाम् ।
तस्यारंभनिवृत्तिपरिणामो भवति प्रथमव्रतम् ॥ ५६ ॥

कुलविकल्पो योनिविकल्पश्च जीवमार्गणस्थानविकल्पाश्च प्रागेव प्रतिपादितास्तत्रैव तेषा भेदान् बुध्वा तद्रक्षापरिणतिरेव भवत्यहिंसा । तेषां मृतिर्भवतु वा न वा, प्रयत्नपरिणाममन्तरेण सावद्यपरिहारो नास्ति । अतः प्रयत्नपरेऽहिंसाव्रतं भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिना—

"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं,
भवानेवात्याक्षीन्न हि विकृतिवेषोपधिरतः ॥"

मुनीनामहिंसा सर्वथा पालनीया–हिंसायाः फलं दुष्परिणामात्मकं परिजानीहि यथा—

"पङ्गुकुष्ठिकुणित्वादि, दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः ।
निरागस्त्रसजन्तूना, हिंसा सङ्कल्पतस्त्यजेत् ॥"
"आत्मवत्सर्वभूतेषु, सुखदुःखे प्रियाप्रिये,
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां, हिंसामन्यस्य नाचरेत् ॥"

यदाहुर्लौकिका अपि ।

"श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्य्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ॥"

राज्यादधिकं प्राणाः प्रियाः । यथा—

"प्राणी प्राणितलोभेन, यो राज्यमपि मुञ्चति ।
तद्वधोत्थमघं सर्वोर्वीदानेऽपि न शाम्यति ॥"

"मार्य्यमाणस्य हेमाद्रिं, राज्यं वाऽथ प्रयच्छतु ।
तदनिष्टं परित्यज्य, जीवो जीवितुमिच्छति ॥"

"दीर्य्यमाणः कुशेनापि, यः स्वाङ्गे हन्त दूयते ।
निर्मन्तून् स कथं जन्तूनन्तयेन्निशितायुधैः ॥"

तथोक्तं—

"रसातले यातु यदत्र पौरुषं, क्व नीतिरेषाऽशरणो ह्यदोषवान्;
निहन्यते यद्बलिनातिदुर्बलो, हहा महाकष्टमराजकं जगत् ॥"

पुनश्च—"अयस्लेशुच्यमानोऽपि, देही भवति दुःखितः ।
मार्य्यमाणः प्रहरणैर्दारुणैः स कथं भवेत् ॥"

पुनरपि हिंसकाश्चिन्दति—

"कुणिर्वरं वरं पंगुरशरीरी वरं पुमान् ।
अपि सम्पूर्णसर्वाङ्गो, न तु हिंसा परायणः ॥"

स्वार्थिकी हिंसाऽपि हानीया, यथा—

"हिंसा विघ्नाय जायेत, विघ्नशान्त्यै कृतापि हि ।
कुलाचारधियाऽप्येषा, कृता कुलविनाशिनी ॥"

"अपि वंशक्रमायातां, यस्तु हिंसां परित्यजेत् ।
स श्रेष्ठः सुलस इव, कालसौकरिकात्मजः ॥"

॥ हिंसां कुर्वन्न विशोधयति निजात्मानम् ॥

"दमो देवगुरूपास्तिर्दानमध्ययनं तपः ।
सर्वमप्येतदफलं, हिंसां चेन्न परित्यजेत् ॥"

॥ शास्त्रे सूक्ष्महिंसां धर्मार्थं प्ररूपकोऽपि कुशास्त्रः ॥

"विश्वस्तो मुग्धधीर्लोकः, पात्यते नरकावनौ ।
अहो नृशंसैर्लोभान्धैर्हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥"

अहिंसामाहात्म्यम्—

"मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी ।
अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारिणिः ॥"

"अहिंसा दुःखदावाग्निप्रावृषेण्यघनावली ।
भवभ्रमिरुगार्तानामहिंसा परमौषधिः ॥"

अस्याः फलम्

"दीर्घमायुः परं रूपमारोग्यं श्लाघनीयता ।
अहिंसायाः फलं सर्वं, किमन्यत्कामदैव सा ॥"

अत्रान्तरे—

हेमाद्रिः पर्वतानां हरिरमृतभुजां चक्रवर्ती नराणां,
शीतांशुर्ज्योतिषां स्वस्तरुरवनिरुहां चण्डरोचिर्ग्रहाणाम् ॥
सिन्धुस्तोयाशयानां जिनपतिरसुरामर्त्यमर्त्याधिपानां,
यद्वत्तद्वद्व्रतानामधिपतिपदवीं यात्यहिंसा किमन्यत् ॥

अत एव प्राणवियोगानुकूलो व्यापारो हिंसा सर्वशास्त्रे निषिद्धैव । जैनैरपि प्राणिनामतिपातो दुःखं प्राणातिपातो विरतिरूपः सर्वतः साधूनां, देशतः श्रावकाणां चेति भावः । जीवानां जीवनवल्लभत्वात् यथाऽऽह—

"दीयते म्रियमाणस्य, कोटिर्जीवितमेव वा,
धनकोटिं परित्यज्य, जीवो जीवितुमिच्छति ॥"

अत्राभयदानप्रदानप्राधान्यख्यापनार्थमुदाहरणं चेदम् ।

वसन्तपुरेऽरिदमननामा राजाऽऽसीत् स कदाचित्प्रासादस्थो हि चतुर्वधूसमेतश्च क्रीडति स्म । ताभिरपि सत्कलाभिर्महीपं प्रमोदयित्वा वरो लब्धः । पुनश्च राज्ञीभी राज्ञि स वरो न्यासीकृतः । एकदा कश्चिच्चोरो रक्तश्यामकरवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरिधानः महत्-वध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमानः राजपत्नीभिर्दृष्टो नृपेण सह दृष्ट्वा च पृष्टं, 'किमनेनाकारी'ति तदैकेन राजपुरुषेणावेदितं, यदनेन परद्-व्याद्यपहारेण राजविरुद्धं धर्मविरुद्धं च कर्म कृतं तस्य परिणामस्वरूपो राज्ञा प्राणदण्डो दत्तश्चास्ते, ततस्तन्मध्य एकया महत्या राज्या नृप-पार्श्वे पूर्वदत्तो वरो याचित एकदिनं चोरोऽयं मोच्यो, यथाऽहमुप-करोमीति । वरं प्राप्य च भोजनादिना स्वागतं कृत्वा स्वर्णखण्डसहस्र-दानैस्तुष्टीकृतः सः । द्वितीयदिने द्वितीयया लक्षधनैः सत्कृतः । तृतीयया कोटिमितैः स्वागतीकृतः । चतुर्थ्या तु राजानुमत्याऽऽमरणाद्र-क्षितः । अभयवचनं दापितमभयदानेन ततस्तास्तामुपहस्यायुः । त्वयास्य किं दत्तम् । तयोक्तं मया यद्दत्तं तत्ताभिरपि न दत्तं । एवं तासां पारस्परिकेऽधिकोपकारविषये विवादे न्यायार्थं राजाऽऽकारितस्ततो राज्ञोपगम्य कलहकारणं पृष्टं, तदा ताभिरावेदितं, अस्माकं मध्ये केनाधिकमुपकृतम् । राज्ञा स एव चोर आहूतः पृष्टश्चेति यथा त्वया-कस्या उपकारोऽमानितः । तेनाऽभाणि, 'चतुर्थ्या मात्राऽभयं दापयित्वा निर्भयः कृतः । अतस्तस्या बहूपकारं मन्ये,' सर्वदानानां मध्येऽभय-दानस्यप्रधानत्वात् ।

तथा च सत्येषु वाक्येषु वदनवद्यं पापरहितं परपीडाऽनुत्पादकं वचनं तच्छ्रेष्ठं वदन्ति । यथाह दशवैकालिके—

"तहेव काणं काणेत्ति, पंडगं पंडगं ति वा
वाहियं वावि रोगित्ति, तेण चोरेति नो वए ।"

तथा च मनुः ।

"सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं नानृतं ब्रूयादिति" ।

एवमेव तत्त्वार्थसूत्रे—

असदभिधानमनृतम् ॥ ९ ॥ ७ ॥

असदिति सद्भावप्रतिषेधोऽर्थान्तरं गर्हा च । तत्र सद्भावप्रतिषेधो नाम सद्भूतनिन्हवोऽभूतोद्भावनं च । तद्यथा नास्त्यात्मा, नास्तिपरलोकः, इत्यादि भूतनिन्हवः । श्यामाकतण्डुलमात्रोऽयमात्मा अंगुष्ठपर्वमात्रोऽयमात्मा, आदित्यवर्णो, निष्क्रिय इत्येवमाद्यमभूतोद्भावनम् । अर्थान्तरं यो गां ब्रवीत्यश्वमश्वं च गामिति । गर्हेति हिंसापारुष्यपैशुन्यादियुक्तं वचः सत्यमपि गर्हितमनृतमेवास्तीति भावः ।

एतन्मध्य एतत्प्रमाणानि—यथा—

"क्रोधलोभमदद्वेषरागमोहादि कारणैः, असत्यस्य परित्यागः सत्याणुव्रतमुच्यते ।" "हासकर्कशपैशुन्यनिष्ठुरादिवचो मुचः । द्वितीयाणुव्रतं पूतं, लभते देहिनः स्थितिम् ॥"

"यद्वदन्ति शठा धर्मं, यन्म्लेच्छेष्वपि निन्दितम् ।
वर्जनीयं त्रिधा वाक्यमसत्यं तद्विदोधवैः ॥"

पुनर्यत्रासत्यप्रसंगः समजनि तत्र मौनं कार्यं परमसत्यं न वाच्यं, यथा हि सागारधर्मामृते—

"आवश्यके मलक्षेपे, पापकार्ये च वान्तिवत्,
मौनं कुर्वीत शश्वद्वा, भूयो वाग्दोषविच्छिदे ।"

मौनमाहात्म्यं यथा—

"सन्तोषं भाव्यते तेन, वैराग्यं तेन दर्श्यते ।
संयमः पोष्यते तेन, मौनं येन विधीयते ॥"
"लौल्यत्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षणम् ।
ततश्च समवाप्नोति, मनः सिद्धिं जगत्त्रये ॥"
"वाणी मनोरमा तस्य, शास्त्रसन्दर्भगर्भिता ।
आदेया जायते येन, क्रियते मौनमुज्ज्वलम् ॥"
"पदानि यानि विधन्ते, वन्दनीयानि कोविदैः ।
सर्वाणि तानि लभ्यन्ते, प्राणिना मौनकारिणा ॥"
"न सार्वकालिके मौने, निर्वाह्व्यतिरेकतः ।
उद्योतनं परं मौनेः, किंचनापि विधीयते ॥"

सत्याणुव्रतरक्षणार्थमाह—

"कन्यागोक्ष्मालीककूटसाक्ष्यन्यासापलापवत् ।
स्यात्सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन् ॥"

नियमसारेऽप्येवम्—

"रागेण वा दोसेण वा मोहेण वा मोसभासऽपरिणामं ।
जो पजहदि साहु सया विदियवयं होइ तस्सेव" ॥ ५७ ॥

{ रागेण वा द्वेषेण वा मृषाभाषा परिणामं ।
यः प्रजहाति साधुः सदा द्वितीयव्रतं भवति तस्यैव }

अत्र मृषापरिणामः सत्यप्रतिपक्षः, स च रागेण वा द्वेषेण वा

मोहेन वा जायते तदा यः साधुः आसन्नमव्यजीवस्त्वं परिणामं परित्यजति तस्यैव द्वितीयं व्रतं भवतीति ।

"व्यक्तिव्यक्तं सत्यमुच्चैर्जल्पन् यः । स्वर्गस्त्रीणां भूरिभोगैकभाक् स्यात् ॥
अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सर्वसद्भिः, सत्यात्सत्यं चान्यदस्ति व्रतं किम् ॥"

अलीकफलमुपदर्शयति यथा—

"मन्मनत्वं काहलत्वं, मूकत्वं मुखरोगिताम् ।
वीक्ष्यासत्यफलं कन्यालीकाद्यसत्यमुत्सृजेत् ॥"

"मूकाजडाश्च विकला, वाग्घीना वाग्जुगुप्सिताः ।
पूतिगन्धमुखाश्चैव, जायन्तेऽनृतभाषिणः ॥"

पुनश्च प्रतिषेधमाह—

"सर्वलोकविरुद्धं यद्यद्विश्वसितघातकम् ।
यद्विपक्षश्च पुण्यस्य, न वदेत्तदसूनृतम् ॥"

पुनश्च—

"असत्यतो लघीयस्त्वमसत्याद्वचनीयता ।
अधोगतिरसत्याच्च, तदसत्यं परित्यजेत् ॥"

"असत्यवचनं प्राज्ञः, प्रमादेनापि नो वदेत् ।
श्रेयांसि येन भज्यन्ते, वात्ययेव महाद्रुमाः ॥"

॥ यदाहुर्महर्षयः सय्यम्भवाः, दशवैकालिके ॥

"अइअम्मि य कालम्मि, पच्चुप्पण्णमणागए,
जमट्ठं तु न जाणेज्जा, एवमेअं ति णो वए ।"

{अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नमनागते,
यमर्थं तु न जानीयात्, 'एवमेतद्' इति नो वदेत् ।}

"अइअम्मि य कालम्मि, पच्चुप्पण्णमणागए ।
जत्थ संका भवे तं तु, एवमेअं ति णो वए ।"
"अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नमनागते, ॥
यत्र शङ्का भवेत्तत्तु, 'एवमेतत्' इति नो वदेत् ॥"
{ अइअम्मि य कालम्मि, पच्चुप्पन्नमणागए
{ निस्संकिअं भवे जं तु, एवमेअं तु निद्दिसे । }
"अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नमनागते ॥
निश्शंकितं भवेत्तत्तु, 'एवमेतत्' तु निर्दिशेत् ॥"

पुनरप्यैहिकान् दोषानाह—

"असत्यवचनाद्वैरविषादाप्रत्ययादयः ।
प्रादुःषन्ति न के दोषाः, कुपथ्याद्व्याधयो यथा ॥"
"निगोदेष्वपि तिर्यक्षु, तथा नरकवासिषु ।
उत्पद्यन्ते मृषावादप्रसादेन शरीरिणः ॥"
"अल्पादपि मृषावादाद्रौरवादिषु संभवः ।
अन्यथा वदतां जैनीं, वाचं त्वहह का गतिः ॥"
"ज्ञानचारित्रयोर्मूलं, सत्यमेव वदन्ति ये ।
धात्री पवित्री क्रियते, तेषां चरणरेणुभिः ॥"
"अलीकं ये न भाषन्ते, सत्यव्रतमहाधनाः ।
नापराद्धुमलं तेभ्यो, भूतप्रेतोरगादयः ॥"
"शिखी मुण्डी जटी नग्नश्चीवरी यस्तपस्यति ।
सोऽपि मिथ्या यदि ब्रूते, निन्द्यः स्यादन्त्यजादपि ॥"
"एकत्रासत्यजं पापं, पापं निःशेषमन्यतः ।
द्वयोस्तुलाविधृतयोराद्यमेवातिरिच्यते ॥"

"पारदारिकदस्यूनामस्ति काचित्प्रतिक्रिया।
असत्यवादिनः पुंसः, प्रतीकारो न विद्यते ॥"
"कुर्वन्ति देवा अपि पक्षपातं, नरेश्वराः शासनमुद्वहन्ति।
शीती भवन्ति ज्वलनादयो यत्तत् सत्यवाचां फलमामनन्ति ॥"

तथा च ज्ञानार्णवेऽप्याह—

"यः संयमधुरां धत्ते, धैर्यमालम्ब्य संयमी,
स पालयति यत्नेन, वाग्वने सत्यपादपम् ।"
"अहिंसाव्रतरक्षार्थं, यमजातं जिनैर्मतम् ।
नारोहति परां कोटिं, तदेवासत्यदूषितम् ॥"
"असत्यमपि तत्सत्यं, यत्सत्त्वाशंसकं वचः ।
सावद्यं यच्च पुष्णाति, तत्सत्यमपि निन्दितम् ॥"
"अनेकजन्मक्लेशानां, शुद्ध्यर्थे यस्तपस्यति ।
सर्वं सत्त्वहितं शश्वत्स ब्रूते सूनृतं वचः ॥"
"सूनृतं करुणाक्रान्तमविरुद्धमनाकुलम् ।
अग्राम्यं गौरवाश्लिष्टं, वचः शास्त्रे प्रशस्यते ॥"
"मौनमेव हितं पुंसां, शश्वत्सर्वार्थसिद्धये ।
वचो वाच्यि प्रियं तथ्यं, सर्वसत्त्वोपकारि यत् ॥"
"असद्वदनवल्मीके, विशाला विषसर्पिणी,
उद्वेजयति वागेव, जगदन्तर्विषोल्बणा ॥"
"पृष्टैरपि न वक्तव्यं, न श्रोतव्यं कथंचन ।
वचः शंकाकुलं पापं, दोषाढ्यं चाभिसूयकम् ॥"
"मर्मच्छेदि मनःशल्यं, च्युतस्थैर्यं विरोधकम् ।
निर्दयं च वचस्त्याज्यं, प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥"

"धर्मनाशे क्रियाध्वंसे, सुसिद्धान्तार्थविप्लवे ।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं, तत्स्वरूपप्रकाशने ॥"
"या मुहुर्मोहयत्येव, विश्रान्ता कर्णयोर्जनम् ।
विषमं विषमुत्सृज्य, साऽवश्यं पन्नगी न गीः ॥"
"न तथा चन्दनं चन्द्रो, मणयो मालतीस्रजः ।
कुर्वन्ति निर्वृतिं पुंसां, यथा वाणी श्रुतिप्रिया ॥"
"अपि दावानलप्लुष्टं, शाड्वलं जायते वनम् ।
न लोकः सुचिरेणापि, जिह्वानलकदर्थितः ॥"
"सतां विज्ञाततत्त्वानां, सत्यशीलावलम्बिनाम् ।
चरणस्पर्शमात्रेण, विशुद्ध्यति धरातलम् ॥"
"नृजन्मन्यपि यः सत्यमतिक्रामच्युतोऽधमः ।
स केन कर्मणा पश्चाज्जन्मपङ्कात्तरिष्यति ॥"
"खण्डितानां विरूपाणां, दुर्विधानां च रोगिणाम् ।
कुलजात्यादिहीनानां, सत्यमेकं विभूषणम् ॥"
"न हि स्वप्नेऽपि संसर्गमसत्यमलिनैः सह ।
कश्चित्करोति पुण्यात्मा, दुरितोत्पङ्कशङ्कया ॥"
"सुतस्वजनदारादिवित्तबन्धुकृतेऽथवा ।
आत्मार्थे न वचोऽसत्यं, वाच्यं प्राणात्ययेऽपि च ॥"

इत्यादिप्रमाणैः सत्यमनवद्यं पापरहितमेव श्रेष्ठम् ॥

(अथ ब्रह्मचर्यमाह—).

तपस्सु चेच्छाया निरोधव्यापारेषु द्वादशप्रकारेषु मध्ये यथोक्तं नवविधब्रह्मचर्यगुप्त्युपेतं ब्रह्मचर्यं प्रधानं भवति । कमनीयकामिनी-मनोहराङ्गनिरीक्षणद्वारेण समुपजनितकौतूहलचित्तवाञ्छापरित्यागेनाथवा

स्ववेदोदयाभिधाननोकषायतीव्रोदयेन संजातमैथुनसंज्ञापरित्यागलक्षण-शुभपरिणामेन च ब्रह्मचर्य्यं श्रेष्ठं भवति सर्वेषु तपस्स्विति भावः ।

आह च—

"भवति तनुविभूतिः कामिनीनां विभूतिं, सरसि मनसि कामिंस्त्वं तदा मद्वचः किम्; सहजपरमतत्वं स्वस्वरूपं विहाय व्रजसि विपुलमोहं हेतुना केन चित्रम् ।"

॥ अब्रह्म दोषा यथा— ॥

"सन्तापरूपो मोहांगसादतृष्णानुबन्धकृत् ।
स्त्रीसम्भोगस्तथाप्येष, सुखं चेत्का ज्वरेऽक्षमा ॥"

॥ परदाररतौ सुखाभावः, अनायुष्यकारित्वं च ॥ यथा—

"न हीदृशमनायुष्यं, लोके किञ्चन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह, परदाराभिमर्शनम् ॥"

अथ ब्रह्मचर्य्यमाहात्म्यमाह—

"स्वस्त्रीमात्रेऽपि सन्तुष्टो, नेच्छेद्योऽन्याः स्त्रियः सदा ।
सोऽप्यद्भुतप्रभावः स्यात्कि वर्ण्यं वर्णिनः पुनः ॥"

॥ ब्रह्मचारिणीं सतीं दृष्टान्तेन स्पष्टयति— ॥

"रूपैश्वर्य्यकलावर्य्यमपि सीतेव रावणम् ।
परपूरुषमुज्झन्ती, स्त्री सुरैरपि पूज्यते ॥"

अन्यच्च तत्वार्थसूत्रे—

स्त्रीमैथुनमब्रह्म— ॥ ११–७

स्त्रीपुंसयोर्मिथुनभावो मिथुनकर्म्म वा मैथुनं,

तदब्रह्म—

अन्यचापि—

"मातृस्वसृसुतातुल्या, निरीक्ष्य परयोषितः ।
स्वकलत्रेण यस्तोषश्चतुर्थं तदणुव्रतम् ॥"

"दुःखानां निधिरन्यस्त्री, सुखानां प्रलयानलः ।
व्याधिवह्दुःखवस्त्याज्या, दूरतः सा नरोत्तमैः ॥"

"स्वभर्तारं परित्यज्य, या परं याति निस्त्रपा ।
विश्वासं श्रयते तस्यां, कथमन्यः स्त्रयोषिति ॥"

"किं सुखं लभते मर्त्यः सेवमानः परस्त्रियम् ।
केवलं कर्म्म बध्नाति, श्वभ्रभूम्यादिकारणम् ॥"

यतः—

"विन्दन्ति परमं ब्रह्म, यत्समालम्ब्य योगिनः ।
तद्व्रतं ब्रह्मचर्य्यं स्याद्वीरधौरेयगोचरम् ॥"

"एकमेव व्रतं श्लाघ्यं, ब्रह्मचर्य्यं जगत्त्रये ।
यद्विशुद्धिं समापन्नाः पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥"

तन्मते दशधा मैथुनम्—

"आद्यं शरीरसंस्कारो, द्वितीयं वृष्यसेवनम्,
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्, संसर्गस्तुर्य्यमिष्यते ।
योषिद्विषयसंकल्पः, पञ्चमं परिकीर्तितम् ।
तदंगवीक्षणं षष्ठं, संस्कारः सप्तमं मतम् ॥"

"पूर्वानुभोगसम्भोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम् ।
नवमं भाविनीचिन्ता, दशमं वस्तिमोक्षणम् ॥"

"किम्पाकफलसम्भोगसन्निभं तद्धि मैथुनम् ।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ॥"

"विरज्य कामभोगेषु, ये ब्रह्म समुपासते ।
एते दश महा दोषास्तैस्त्याज्या भावशुद्धये ॥"
"सिक्तोऽप्यम्बुधरव्रातैः, प्लावितोऽप्यम्बुराशिभिः ।
न हि त्यजति सन्तापं, कामवह्निप्रदीपितः ॥"
"मूले ज्येष्ठस्य मध्याह्ने, व्यभ्रे नभसि भास्करः ।
न प्लोषति तथा लोकं, यथा दीप्तः स्मरानलः ॥
"हृदि ज्वलति कामाग्निः, पूर्वमेव शरीरिणाम् ।
भस्मसात्कुरुते पश्चादंगोपाङ्गानि निर्दयः ॥"
भोगिदंष्टस्य जायन्ते, वेगाः सप्तैव देहिनः
"स्मरभोगीन्द्रदंष्टानां दश स्युस्ते भयानकाः ॥"

इमे ते दश—यथा—

"प्रथमे जायते चिन्ता, द्वितीये द्रष्टुमिच्छति ।
तृतीये दीर्घनिश्वासाश्चतुर्थे भजते ज्वरम् ॥"
"पंचमे दह्यते गात्रं, षष्ठे भक्तं न रोचते ।
सप्तमे स्यान्महामूर्च्छा, उन्मत्तत्वमथाष्टमे ॥"
"नवमे प्राणसन्देहो, दशमे मुच्यतेऽसुभिः ।
एतैर्वेगैः समाक्रान्तो, जीवस्तत्त्वं न पश्यति ॥"
"नासने शयने याने, स्वजने भोजने स्थितिम् ।
क्षणमात्रमपि प्राणी, प्राप्नोति स्मरशल्यतः ॥"
"दक्षो मूढः क्षमी क्षुद्रः, शूरो भीरुर्लघुर्गुरुः ।
तीक्ष्णः कुण्ठो वशी भ्रष्टो, जनः स्यात्स्मरवंचितः ॥"
"यदि प्राप्तं त्वया मूढ !, नृत्वं जन्मौघसंक्रमात् ।
तदा तत्कुरु येनेयं, स्मरज्वाला विलीयते ॥"

इदानीमामुष्मिकमैहिकं चाब्रह्मफलमुपदर्श्य गृहस्थोचितं पुनरपि ब्रह्मचर्य्यव्रतमाह—

"षण्ढत्वमिन्द्रियच्छेदं, वीक्ष्याऽब्रह्मफलं सुधीः ।
भवेत्स्वदारसन्तुष्टोऽन्यदारान् वा विवर्जयेत् ॥"

"रम्यमापातमात्रे यत्परिणामेऽतिदारुणम् ।
किम्पाकफलसंकाशं, तत्कः सेवेत मैथुनम् ॥"

"यद्यपि निषेव्यमाणा, मनसः परितुष्टिकारका विषयाः ।
किम्पाकफलादनवद्भवन्ति पश्चादतिदुरन्ताः ॥"

"कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्च्छा, भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षयः ।
राजयक्ष्मादिरोगाश्च, भवेयुर्मैथुनोत्थिताः ॥"

"योनियन्त्रसमुत्पन्नाः, सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः ।
पीड्यमाना विपद्यन्ते, यत्र तन्मैथुनं त्यजेत् ॥"

योनौ जन्तुसद्भावं वात्सायनः कामशास्त्रकारोऽप्याह ।

वात्सायनश्लोको यथा—

"रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा, मृदुमध्याधिशक्तयः ।
जन्मवर्त्मसु कण्डूतिं, जनयन्ति तथाविधाम् ॥"

कामज्वरचिकित्सार्थमौषधमिव मैथुनसेवनमिति यो मन्येत तं प्रत्याह—

"स्त्रीसम्भोगेन यः कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति ।
स हुताशं घृताहुत्या, विध्यापयितुमिच्छति ॥"

इतर अप्याहुः—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्धते ॥"

॥ स्त्रियाऽपि परपुरुषो भुजग इव त्याज्यः ॥

"ऐश्वर्ये राजराजोऽपि रूपे मीनध्वजोऽपि यः ।
सीतया रावण इव, त्याज्यो नार्या नरः परः ॥"

पुनश्च—"प्राणभूतं चरित्रस्य, परब्रह्मैककारणम् ।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं, पूजितैरपि पूज्यते ॥"

यतः—"चिरायुषः सुसस्थाना, दृढसंहनना नराः ।
तेजस्विनो महावीर्या, भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः ॥"

एवैर्ज्ञायते ब्रह्मचर्यमाहात्म्यम् ॥

तथैव सर्वलोकोत्तमरूपसम्पदा सर्वातिशायिन्या क्षायकज्ञानदर्शन-श्रीलैर्ज्ञातपुत्रो ज्ञातनन्दनोऽन्तिमजिनः श्रमणः प्रधानः ॥ यतो भगवतो महावीरस्य बहूनि नामानि सन्ति । यथा—

"समणे भगवं महावीरे नाते, नातपुत्ते, नातकुलनिव्वत्ते, विदेहदिन्ने, विदेहजच्चे, समणे भगवं महावीरे, कासवगोत्ते, अम्मा. पियुसंतिए वद्धमाणे, सह सम्मुदिए समणे, भीमभयभेरवं ओरालं अचेलयं परिसहं सहइत्तिकट्टु देवेहिं से नाम कयं **समणे भगवं महावीरे** ॥ श्रीआचाराङ्गसूत्रम्–११, १५, १६–१७

"एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाणदंसणधरे अरहा णायपुत्ते भगवं, वेसालिए वियाहिए" ।

(श्री सूयगडांगसूत्रम् १–२)

भगवतो महावीरस्य ज्ञातवंशो यथाऽऽह सिद्धान्ते ।

"छव्विहा कुलारिया मणुस्सा प० तं० उग्गा, भोगा, राइण्णा, इक्खागा, णाता, कोरव्वा" ॥ (श्री ठाणांग सूत्रम् ४९७),

"आत्याय्याः, इक्ष्वाकवो, विदेहा, हरयोऽम्बाष्ठा, ज्ञाताः कुरवो, बुंबुनाला, उग्रा, भोगा, राजन्या इत्येवमादयः क्षत्रिया आर्यकुलोद्भवाः" ॥

(तत्त्वार्थसूत्रम् ३–१५)

ज्ञातखण्डोद्यानोऽपि ज्ञातवंशस्य परिचयमादत्ते, यथा—

"वहिया य 'णायसंडे' आपुच्छित्ताण णायए सव्वे ।
दिवसे मुहुत्तसेसे कमाणामं समणुपत्तो ॥"

(आवश्यकचूर्णि पृ० २६७)

पुनश्च—

"उत्तरखत्तियकुण्डपुरसंनिवेसस्स मज्झंमज्झेणं निगच्छति २ त्ता जेणेव 'णायसंडे' उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ............महावीरे लोयं करेइ ।"

(श्री आचारांगसूत्र २-१५-८)

श्रीहेमचन्द्राचार्योऽपि परिशिष्टपर्वणि ज्ञातनन्दनमिति शब्दप्रयोगं कृत्वा प्रणमस्करोति, यथा—

कल्याणपादपारामं, श्रुतगंगाहिमाचलम्,
विश्वाम्भोजरविं देवं, वन्दे श्रीज्ञातनन्दनम् ॥

इत्यादिप्रमाणैर्भगवान् महावीरो ज्ञातवंशमलंकृतवान् ।

अन्वयार्थ—जैसे [दाणाण] दान-धर्ममें [अभयप्पयाणं] अभयदान [सेट्ठं] श्रेष्ठ है, [वा] और [सच्चेसु] सत्योंमें [अणवज्जं] पाप रहित-दूसरोंको पीडा न देनेवाला सत्य-वचन [वा] और [तवेसु] सब तपोंमें [बंभचेरं] ब्रह्मचर्यको [उत्तम] अच्छा [वयंति] कहा है, उसी प्रकार [समणे] दयालु-श्रमण [नायपुत्ते] ज्ञात-पुत्र-महावीर [लोगुत्तमे] लोकमें] श्रेष्ठ थे ॥ २१ ॥

भावार्थ—स्व परके हितकेलिए किसीवस्तुका निष्पन्न अर्पण करना दान है, दान अनेक प्रकारका होनेपर भी 'अभयदान' सब दानोंमें उत्तम है,

इसी प्रकार सत्य भी अनेक प्रकारका है, तथापि दूसरेको जिस सत्यसे पीडा न हो ऐसा सत्य-प्रियसत्य उस सत्यसे अच्छा है जिससे दूसरोंको पीडा हो, और सब तपोंमें ब्रह्मचर्य तप सर्वोत्कृष्ट है, इसी प्रकार भगवान्-महावीर भी लोकमें सर्वोत्तम थे ॥ २३ ॥

भावा-टीका—अपनी और औरोंकी उन्नति तथा भलाईके लिए जो परोपकारकी दृष्टिसे दिया जाय उसे दान कहते हैं। या अपने अधिकारको वस्तु-मेंसे हटा कर जिस वस्तु पर किसी अन्यको अधिकार देदेना भी दान कहा जा सकता है। परन्तु यहां तो श्रद्धा और प्रतीति के साथ भक्ति भाव पूर्वक, परि-ग्रहका ममत्व भाव छोडकर कर्मोकी निर्जराके लिए अनुकम्पासे तथा मन, वचन कायकी शुद्धिसे फलकी इच्छा न रख कर दाता जिस पात्रमें कुछ पवित्र वस्तु देता है उसीका नाम दान है।

और वह अन्नदान, औषधदान, ज्ञानदान, अभयदानके भेदसे चार प्रकारका है। परन्तु उन सबमें प्राणियोंका भय दूर कर उन्हें सर्वथा निर्भय करदेना ही सर्वोत्तम दान अभयदान माना गया है। क्योंकि आत्मामें दश प्राण होने से प्राणी कहलाता है। जीवित रहनेकी इच्छा या जीवित रहना ही इसका स्वभाव रहनेसे इसकी 'जीव संज्ञा' है। दशप्राण 'द्रव्य प्राण' हैं और 'भाव प्राण' अनन्त चतुष्टय कहलाते हैं, वास्तवमें यह जीव तीनों कालमें इन्हीं प्राणोंसे जीवित रहता है। अतः सब जीव जीवित रहनेकी इच्छा रखते हैं मरना कोई नहीं चाहता, किसीको मरना अभीष्ट नहीं है। अतः जीवित रहनेके अभिलाषुओंको 'अभय' दान देकर उनका सब प्रकारसे रक्षण करना मनुष्यका श्रेष्ठतम कर्तव्य है।

कहा भी है कि-"जिस प्रकार मुझे अपने प्राण प्रिय हैं उसी प्रकार अन्य देह धारियोंको भी अपना जीवन प्रिय है। स्वर्गका निवासी इन्द्र और विष्ठाका कीडा, महलमें रहने वाला राजा और झोंपडीमें रहने वाला गरीब लकडहारा समान जीवन चाहते हैं। यह समझ कर किसी भी प्राणीके 'मन' नामक प्राणको भी कष्ट न देना चाहिए।"

"क्योंकि अहिंसा परम धर्म है, हिंसा सब जगह पर निन्दित की गई है, यह स्वयंको प्रिय न होने के कारण औरों को भी अप्रिय है। क्योंकि अपनी और औरों की मनोदशामें कोई अन्तर नहीं है। अतः चतुर मनुष्य अपने मनमें

नियमसार—"कुलस्थान, योनिस्थान, जीवसमासस्थान, मार्गणा स्थान इत्यादि भेदोंको भांति भान्ति जान कर जीव रक्षा करनेके भावको 'अहिंसा' कहते है। जीवोंकी मृत्यु होती है या नहीं इस प्रकारके विचारमें लगे हुए परिणामके सुधारके बिना पाप हिंसा रूप क्रियाका त्याग होना कठिन है, अतः इस रक्षाके प्रयत्नमें लगना 'अहिंसा' है।"

समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि—"जगत् में इसे सब जानते है कि—अहिंसा परब्रह्म स्वरूप है, अर्थात् आत्माकी वीतरागता ही अहिंसा है, जहा वीतरागता है, वहीं आत्मा का शुद्ध स्वरूप है, जिस आश्रमके चरित्रमें अणुमात्र भी आरंभ नहीं है वहीं यह पूर्ण अहिंसा प्राप्त होती है। आशय यह है कि आदर्श पुरुषोंका सच्चरित्र रूप आचरण ही अहिंसा है, अतः अहिंसाकी सिद्धिके लिए ही परम दयालु प्रभुने आरंभ और परिग्रहको त्याग दिया। प्रभु विकार शील वेश और परिग्रहमें अनुरक्त नहीं थे। क्योंकि जहां परिग्रहकी आसक्ति नहीं है, वहां ही ऊंचे दर्जेका अहिंसा धर्म है। 'जिनधर्म की जय' इसी लिए बोलते हैं कि—इसमें पूर्ण 'अहिंसा' का पालन किया जाता है। यहीं भरा जीवका घात करनेवाले विचारोंको जड मूलसे हटानेका कारण है। तथा 'पंच काय' रूप इकेन्द्रिय स्थावर जीवोंके नाना प्रकारके होनेवाले वधसे [redacted] बिलकुल दूर है और यह सुन्दर सुखसे भरपूर समुद्रके समान अगाध है।"

"मुनिओंका कर्तव्य है कि वे सर्वथा अहिंसाका पालन करें, क्योंकि हिंसाका परिणाम दुःखजनक है, जिसे महापुरुषोंने महान् अनुभवसे बताया है। जिनके ये वचनामृत हैं।"

"पैरसे लाचार है, शरीरकी चमडीको फोड कर कोढ बाहर टपकने लगा है, हाथ कटे हुए हैं, और भी अनेक रोगोंसे ग्रस्त है। उसे देख कर समझ लेना चाहिए कि उन्हें यह दारुण दुःख अन्य प्राणियोंकी हिंसा करनेसे भुगतना पडा है अतः चतुर पुरुषका यह कर्तव्य है कि—निरपराधजीवकी संकल्पमात्रसे कभी 'हिंसा' न करे।"

"सुखदुःखमें, अच्छे बुरेमें, दुःख अनुकूलमें, अपनी आत्माकी तरह अन्य आत्माओंको समझ कर कभी किसीका हिंसा रूप अनिष्ट न करे।"

लोकोंका यह मन्तव्य है कि—"धर्मका सम्पूर्ण अंग सुन कर तथा मनमें विवेक रख कर उसका निर्णय पूर्वक यह सार है कि जब मुझे अपने

प्रतिकूल कुछ अच्छा नहीं प्रतीत होता है, तब औरों को उनके प्रतिकूल आचरण कब इष्ट है।"

"सबको अपने प्राण ही प्रिय हैं, राज्य नहीं"-"प्राणी अपने प्राणोंकी रक्षाके लोभमें राज्य को भी, तृणकी तरह छोड देता है। अत एव. किसीके प्राणोंका नाश करनेसे जो पाप होता है वह समस्त पृथ्वी दान कर देनेसे भी दूर नहीं होता।"

"मरनेवालेको चाहे राज्य भी प्रदान करो, या सुवर्ण का पहाड अर्पण करदो, परन्तु जीवनके सन्मुख वे वस्तुएं उसे कुछ भी अच्छी नहीं लगतीं, इसी लिए वह उन सब को छोड कर जीवित रहनेकी 'अपील' करता है।"

पीडा-"जरासा कांटा पैर में लग जाता है, मगर वह सारे अंगो में भारी पीडा उत्पन्न कर देता है, परन्तु जो निरपराध जीवोको तीक्ष्ण शस्त्रसे मौतके घाट उतार देता है, उस मरनेवालेके दुःखका क्या ठिकाना है। उसे तो अवश्य अनिर्वचनीय वेदना होती है।"

"यह कहां की नीति है जो अशरण, निरपराध, दुर्बल प्राणी बलवान् के द्वारा मारा जाता है, हाय! हमें तो कष्ट के साथ कहना पडता है कि-जगत् में अराजकता छा गई है, अब यहां न्यायको कहां स्थान रह गया है।"

"यदि कोई किसीके कानोंको यह सुनादे कि तू मरजा! तब सुननेवाला यह सुनते ही कांप उठता है, शरीर भयभीत और दुःखी हो जाता है। जो पैने और कठोर शस्त्रसे किसीको मारने लगता है तब उसकी क्या दशा होती होगी। उसके दुःखका अनुभव सिवाय उसके भला और कौन कर सकता है।"

"हाथका कट जाना अच्छा है; बिना पैर रहना भी कुछ बुरा नहीं, मगर सम्पूर्ण शरीरके अंगोंको पाकर हिंसा करनेवाला पुरुष सर्वथा निकम्मा है, अर्थात् वह किसी कामका नहीं है।"

मतलब साधने की हिंसा भी हानिकर है-"विघ्नकी शान्तिके लिए की गई हिंसा भी विघ्नके लिए ही होगी। बहुतसे यह कह डालते हैं कि-हमारे कुलका यही 'आचार' चला आता है, मगर वह कुछ कुलकी भलाईके लिए नहीं है, वह तो कुल नाश के लिए ही होगा, शान्तिके लिए नहीं।' अपने वंशमें, चली आनेवाली कुलक्रमागत हिंसाको जो भी प्राणी छोड कर शुद्ध हो

जाता है, वह स्थल सूर कसाईके पुत्र 'सुलस' की तरह सब मनुष्योंमें पवित्र और श्रेष्ठ गिना जाता है।"

"जो इन्द्रियोंको तो वश रखना चाहता है, तथा देव और गुरु की आत्मीय सेवा करता है, यथा शक्य दान भी देता है, तत्वको पढ कर पढाता भी है, तप भी करता है, परन्तु जरासी भी हिंसाको यदि धर्म मान्यतासे कर देता है तब तो उपरोक्त सबकी सब क्रियाएँ निष्फल हैं, अतः सिद्ध हुआकि धर्मके नाम पर की गई हिंसा भयंकर पापकारिणी है।"

"जिस शास्त्रमें धर्मका नाम लेकर हिंसा करनेका उपदेश किया हो वह शास्त्र न होकर कुशास्त्र समझा जाना चाहिए अर्थात् वह शस्त्र है शास्त्र नहीं।"

"यह कितना आश्चर्य है कि-मनुष्य तक को मार देनेवाले, लोभान्ध होकर पथ भ्रष्ट होजाने वाले, हिंसा विधायक शास्त्र बनाकर, तथा पाप करनेका उपदेश देकर, लोकोंको मूर्ख बना रहे हैं, अन्ध विश्वासी बनाकर मानो नरकके कुंडेमें डाल रहे हैं।"

अहिंसाका माहात्म्य--"अहिंसा माता की तरह सबकी पालिका और हितकारिणी है। अहिंसा ही शत्रुओंके मनमें अमृतका संचार करनेवाली है। अहिंसा दुःखरूपी दवानलको बुझानेमें अमोघ और प्रधान मेघ है, संसार भ्रमणा वाली जन्म मरणके रोगसे पीडितोंके लिए तो आरोग्यता देनेमें समर्थ 'औषधि' है।"

अहिंसाका फल--"लम्बी आयु, स्वच्छ और सुन्दर रूप, नीरोगता, संसारमें निर्मल यशः कीर्ति, इत्यादि सामग्रिएँ अहिंसा पालन करनेके उपलक्षमें ही तो मिली हैं। अधिक क्या कहा जाय अहिंसा सब मनोरथ पूर्ण करनेवाली है।"

किसीने ठीक ही कहा है कि--"पहाडोंमें सुमेरु, अमृत पीने वालोंमें देवता, मनुष्योंमें चक्रवर्ती, ज्योतिष् चक्रमें चाद, ठंडी छाया देनेवालोंमें फलदार वृक्ष, ग्रहोंमें सूर्य, जलाशयोंमें समुद्र, सुर-असुर-मनुष्य तथा चक्रवर्तियोंमें वीतराग के पदकी तरह सब व्रतोंमें 'अहिंसा' को सबमें बड़प्पन तथा प्रधानता प्राप्त है। अर्थात् इससे बढ कर और बडा व्रत क्या हो सकता है।"

निष्कर्ष--इन सब शास्त्रोंका मीलन करनेसे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि-हिंसा सब शास्त्रोंमें वर्जित है; जैनोंने तो इसका नाम प्राणातिपात कहा है,

जिस का आशय यह होता है कि-किसी के एक-प्राणको भी निरर्थक न दुखाना चाहिए। साधु मुनिराज इसका सम्पूर्ण अंग पालन करते है। और गृहस्थ जन इसका एक भाग ही निभा सकते हैं क्योंकि सबको अपना जीवन सब वस्तुओं से अधिक प्रिय है।

जैसे कहा है कि-"यदि मरनेवालेको यह कहा जाय कि-तुम सोनेके 'एक क्रोड लिेके' लेकर हमें अपनी जान मारनेकेलिए कहदो, तब वह धनके ढेरको छोडकर जीवित रहनेकी आशा प्रगट करेगा। क्योंकि जान देदेनेपर उसकेलिए धन किस कामका है। अतः सबको अपना जीवन प्रिय है। इस लिए सब दानोंमें अभय दान श्रेष्ठ है।"

अभयदान पर उदाहरण-"अरिदमन वसन्तपुरका राजा है, वह अपनी चार रानियोंसे नित्य रंग रलियां करता है। एक दिन उन रानिओंने गाना, बजाना, नाचना आरंभ किया; राजा उनकी गान्धर्व विद्या पर लट्टू होगया और बोला कि आज तुम जो कुछ मांगोगी वही दूंगा। रानिओंने कहा कि इस समय तो हमें किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, कालान्तरमें मांग लेंगी, अब हमारा वर अपने पास जमा कर लीजिए; राजाने कहा अच्छा।"

एक बार रानियोंने एक चोरको देखा कि जिसे लाल कपडे, और जूतोंका हार पहिना कर वध्य भूमि ले जाया जा रहा है। रानियोंके साथ राजा भी महल पर टहल रहा था, देखकर उन्होंने पूछा कि प्राणनाथ! इसने क्या अपराध किया है। राजाने उसी समय एक सिपाहीको बुलाकर पुछवाया, उसने कहा कि पृथ्वीनाथ! इसने चोरी जैसा अकार्य करके राज और धर्मके विरुद्ध कार्य किया है, अतः आपनेही तो इसको 'प्राणदंड' पानेकी आज्ञा दी है।

यह सुनकर उनमें से एक रानी ने कहा कि प्राणवल्लभ! आप मेरा 'वर' यह दें कि इसे एक दिनके लिये न मारें जिससे मैं इस पर कुछ उपकार कर सकूं। राजाने कहा "तथास्तु"

रानीने उसे महलमें लिवा कर कहा तुझे आजके लिए बचा दिया है, अतः आज खा पी और मौज कर। यह कह उसका खूब अन्न और वस्त्रसे स्वागत किया, सवेरा होने पर उसे एक हजार दीनार देकर अपने महलसे विदाकर दिया।

इसी प्रकार दूसरी और तीसरी रानीने भी एक एक दिन रक्खा और क्रमसे एक लाख और एक क्रोड सोनेके सिक्कोंका पारितोषिक दिया।

मगर चौथी रानीने उसे कुछ भी न देकर उसका वह प्राणदंड का अपराध राजासे कह कर क्षमा करा दिया। तब यह सुन उन तीनोंने कहा कि इसे तूने क्या दिया है? चौथी रानीने कहा कि मैंने इसे वह वस्तु दी है, जिसे तुम सब मिल कर समझ भी नहीं दे सकीं। यह सुनकर वे सब क्रुद्ध होकर उसके गले पड़ गई और बोली कि हमने तो उसे क्रोडपति बनादिया है और तुम कहती हो कि हमने इसपर तुनके जितना उपकार भी नहीं किया। चौथीने कहा कि धनसे भी अधिक सबको अपने प्राण प्यारे होते हैं। मैंने इसे प्राणदान दिलवाकर सदाके लिए सुखी बना दिया है। अब इसे मरनेका भय नहीं है जिससे मैंने सबसे बड़ा उपकारका कार्य किया है। यदि मेरे कहेका विश्वास न हो तो राजासे इसका न्याय कराना चाहिए। इतना कहनेके बाद राजाको तुरन्त महलमें बुलवाया गया, और रानियोंका वह मुकदमा सुन कर राजाने चोरको बुलाया और पूछा कि भाई! सत्य कह तू किस रानीका अधिक उपकार मानता है।

उसने नम्रतासे सिर झुका कर कहा कि-यों तो सबने मुझ पर भारी उपकार किया है, मगर चौथी रानीका सबसे अधिक उपकार मानता हूं, क्योंकि उसने अभयदान दिलवाया है। तीनों रानियोंने क्रोरोंका धन भी दिया और एक एक दिन मरनेसे भी बचाया मगर मुझे तो सदैव यही भय बना रहता था कि धनका क्या करूंगा जब कि कल मर जाना है। मगर चौथी रानीने मुझे उसी मौतके सकटसे उबारा है। अबमें यावज्जीवन पर्यन्तके लिए निर्भय हूं। अतः इस उपकारको अपने तनका पुरस्कार देकर भी नहीं चुकाया जा सकता। क्योंकि सब दानोंमें अभयदान प्रधानतम है।

सर्वोच्च भाषा सत्य है-इसी प्रकार सत्य वचनोंमें निरवद्य, पापरहित, दूसरेकी पीडाको हटानेवाली भाषा सर्वोत्तम है। क्योंकि काना, नपुंसक, रोगी, चोरादिके नामसे पुकारनेपर भी उसके मनको आघात पहुंचता है।

मनुका मत-"सत्य, प्रिय, और अन्यके मनके अनुकूल वचन बोलो, असत्य और अप्रिय सत्य कभी मत बोलो।"

असत्य-असत् शब्दके तीन अर्थ हैं, सद्भावका प्रतिषेध, और अर्थान्तर तथा गर्हानिन्दा। वस्तुके स्वरूपका अपलाप करनेको सद्भावका प्रतिषेध कहते हैं। यह दो प्रकारका है। सद्भूत पदार्थका निषेध-तथा असद्भूत पदार्थका

निरूपण। जैसे "नास्ति आत्मा" आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं, अथवा "नास्ति परलोकः", परलोक-मरणके बाद जीवका अन्य भव धारण करना वास्तविक नहीं है। इत्यादिक भूतनिन्हव है। क्योंकि इससे सद्भूत पदार्थका अपलाप होता हैं। आत्माका परलोकमें भवान्तर धारण करना वास्तविक सिद्ध पदार्थ है। युक्तियुक्त और अनुभवगम्य है। इसका निषेध करना सद्भूतका अपलापनामक मिथ्या वचन है। आत्माको श्यामाकतण्डुल-सामकके चावल की तरह छोटे प्रमाणमें बताना, अथवा अंगूठेके पोरवे के बराबर समझना, या यह कहना कि-आदित्य वर्ण है, निष्क्रिय है, इत्यादि सब वचन अभूतोद्भावन नामक असत्य वचन हैं। क्योंकि इस तरहके वचनों द्वारा आत्माका जो वास्तविक स्वरूप नहीं है, उसका उल्लेख किया जाता है।

अर्थान्तर शब्दका अर्थ है भिन्न अर्थको सूचित करना, जो पदार्थ है उसको दूसरा पदार्थ ही बताना-वास्तविक न कहना अर्थान्तर है। जैसे कोई गौको कहे कि यह घोडा है, अथवा घोडेको कहे कि यह गौ है, इस तरह के वचनको अर्थान्तर नामक असत्य कहते हैं।

गर्हा नाम निन्दा करनेका है, अतः जितने भी निन्द्य वचन हैं वे सब गर्हित नामके असत्य वचन समझने चाहिए। जैसे कि-'इसको मार डालो' या 'मरजा', 'इसे कसाईको देदो,' इत्यादि हिंसा विधायक वचन बोलना, तथा मर्मभेदी-मन दुखानेवाले अपशब्द कहना, गाली देना, कठोर वचन कहना, परुष-रूक्ष शब्दोंका प्रयोग करना, एवं पैशुन्य किसी की चुगली करना, आदि गर्हित वचन कहलाते हैं। यदि वे गर्हित वाक्य कदापि सत्य भी हों तथापि असत्य माने जाते हैं। क्योंकि वे निन्द्य हैं। तथा प्रमादयुक्त जीवके वचन भी असत्य समझे जाते हैं। प्रमाद पूर्वक कहे जाने वाले वचन असत्य होते हैं। और प्रमाद को छोडकर कहे गए असत्य वचन भी सत्य हो सकते हैं, जैसे किसी रोगी बालकको पताशेमें दवा रख कर देते हैं और कहते हैं कि-ले यह पताशा है।

सत् शब्दके दो अर्थ होते हैं, विद्यमान और प्रशंसा। अत एव असत् शब्दसे अविद्यमान और अप्रशस्तता ये दोनों ही अर्थ लेने चाहिए। सद्भूत निन्हव असद्भूतोद्भावन और अर्थान्तर ये अविद्यमान अर्थको सूचित करनेवाले होनेसे असत्य हैं। और जो गर्हित वचन हैं वे अप्रशस्त होनेसे असत्य हैं तथा प्रमादका सम्बन्ध भी दोनों ही स्थानों पर पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त असत्य की विवक्षा होने पर कषाय असत्य निमित्त बन जाता है, कषायका उदय आनेपर असत्यका प्रयोग अवश्य किया जाता है। अतः क्रोध-लोभ-मान-राग-द्वेष-मोहादिके कारणसे असत्य बोलनेका त्याग करना सत्याणुव्रत कहलाता है।

हंसीमें, कठोर शब्द का प्रयोग करते समय, चुगली करते समय, अप्रशस्त वचन कहते समय, झूठा वाक्य कहना अनिवार्य हो जाता है, और देहधारीको आत्म स्थिति उस समय प्राप्त होती है जब दूसरा अणुव्रत स्वीकार कर लिया जा सके।

किसी ने कहा है कि—जिसे मूढ़ता के कारण धर्म के नामसे पुकारता है, और जो म्लेच्छोंमें भी निन्द्य समझा जाता है, उस असत्य को मन, वचन-कायसे त्याग देना ही उचित है, यदि हितको अपनानेकी अभिलाषा है तो असत्य न कह कर मौनको स्वीकार करले। क्योंकि इतने स्थानों पर सब मौन भाव भजते हैं,

जैसे—"प्रतिक्रमण करते समय, मलमूत्र त्यागते वक्त, पापके कार्यसे छोड़ते समय, निरन्तर मौन रख लेवे, क्योंकि मौन कर लेनेसे वाणीके दोषोंका नाश हो जाता है।" 'मौनसे क्लेश नष्ट होता है, सन्तोष भाव जागृत हो जाता है, वैराग्यका प्रदर्शन होता है, संयमकी पुष्टि हो जाती है।' 'जिह्वाके स्वाद छोड़नेसे ही तपकी वृद्धि होती है। अभिमानकी रक्षा होजाती है, समता आनेसे मनकी सिद्धि हो जाती है।' 'वाणी मनोरमा बनजाती है, आदेय होकर यशका पात्र बन जाता है, मौन रखने वालेके चरणयुगल वन्दनीय होते हैं। परन्तु मौन देश और कालको विचार कर करना चाहिए। यदि कहीं बोलनेसे संसारको सद्बोध और चरित्रका लाभ हो तो वहां चुप न रहना चाहिए। मगर वाणी सदा सत्यवती होनी चाहिए।'

गृहस्थके लिए त्याज्य असत्य क्या है? "गृहस्थ को कन्या, पशु, पृथ्वी, के सम्बन्धमें असत्य कुछ भी न कहना चाहिए, न ही उसे कभी झूठी गवाही देनी चाहिए, कभी किसी की थापन-यानी धरोहर मार कर उसे कोरा जवाब न देना चाहिए, इन पांच बातोंको ध्यानमें रखने वाला सत्याणुव्रती है। यदि अपने या अन्यके ऊपर सत्य कहनेसे आपत्ति आ सकती हो तो उस समय सत्य न कह कर मौन कर लेना उचित है।"

"और जो साधु-सज्जन पुरुष राग, द्वेष और मोहसे असत्य बोलनेके परिणामको जब छोड़ता है, तब ही दूसरा सत्याणुव्रत होता है, क्योंकि असत्य बोलनेका भाव सत्य भावसे विपरित होता है, और यह असत्य भाव राग भावसे, द्वेष भावसे और मोह भावसे जीवमें पैदा होता है, अर्थात् यह मनुष्य इष्ट पदार्थोंमें व विषयोंमें राग द्वारा उनकी प्राप्ति और रक्षाके लिए असत्य कहता है, वह अनिष्ट पदार्थोंमें वा विषयोंमें द्वेषपूर्वक उनके दूर होनेके लिए या उनका सम्बन्ध न पानेके लिए असत्य कहता है, अथवा मिथ्या बुद्धिसे संसारमें मोहके कारण उस मिथ्या भावकी रक्षाके अर्थ असत्य बोलता है, जो कोई निकट भव्य जीव साधु पुरुष इस प्रकारके असत्य बोलनेके परिणामोंको त्याग देता है उसी में. सत्य व्रतकी योग्यता आती है।"

"जो सत्यभावके रंगमें रंग कर प्रगटमें सत्यका व्यवहार करता है वह सज्जनोंद्वारा आदरणीय होता है, यह बात इस लिए सर्वथा सत्य है कि सत्य से बढ कर अन्य दूसरा कोई व्रत नहीं।"

असत्य बोलने का निकृष्ट परिणाम–"झूठ बोलनेवाला गूंगा बनता है, या उसे मूकगति का जीव बनना पडता है। वह स्पष्ट नहीं बोल सकता। किसीको उसकी सुन्दर सम्मति भी प्रिय नहीं लगती। मुखरोगसे पीडित रहता है। ये सब झूठ बोलनेके दुष्परिणाम जान कर कन्यादिके विषयमें असत्य कभी न बोलना चाहिए।" "झूठ बोलने वाले, मूर्ख, विकलांग, वाणीहीन रह जाते हैं। उनकी बातें सुन कर लोकों को घृणा हो उठती है। और उनके मुखसे दुर्गंध आया करती है।" "जो सर्वलोक से विरुद्ध है, जिस वाणीसे विश्वासघात हो जाता है, जो पुण्यका प्रतिपक्षी है वह ऐसा वाक्य कभी न कहे।" "जो झूठ बोलता है उसमें तुच्छता आजाती है, अपने आपको ठग लेता है, अधोगतिगामी होता है, अतः झूठ वर्जनीय है।" "झूठ प्रमादसे भी न बोलना चाहिए, क्योंकि कल्याणकार्यरूपी वृक्ष असत्यकी आंधीसे गिर जाते हैं।" "भूत, भविष्यत्, वर्तमानकी बातोंको यदि पूर्णतया न जानता हो तो न कहे, कि इस तरह होगा।" "तीनों कालकी बातोंमें शंका हो तो उसे न कहे।" "यदि तीनों कालकी बातें बिलकुल निश्शंक हैं तब उन्हें लोकोंमें उपदेशके रूपमें सुना सकता है।" "असत्य बोलनेसे वैर विरोध बढ जाते हैं, पोल खुल जाने पर पछतावा होता है,

कोई उस पर विश्वास नहीं करता, बदनाम शुफ्तमें हो जाता है। 'कुपथ्य करनेकी तरह न जाने क्या २ दुःख-दोष झूठे मनुष्यमें बढ जाते है।" "झूठ बोलने वाला नरक, निगोद, और पशु योनिमें जन्म लेकर मरता रहता है।" "थोडा सा असत्यका प्रयोग करनेवाला भी नरकमें उत्पन्न होता है।"

"ज्ञानिओंने ज्ञान और चरित्रका मूल तो सत्य ही बताया है, सत्यवादीके पैरोंकी धूलिसे पृथ्वी पवित्र हो जाती है।" "जो सदा सत्य बोलते हैं उनका भूत, प्रेत, सर्प, सिंह आदि कुछ भी नहीं बिगाड सकते।" "सिर मुंडा कर, जटा रखा कर, नग्न रह कर, कपडे पहिन कर या तपको तप कर भी जो असत्य बोलता है तब तो उसे अछूतसे भी बढ कर निन्द्य समझना चाहिए।" "एक तरफ तो असत्यका पाप है, दूसरी ओर संसारके सब पाप हैं, यदि इन दोनों पापोंको तोला भी जाय तो असत्यका पाप बढ निकलेगा।" "डाकुओं और व्यभिचारिओंके पापका प्रायश्चित हो सकता है, परन्तु असत्यवादीका प्रतिकार नहीं।" "सत्यवादीका देवोंको भी पक्ष होता है, राजा भी उस पर शासन नहीं चला सकता, उन पर अग्निका उपद्रव नहीं होने पाता, क्योंकि सत्यकी महिमा अपार है।"

"सत्यका संसार भरके योगिओंने खूब ही गायन किया है, जिसमें शुभचन्द्राचार्यके कुछ वचनामृत आपके पठनार्थ सामने रखते हैं। उन्होंने कहा है कि-"जो संयमी मुनि धीरज रख कर संयमकी रक्षा या मुनि दीक्षाकी धुराको धारण करता है, वह मुनि वचनके जंगलमें सत्य रूपी वृक्षका आरोप करता है।" "यमनियमादिव्रतोंका समूह एक मात्र अहिंसाकी रक्षाके लिए कहा है, अहिंसा व्रत यदि असत्यसे दूषित होतो वह ऊंचे पदको कभी भी नहीं पासकता। असत्य वचनके होनेसे अहिंसाका प्रतिपालन असंभव है।"

"जो वचन जीवोंका इष्ट हित करनेवाला हो तो वह असत्य भी सत्य है। और जो वचन पाप सहित हिंसारूप कार्यको पुष्ट करता है वह सत्य भी असत्य है और निन्द्य भी है।" "जो मुनि अनेक जन्मके उत्पन्न दुःखोंकी शान्तिके लिए तपश्चरण करता है वह निरन्तर सत्यही बोलता है, क्योंकि असत्यवचन बोलनेसे मुनित्वका होना असम्भव है।" "जो वचन सत्य हो, करुणासे भरपूर हो, किसीके विरुद्ध न हो, आकुलता रहित हो, अग्राम्य या

गवाँरू भाषामें न हो तथा-ग्राम्य नाम इन्द्रियोंका भी होता है यानी इन्द्रियोंके विकारोंको पुष्ट कर वचन न हो, औरसका बढानेवाला हो; जिसमें किसीका हलकापन न बताया गया हो, वही वचन शास्त्रमें प्रशंसनीय है।"

निरन्तर-मौन करना भी पुरुषों के कल्याण के लिए है–"यदि बोलनेका काम पडे तो सत्य और प्रिय तथा सब जीवोंके कल्याणके लिए बोलना चाहिए।" "मगर दुष्ट चरित्रोंके मुखकी बांबीमें बडी भारी अमंगल-वाणीकी सांपनी रहती है, जो जगत् भरको दुःखी कर देती है।" "जिस बातके सत्य होनेमें सन्देह है, पर पाप रूप भी अवश्य है, और दोषोंसे युक्त है, एवं ईर्ष्याको बढानेवाली है, वह अन्यके पूछने पर भी न कहे।" "किसीका मर्म दुःखानेवाला, मनमें घाव करनेवाला, स्थिरताका नाश करनेवाला, विरोध खडा करनेवाला, तथा दया रहित वचन कण्ठमें प्राण आनेपर भी न कहे।" "जहां धर्मका नाश होता हो, चरित्रको धक्का पहुँचता हो, देशकी स्वतन्त्रता नष्ट होती हो, समीचीन सिद्धान्तका लोप होता हो, उस जगह देश, धर्म और जातिके उत्थानके लिए विना पूछे भी विद्वानोंको अवश्य बोलना चाहिए। उस समय चुप चाप खडे २ तमाशा देखना सत्पुरुषोंका कार्य नहीं है।" "जो वाणी लोकोंके कानोंमें पुनः पुनः पड कर जहर उगलती है, जीवोंको मोहरूप कर डालती है। सन्मार्गको भुला देती है, वह वाणी न होकर एक सांपनी जैसी है, जिसके सुनते ही प्राणी उत्तम मार्गको छोडकर कुमार्गमें पड जाते हैं।" "कानोंको जितना सुख मनोहर वाणी देती है, उतना सुख चन्दन, चन्द्रमा, चन्द्रमणि, मोती, मालती, आदि शीतल पदार्थ नहीं दे सकते।"

"अग्निसे जला हुआ वन तो किसी समय हरा भरा हो जाता है, परन्तु जिव्हारूपी आगसे पीडित होकर लोक कभी नहीं पनपता।" "जो सच बोलते हैं, तत्वके असली स्वरूपको समझ सके हैं, जिनको सत्य और शीलका ही अवलम्बन है, उनके पैरों से पृथ्वी पवित्र हो जाती है और वही लोक उत्तम हैं। जो असत्य बोलते हैं वे ही नीच होते हैं।" "जो नीच पुरुष मनुष्यजन्म पाकर भी सत्यकी प्रतिज्ञासे रहित है, वह संसार रूपी कीचडसे और क्या करनेसे पार हो सकेगा?" "जिनके हाथ नाक कान कटे हों, रूप रंग नामको

भी न हो, दरिद्री और रोगी हो, कुल, जाति, वर्णसे हीन हो, तब क्या हुआ उनका भूषण सत्य है, सत्यसे पवित्र और सुखी हैं। उनकी शोभा सत्यसे है।" "जो पुरुष असत्यसे मलिन हैं, उनके साथ पाप रूपी कालिमाके भयसे कोई भी धर्मज्ञ पुरुष सपनेमें भी उसका साक्षात्कार नहीं करता।" "झूठेकी संगतिसे सचेको भी कलंक लेना पड़ता है।" "पुत्र, सज्जन, स्त्री, धन और मित्रोंके जाने या विमुख होने पर अथवा प्राण जाने पर भी झूंठ नहीं बोलना चाहिए।"

इत्यादि वचनामृतोंको पीकर जो पाप रहित और श्रेष्ठ सत्य बोलता है, वही जगत्में प्रधानपुरुष है।

सत्यकी तरह सब प्रकारके तपोंमें अर्थात् जिन तपोंमें इच्छाओंका रोकना अनिवार्य है वे तप १२ प्रकारके कहलाते हैं, उनमें उत्तम और नव विध ब्रह्म गुप्तिसे गुप्त किया गया ब्रह्मचर्य नामक तप उत्तम है।

सुन्दर स्त्रियोंके मनोहर अंगोंको देख कर उनसे क्रीडा करनेकी जिसके चित्तमें इच्छा खड़ी होती है उसको त्याग देनेसे अथवा वेद नामक मोहकर्मके तीव्र उदयसे मैथुन सेवनकी इच्छाका त्यागना ब्रह्मचर्यव्रत है, उसे स्पष्ट करनेके लिए सत्पुरुष कहते हैं कि हे यती पुरुष! अनुपम सहज, परम सत्वरूप, निजस्वरूपको छोड़ कर अति सुन्दर स्त्रियोंकी शरीर आदि विभूतिको मनमें क्यों याद करता है, और उनके मोहमें किस लिए फँसा पड़ता है।

अब्रह्मचर्य्य के दोष—स्त्री सम्भोगसे सन्ताप पैदा होता है, पित्तको पकाता है, श्रम ज्वर फैल जाता है, हिताहितको नशाकर मोहको पकाता है। शरीर निःसत्व होता है। तृष्णामें जकड़ा जाता है, अतः कामेच्छामें और ज्वरमें कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। और इन दोषोंको जान कर भी यदि कोई सर्वथा शीलका पालन न कर सके तो गृहस्थका कर्तव्य है कि विवाहित पतिमें अवश्य सन्तोष पैदा करे। क्योंकि इस प्रतिज्ञामें भी अनेक तरह की इच्छाओंका मर्दन कर देता है।

कहा भी है कि—अपनी स्त्री मात्रमें सन्तोष करनेके अनन्तर जो अन्य स्त्री मात्रकी कभी इच्छा तक भी नहीं करता है, उसमें भी सुदर्शन सेठ की तरह अद्भुत प्रभाव पैदा हो जाता है, तब ब्रह्मचारीके प्रभावकी प्रशंसा क्यों कर की जासकती है, क्योंकि वह तो अवर्ण्य है।

इसी भांति स्त्रीको भी परमधर्म है कि-पर पुरुष चाहे रूपमें, ऐश्वर्यमें, कलामें कितना भी बढा चढा क्यों न हो, उसे जहरका पुतला समझ कर त्याग देना चाहिए जिस प्रकार सीताने रावणको छोड दिया था। वही स्त्री देवोंसे पूजित होती है जिसने मैथुनके विकार को जीता है।

मैथुन नाम जोडे का है, प्रकृतिमें स्त्री पुरुषका ही जोडा समझा जाता है, दोनोंका परस्पर संयोग या संभोगके लिए जो भावविशेष उत्पन्न होता है अथवा दोनों मिलकर जो संभोग किया करते हैं उसको मैथुन कहते हैं, और उस मैथुनको 'अब्रह्म' कहते हैं। इसमें भी प्रमत्तयोगका सम्बन्ध है, क्योंकि उस अभिप्रायसे जो भी किया की जायगी, फिर चाहे वह परस्पर दो पुरुष या दो स्त्री ही मिल कर क्यों न करें, अथवा अनंग क्रीडा आदि ही क्यों न हो वह सब अब्रह्म है, और जो प्रमादको छोडकर किया करते हैं उसको मैथुन नहीं कहते। जैसे कि पिता भाई आदि पुत्री भगि आदिको जब गोदमें लेकर प्यार करते हैं तब वह अब्रह्म नहीं कहला सकता, क्योंकि उनमें 'प्रमत्त-योग' नहीं है। इस प्रमत्तयोगकी यदि एक अंशमें निवृत्ति की जाय तो वह ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है। जैसे कहा है—

"माता बहन बेटीकी तरह परस्त्रीको जानता हुआ जो अपनी विवाहिता स्त्रीमें ही सन्तोष करता है, वह चौथा अणुव्रत कहलाता है।" "उत्तम पुरुष परस्त्रीको व्याधि और दुःखके समान समझ कर दूरसे ही छोड देते हैं, क्योंकि परस्त्री सदैव दुःखोंका घर है, और सुखोंका नाश करनेके लिए प्रलयकी आग जैसी सिद्ध हुई है।" "जो स्त्री अपने पतिको छोड कर परपुरुषमें रमण करने चली जाती है, उसे परले सिरेकी निर्लज्ज समझना चाहिए। जब इस आचरणसे अपनी स्त्रीका भी विश्वास नहीं है तब परस्त्रीका किस बात पर विश्वास किया जा सकता है।" "परस्त्रीका सेवन करके पुरुष क्या सुख पाता है। केवल नरक निगोदमें रुलनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं। अतः मनुष्योंको 'ब्रह्मचर्य्य' व्रतका पालन करना चाहिए।" "इस व्रतका आश्रय-लेकर योगीजन परब्रह्म परमात्माका और अपना स्वरूप अभेदरूपसे जान लेते हैं। उसीका अनुभव करते हैं, और इसे धीर वीर पुरुष ही धारण करनेमें समर्थ हैं। अल्पसत्ववाले, शीलरहित, इन्द्रियोंके दास, दुर्बल पुरुषतो इसका स्वप्नमें भी समाचरण नहीं करसकते, क्योंकि यह ब्रह्मचर्य्य असिधारा महाव्रत है।"

"इन तीनों भुवनोंमें ब्रह्मचर्य नामक व्रत ही प्रशंसनीय है, जो इसे निर्मलभावोंसे पालते हैं वे पूज्य पुरुषों द्वारा भी पूजित होते हैं।" "जो ब्रह्मचर्य पालनमें अनुरक्त रहते हैं वे दश प्रकारके मैथुनोंका सर्वथा त्याग कर देते हैं।" जैसे—

(१) शरीरका संस्कार-शृंगारादिकरना। (२) पुष्ट रसका सेवन करना। (३) गाना-बजाना-देखना-सुनना। (४) स्त्रीका संसर्ग करना। (५) स्त्रीमें किसी प्रकारका संकल्प-विचार करना। (६) स्त्रीके अंग उपांगोंको देखना। (७) उसे देखनेका संस्कार बनाए रखना। (८) पूर्व कृत भोगोंका पुनः स्मरण करना (९) अनागतके लिए भोगनेकी चिन्तवना करनी। (१०) शुक्र (वीर्य)का क्षरण कर देना।

ये दश भेद मैथुनके हैं, ब्रह्मचारीके लिए ये सर्वथा त्याज्य हैं।

"जिस प्रकार किम्पाकफल (इन्द्रायण फल) देखने सूंघनेमें रमणीय है परन्तु विपाक होनेसे तो हलाहल विषका काम कर डालता है। इसी भान्ति यह मैथुन भी कुछ काल पर्यन्त रमणीक और सुन्दर तथा सुखदायक प्रतीत होते हैं, परन्तु विपाक समय यानी अन्त समयमें बहुत ही भयप्रद प्रतीत होते हैं।" "जो पुरुष काम और भोगोंमें विरक्त होकर सदा ब्रह्मचर्यका सेवन करते हैं उनको भावशुद्धिके लिए दश प्रकारका मैथुन त्याग देना चाहिए। क्योंकी इन दोषोंके त्यागे बिना भावोंमें निर्मलता नहीं आती। उत्तम भाव-ही कालके वेगको रोक सकता है।"

कहा भी है कि-"सर्पसे डसे गए प्राणीके सात वेग होते हैं, परन्तु कामरूपी सर्पके द्वारा डसे गए जीवोंके दश भयानक और बड़े वेग होते हैं, वे ये हैं।"

कामके उद्दीपनसे पहले पहल चिन्तामें घिर जाता है कि कामका सम्पर्क क्योंकर हो, दूसरे वेगमें उसे देखनेकी इच्छा हो जाती है, ३ दीर्घ निश्वास लेकर छोड़ता है, और कहता है कि हाय उसे देख भी न सका, ४ ज्वर हो आता है, ताप मान चढ़ जाता है, ५ बिना ही आगके शरीर जलने लगता है, ६ भोजन नहीं रुचता, ७ महा मूर्च्छा हो जाती है, कुछ भी पेड़ नहीं पड़ पाता। ८ उन्मत्त यानी पागल सा बन जाता है, बाय बाय बकने लगता है, ९ प्राणों का रखना दूभर हो जाता है तथा उसे यह संदेह हो जाता है कि मैं अब जीवित नहीं रहूंगा। और दशवां वेग ऐसा आता है कि जिससे

वह मर भी जाता है, इनमें व्याप्त होकर यह जीव यथार्थ तत्व अर्थात् वस्तु स्वरूप को नहीं देखता। जब लोकव्यवहार ही का ज्ञान विदा हो जाता है तब परमार्थका ज्ञान क्यों कर हो सकता है। क्योंकि सब बातोंमें वह बिलकुल अस्थिर बन जाता है।

"जिसको कामरूपी कांटा चुभता है वह प्राणी बैठने, सोने, चलने, फिरने, भोजन करनेमें तथा स्वजन पुरुषोंमें क्षण भर भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होता। अर्थात् सब अवस्थाओंमें डिगमिगाया रहता है।" "कामसे ठगा जाकर मनुष्य चतुर होकर भी मूर्ख बन जाता है, क्षमाशील-क्रोधी हो जाता है, शूर वीर कायर बन जाता है, बडप्पनसे गिर कर छोटा रह जाता है, उद्यमी पुरुष आलसी बन जाता है। और जितेन्द्रिय भ्रष्ट हो जाता है।" अतः मूर्खता न करके मनुष्यको मनुष्य जन्म सार्थक बनानेके लिए ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए। क्योंकि तपोंमें उत्तम ब्रह्मचर्य ही तप है।"

कदाचारका परिणाम—बैलके नपुंसक बनानेकी क्रिया देखकर, लंपटका राजा द्वारा इन्द्रिय छेदन देख कर, सुधीको कुशील त्याग कर स्वदार सन्तोष व्रत लेकर परदारका त्याग कर देना योग्य है।" "मैथुनका सेवन किंपाकफलकी तरह आरंभमें अच्छा लगता है परन्तु परिणाममें दारुण कष्ट होता है।" "शरीरमें कम्प, पसीना, थकान या शिथिलता, चक्कर आना, घृणा होना, पौरुषेयका क्षय, तपदिक क्षय–आदि रोग मैथुन सेवनसे होजाते हैं।" "योनि-यन्त्रमें असख्य जीवराशीकी उत्पत्ति हो जाती है, और मैथुन करते समय वे जीवित नहीं रह सकते।"

वात्स्यायनका मत है कि—"रक्तमें कीडे हो जाते हैं, वे जीव सूक्ष्म होते हैं, और सम्पर्कके समय मर जाते हैं।"

मैथुन सेवनसे काम ज्वर घट नहीं सकता—"अग्निमें घी डाल-कर अग्निको बुझानेकी तृषाकी चेष्टाकी तरह स्त्रीसंयोगसे काम ज्वर कभी शान्त नहीं हो सकता। अतः स्त्रियें भी पर पुरुषको सर्पके समान समझकर उन्हें त्याग दें।" क्योंकि–

"ऐश्वर्य्यमें चाहे इन्द्रके समान हो और सुन्दरतामें कामदेवका अवतार हो तब भी सच्चारित्रोंकी दृष्टि में सीताने रावण का जिस प्रकार त्यागकिया इसी प्रकार पर पुरुष त्याज्य हैं।"

भगवान् महावीर का 'श्री आचारांग' और 'कल्पसूत्र' आदि सूत्रोंमें उनके जीवन चरितके अनुसार उनका जन्म क्षत्रियकुण्ड ग्राममें 'ज्ञातवंशीय' और 'काश्यपगोत्रीय' सिद्धार्थ क्षत्रिय राजाके घर त्रिशला क्षत्रियाणीकी कुक्षिसे हुआ था।

यह ज्ञातवंश उस समयके प्रसिद्ध ईक्ष्वाकु, आदि क्षत्रियोंके विशाल कुलोंकी तरह प्रसिद्ध 'वंश' समझा जाता था। इस ज्ञातवंशके क्षत्रिय प्रायः 'ज्ञातृक' के नामसे पहचाने जाते थे। और उनके इस 'ज्ञातृ' कुलके सम्बन्ध से उनके नगरों के बाहर बनाए हुए खड-उद्यानों के नाम भी 'ज्ञातृखंड' के नामसे प्रसिद्ध थे। भगवान् महावीर प्रभुने 'कुण्डग्राम' के समीपवर्ती 'ज्ञातृखंड' नामक बागमें दीक्षा ली थी। शास्त्र वचन तो इसकी खूब ही पुष्टि करता है।

जिनागममें 'ज्ञातृपुत्र' का प्रतिशब्द 'नायपुत्त' या 'नातपुत्त' के रूपमें और बुद्धागममें 'नाथपुत्त' या 'नाटपुत्त' के रूपमें जिस शब्दप्रयोगका उल्लेख देखनेमें आता है, वह भगवान् महावीर के 'ज्ञातृवंश' का ही अर्थसूचक नाम है, इसे मान लेनेमें हमको ऊपरोक्त कारण मिलते हैं, **'नायपुत्त'** या **'नातपुत्त'** में दोनों नाम संस्कृत में **'ज्ञातपुत्र'** शब्दके ही प्राकृत रूप हैं, और **'नाथपुत्त'** या **'नाटपुत्त'** ये दोनों नाम भी इसी शब्दके 'पाली' रूप हैं। प्राकृत में **'त'** को **'य'** और पाली में **'त'** को **'थ'** और **'थ'** को **'ट'** भी साधारणतया हो जाता है। दिगम्बर सूत्रोंमें **'ज्ञातृपुत्र'** का **'नाथपुत्त'** इस शब्दको व्यवहृत होता देखा जाता है। इस प्रकार भाषा और भावकी दृष्टिसे देखते हुए भी ये सब अलग २ नाम मूल **'ज्ञातृपुत्र'** शब्दमें मिल जाते हैं। ये सब नाम **'ज्ञातृपुत्र'** शब्दसे बनाए गए हैं। इसमें शंका करने के लिए जरासा भी स्थान नहीं है। प्राचीन कालमें वंशके नामसे परिचय करानेकी प्रथा होनेसे भगवान् महावीर प्रभुके जीवनविषयक परिचय श्रीजिनागमोंमें और बौद्धागमोंमें **'नातपुत्त'** या **'नाथपुत्त'** शब्दसे और भगवान् महावीरके शिष्योंका परिचय **'नातपुत्तीय'** या **'नाथपुत्तीय'** शब्दसे विशेषतः दिया गया है।

श्रीजिनागमके १२ अंगोंमें छठवां अंग "णायधम्मकहाओ" है, उसमें उपर्युक्त आया हुआ 'णाय' शब्द भी भगवान् महावीरका वंशवाचक "नायपुत्त" के साथ गहरा सम्बन्ध रखता है। प्राकृतमें 'न' को 'ण' हो जाना तो

एक साधारण नियम है। इस अंग का गुजराती अनुवाद भी 'भगवान् महावीरनी धर्मकथाओ, नाम करनेमें आया है, इस अंगका परिचय श्रीसमवायांगसूत्रमें किया गया है, उसमें बताया है कि—"इस अंगमें ज्ञाताओं के नगरोंका, उद्यानोंका, मातापिता का, "इत्यादि परिचय दिया जायगा' यह लिखा है, टीकाकारने ज्ञाताओंका उदाहरणभूत अर्थ किया है, परन्तु "ज्ञाता" अर्थात् 'ज्ञातृवंशी' क्षत्रिय ही अर्थ पूर्वापर विचार करते हुए अधिक निश्चय होता है।

भगवान् महावीरका परिचय श्रीजिनागमोंमें 'नायपुत्त'–'ज्ञातपुत्र' के अतिरिक्त और नामोंसे भी दिया गया है, तथापि वहां पर 'नायपुत्त' शब्द की ही विशेष प्रधानता रही है। बहुत से प्राचीनतम सूत्रोंमें भगवान् महावीर प्रभुकी गुण गाथाका वर्णन विशेषतः 'नायपुत्त' शब्दसे ही किया गया है—

यथा—

"न ते सन्निहिमिच्छन्ति, नायपुत्तवओरया" १८

"न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणो" २१

"एयं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोयणं" २६

"एयं च दोसं दट्ठूणं नायपुत्तेण भासियं,
अणुमायं पि मेहावी, मायामोसं विवज्जए" ४९

"एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे,
अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए" १८

भावार्थ—"जो भगवान् 'ज्ञातपुत्र' के वचनों पर पूर्ण विश्वास रखते हैं वे किसी वस्तु का संग्रह करके नहीं रखते ॥ १८ ॥

प्राणीमात्रकी रक्षा करनेवाले 'ज्ञातपुत्र' महावीर प्रभुने वस्त्र पात्रको परीग्रह न बताकर मूर्च्छा यानी ममत्व भावको ही परीग्रह बताना है, यह महर्षिओंने कहा है ॥ २१ ॥ (दशवै० अ० ६)

'ज्ञातपुत्र' महावीर प्रभुने कहा है कि मर्य्यादामें रहनेवाले साधु इस दोषको मलिभान्ति देखकर थोडासा भी कपट पूर्वक झूठ न बोलें ॥ ४९ ॥

इस दोषको देखकर निर्ग्रन्थ रात्रि भोजन छोडदे, क्योंकि 'ज्ञातपुत्र' ने इसके दोष प्रत्यक्षमें बताए हैं ।

"इस प्रकार अनुत्तरज्ञानी अनुत्तरदर्शन युक्त अर्हन् प्रभु 'ज्ञातपुत्र' महावीर विशाला नगरमें इस प्रकार व्याख्यान करते थे ॥ १८ ॥"

इन प्रमाणोंके अतिरिक्त इस अध्यायमें तो २-१४-२१-२३-२४ की गाथाओंमें प्रभुकी स्तुति 'ज्ञातपुत्र' शब्दका ही संकेत रखकर की गई है। इस तरह श्रीजिनागमके प्रमाणभूत ग्रन्थोंमें **'नायपुत्त'** या **'नातपुत्त'** को भगवान् महावीरके वंशवाची नामका उपयोग अनेक स्थलों पर पुष्कल रूपमें किया है, इन सब शब्दप्रयोगोंके उद्धरण करने की यहां जरासी आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती। मात्र **हेमाचार्य** ने परिशिष्टपर्व्वमें जो 'ज्ञातनन्दन' भगवान् महावीरको वंदन किया है उसीका यहां उद्धरण देकर अगाडी बढ चलेंगे।

उन्होंने मंगलाचरणमें कहा है कि-"जो कल्याण वृक्षोंका बगीचा है, श्रुतिरूप गंगाका हिमालय है, विश्वकमलके लिए सूर्यकी भांति है उस ज्ञातनन्दन महावीरको मैं नमस्कार करता हूं।"

बौद्धपिटकोंमें भगवान् महावीर का अपना उनके शिष्योंको और उनके सिद्धान्तोंका परिचय उनके वंशवाची **'नाथपुत्त'** या **'नाटपुत्त'** के शब्द-व्यवहारसे ही दियागया है। उनके श्रमण निर्ग्रन्थोंके लिए **'नाथपुत्तीय'** शब्द का उपयोग किया गया है। इस नामके अतिरिक्त भगवान् महावीरके जीवन सम्बन्धी परिचयके लिए अन्य किसी शब्दका प्रयोग किया हो यह देखने में नहीं आया, सिर्फ **'नाथपुत्त'** के साथ 'निगंठ' शब्द का प्रयोग हुआ है। मगर वह शब्दतो उनकी साधु अवस्थाका सूचक है। और वह **'नाथपुत्त'** शब्दका विशेष्य न हो कर एक विशेषण है।

इससे प्राचीन कालमें 'वंशवाचक' नामसे परिचय देनेकी प्रथा स्पष्ट जानी जा सकती है। महात्मा बुद्ध भी उनके मूल नाम "सिद्धार्थ" की अपेक्षा उनके 'गोत्रसूचक' नाम "गौतम" के नाम से और 'वंशसूचक' "शाक्यपुत्र" के नामसे अधिक प्रसिद्ध थे।

भगवान् महावीरका वंश 'ज्ञातृवंश' था और इस ज्ञातृवंशसे उनका 'वंशसूचक' नाम 'नायपुत्त' प्रसिद्ध हो गया, जिसे हम ऊपर देख गए हैं। मगर इस वंशका अगाड़ी चलकर कितना विस्तार और कितना विनाश हुआ इसका इतिहास प्रायः लुप्त है। इस लुप्तप्रायः इतिहास का शोध करना 'अत्यावश्यक' है। इस इतिहास को तलाश करने के लिए हमारे पास बौद्ध साहित्य एक अनन्य साधन है।

भगवान् 'महावीर' और 'महात्मा बुद्ध' ये दोनों एक समयके समकालीन धर्मक्रान्तिकारी महापुरुष होगए हैं। तदुपरान्त वे दोनों एक ही देशके निकटस्थ प्रान्तके निवासी राजवंशी पुरुष थे इन कारणोंको लेकर महात्मा बुद्धको एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तमें विहार करते हुए भगवान् महावीरकी जन्म भूमिमें जानेका और वहां भगवान् महावीरके वंश-सम्बन्धी लोगोंके साथ वार्तालाप करनेका प्रसंग प्राप्त होना यह एक स्वाभाविक बात है।

'बुद्धपिटक' के 'महावग्ग' नामक सूत्रमें म० बुद्ध भगवान् महावीरकी जन्मभूमि कुण्डग्राममें और उसके पासमें 'ज्ञातृकों' के ग्रामोंमें एवं वैशालि नगर जानेका और वहां 'निर्ग्रन्थ श्रावक' 'सिंह' सेनापतिके साथ बातचीत करनेका उल्लेख मिलता है। इस उल्लेखके आधार पर भगवान् महावीर का 'ज्ञातृवंश' और उनकी जन्मभूमिके विषयमें हमको बहुत कुछ परिचय मिलेगा। इसी धारणासे ये उल्लेख उतारने उचित प्रतीत हुए।

*अथ भगवान् जहां **कोटिग्राम** था वहां गए, वहां भगवान् कोटिग्राम में विहार करते थे,

* देखो, विनयपिटक महावग्ग पृ० २४१–'कोटिग्राम,'

अम्बापाली गणिकाने सुना कि भगवान् **कोटिग्राममें** आगए। अम्बापाली गणिका सुन्दर-सुन्दर (भद्र) यानोंको जुड़वा कर, सुन्दर यान पर चढ कर, सुन्दरयानों के साथ वैशालिसे निकली। और जहां वह **कोटिग्राम** था वहां चली

तब वह 'लिच्छवी' जहां **कोटिग्राम** था वहां गए।

"एक समय भगवान् बुद्ध नादिक (ज्ञातिका) के गिंजिकावसथमें विहार करते थे"

{ मज्झिमनिकाय पृष्ट १२७
चूळ-गोसिंग-सुत्तन्त
वैशाली }

कोटिग्राममें इच्छानुसार विहार कर जहां पर **वैशाली** का महावन है वहां गए, वहां भगवान् बुद्ध वैशाली महावन की **कूटागार** शाला में विहार करते थे।

उस समय बहुतसे प्रतिष्ठित 'लिच्छवि' संस्थागार-(प्रजातन्त्रसभागृह) में बैठे थे। वे सब मिलकर बुद्ध का गुण बखानते थे। धर्म का, संघ का, गुण बखानते थे, उस समय निग्गंठों का श्रावक (जैनों का श्रावक) सिंह सेनापति उस सभामें बैठा था।.. ......तब सिंह सेनापति जहां **'निग्गंठ नाथपुत्त'** थे वहां गया, जाकर **'निगंठ नाथपुत्त'** से बोला कि भंते मैं..................................

सिंह! तुम्हारा घर दीर्घकाल से **निगंठों** के लिए प्याऊ की तरह रहा है।.. .... उस समय बहुतसे

निगंठ (जैन साधु) वैशाली में एक .... चिरकालसे यह आयुष्मान् (निगंठ) बुद्ध...हैं।

'विनय पिटक' 'महावग्ग' तथा 'मज्झिम निकाय' में आए हुए इन उल्लेखोंसे हमें साफ २ मालूम हो जाता है कि 'महात्मा बुद्ध' 'महावीरसत्वं'

की जन्मभूमि 'कुण्डग्राम'–पाली भाषामें 'कोटिग्राम' में गए थे। और कुण्डग्रामके पासकी बसनेवाली वैशाली नगरीमेंसे वहां महात्मा–बुद्धको अम्बापाली नामक वेश्या और लिच्छवीक्षत्रिय मिलने आए थे। कोटिग्राम से म० बुद्ध जहां '**ञातिका**' 'ज्ञातृक' रहते थे वहां गए थे। और वहां '**ञातिका**' ज्ञातृकोंके 'गिंजिकावसथ'–ईंटोंके घरमें ठहरे थे। इस स्थानके पास ही एक अम्बापालीवन नामक उद्यान भी रहा है जिसे अम्बापालीने बुद्ध और उनके संघको समर्पण कर दिया था। वहां से म० बुद्ध वैशाली गए और वहां सिंह नामक सेनापति जो कि निर्ग्रन्थोंका श्रावक था, उसे अपना अनुयायी बनाया, सिंह सेनापति महात्मा बुद्धको मिलने जाने से पहले निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुके पास अनुज्ञा लेने आया था। तब भगवान् महावीरने सिंह सेनापति को "तू क्रियावादी हो कर अक्रियावादी श्रमण गौतमके पास उसे मिलने क्यों जाता है ? यह कह कर न जानेकी सम्मति दी थी"। परन्तु वह अपनी इच्छानुसार श्रमण गौतमके पास गया और वह वहीं श्रमण गौतम बुद्धका अनुयायी होगया।

उपरोक्त उल्लेखसे हमारे विषयको पुष्ट करने वाली चार बातें जानने को विशेष तया मिलती हैं।

(१) बौद्धोंका कोटिग्राम* ही जैनोंका कुंड ग्राम मालूम होता है, इन दोनों नामोंमें शाब्दिक सादृश्यके अतिरिक्त उस ग्राम के पास 'ज्ञातृक'–ज्ञातृवंशके क्षत्रियोंका निवास स्थान और वैशाली नगरीकी निकटता होनेके कारण ये दोनों वस्तुएं 'कुण्डग्राम' और वही 'कोटिग्राम' होनेकी मान्यता पुष्ट हो जाती है।

(२) कोटिग्रामके पास ज्ञातृकोंका निवासस्थान, भगवान् महावीरका वंश 'ज्ञातृवंश' था यह और भी पुष्ट कर देता है, और साथ २ कुण्डग्रामके, आस पास 'ज्ञातृक'–'ज्ञातृवंश' के क्षत्रियोंके खंड–'उद्यान' थे, और वहां

* बौद्धग्रन्थोंमें कुंडग्रामका नाम कोटिग्राम और म० म० को ज्ञातिपुत्रके स्थान पर नातिपुत्र लिखा है। देखो "भारतका प्राचीनराजवंश" पृष्ठ ४० ले० विश्वेश्वरनाथ राय॥

'ज्ञातृवंशी' क्षत्रिय रहते थे। यह इस विचारको और भी दृढ कर देता है। वह "ज्ञातृक" का उल्लेख और ये 'ज्ञातृक' भ० महावीरकी जन्म जातिवाले 'ज्ञातृ' क्षत्रिय ही होंगे यह कल्पना की ओर निर्देश करता है।

(३) 'ज्ञातृ' जाति लिच्छविओंकी एक शाखा थी* इस बातकी पुष्टिके लिए भी 'वैशाली के लिच्छवी क्षत्रिय महात्मा बुद्धको मिलने आए थे' इस उल्लेखसे पता चल जाता है कि भगवान् महावीर की माता भी लिच्छवि वंशकी ही थीं और 'सिंह सेनापति' जोकि-भगवान् महावीर का श्रावक था वह भी लिच्छवि वंशका ही था। ये दोनों बातें ज्ञातृ जातिको लिच्छविओंकी शाखा का होना ही पुष्ट करती हैं।

(४) कुण्डग्रामके पास विदेहकी राजधानी वैशाली नगरी थी। इस नगरी का कुण्डग्राम एक शाखापुरके समान था। भ० महावीर प्रभुका "वैशालिक" नाम भी इस नगरके नाम से ही प्रसिद्ध था, विशाला नगरी में सिंह सेनापति नामका जो निग्रन्थ श्रावक लिच्छवी रहता था वह भगवान् महावीर की सलाहको न मानकर महात्मा बुद्धके पास गया था। इससे भी महात्मा बुद्ध वैशाली नगरमें आया था तब भगवान् महावीर प्रभु भी उसी नगरमें थे, यह स्पष्ट जान पडता है।

ऊपरके उल्लेख में जो 'ञातिका' शब्द लिखा गया है, उस शब्दका मूल बहुतोंने 'नादिका' भी निकाला है, और उसका अर्थ 'इस नामके जलाशयके तट पर बसा हुआ एक ग्राम' किया जाता है। मगर यह भ्रमपूर्ण है। इस प्रकार हर्मन जेकोबी‡ उसका मूल शब्द ञातिका ही बताता है। और वह शब्द 'ज्ञातृवंस' के क्षत्रियों का वाचक है यह कह कर समर्थन करता है।

---

* प्रसिद्ध जैन तीर्थंकर महावीरकी माता भी लिच्छवी वंश की ही थीं। देखो 'भारतका प्राचीन राजवंश पृ० ३७८ लेखक विश्वेश्वरनाथ राय।

‡ हर्मन जेकोबी की 'Sacred Books of The East' नामक ग्रन्थमालामें प्रकाशित 'आचारांग और कल्पसूत्र' नामक जैनसूत्रोंके अनुवादकी प्रस्तावना, पृष्ठ १०।

इस जातिका शब्द पर त्रिपिटकाचार्य श्रीयुत राहुलसंकृत्यायन ने इस पर विशेष प्रकाश डालाहै । उसने अपनी 'बुद्धचर्य्या' *नामक हिन्दी पुस्तकमें 'नातिक' का मूल शब्द "नातिक"-ज्ञातृक,, बताया है । और 'ज्ञातृक' शब्द ज्ञातृवंशके क्षत्रियोंका सूचक है यह सप्रमाण बताता है । वे आगाडी चलकर यह भी बताते हैं कि-ज्ञातृ जाति लिच्छवियोंकी शाखाथी । और वैशाली नगरीके आस पास ही रहने वालीथी । यह ज्ञातृ जाति आज भी वैशाली नगरी (जिला मुजफ्फरपुरके अन्तर्गत है, बसाढके पास) के आस पास जथरिया नामक जातिसे पहचाना जाता है, यह जथरिया शब्द भाषाकी दृष्टिसे भी 'ज्ञातृ' शब्दके साथ गहरा संबंध रखता है ।

जथरिया शब्द 'ज्ञातृ' शब्दका अपभ्रंश शब्द प्रतीत होता है । 'ज्ञातृ' शब्दमेंसे जथरिया शब्दका अवतरण किस प्रकार होगया इसके विषयमें राहुलजीने भाषाकी दृष्टिसे निम्न प्रमाणसे विचार कियाहै । ज्ञातृ=ज्ञाति, ज्ञातृ-ज्ञातर-जातर-जतरिया-जथरिया-जैथरियाके गांवमें नातिका-ज्ञातृक-नातक-रतिका-रतिय-रती जिसके नामसे वर्तमान रत्ती परगना (जि० मुजफ्फरपुर) है । बुद्धचर्य्या २९ पृ० ।

इस प्रकार 'जथरिया' शब्द 'ज्ञातृ'का अपभ्रंश है राहुलजी इस रत्ती परगनाका मूल नाम अपने उपरोक्त उल्लेखमें आए हुए 'नातिका' शब्द से उत्पत्ति बताते हैं ।

---

* उस समय बड़ी भारी निर्ग्रंथोंकी परिषद (जैन साधुओंके समाज) के साथ निर्ग्रंठ नातपुत्त (महावीर) नालन्दामें ही निवास करते थे ।

---

(१) 'नातपुत्त'-'ज्ञातृपुत्र'लिच्छवियोंकी एक शाखा थी । जो वैशाली के आस पास रहतीथी । ज्ञातृसे ही वर्तमान जथरिया शब्द बना है । महावीर और जथरिया दोनोंका गोत्र काश्यप है । आज भी जथरिया भूमिहार ब्राह्मण इस प्रदेशमें बहु संख्यामें हैं । उनका निवास रत्ती परगना जो ज्ञातृ-नती-रती-रत्तीसे बना है ।

१११ पृष्ठमें निर्ग्रंठ पुत्तका भी उल्लेख किया है जो कि दी० नि० ५०।११८ से उद्धृत किया गया है ।

इस प्रकार 'जथरिया' और उसका वर्तमान निवास 'रती' ये दोनों शब्द 'ज्ञातृ' शब्दके साथ घनिष्ट संबन्ध रखते हैं और इस सबन्धसे **'जथरिया'** 'ज्ञातृक'-ज्ञातृवंशी ही हैं, और उनका प्राचीन निवास स्थान जोकि **'नादिका'** या **'नातिका'** के नामसे पहचाना जाता था वही वर्तमान रती परगना है यह राहुलजीका दृढ मन्तव्य है। इनके इस दृढ और पुष्ट मन्तव्यमें दूसरी यह भी युक्ति है कि-इन **'जथरियोंका'** मूल गोत्र **काश्यप है**। वही काश्यपगोत्र भगवान् महावीर और उनके ज्ञातृवंशी क्षत्रियोंका भी था।

इन **जथरिया**-ज्ञातृवंशी क्षत्रियोंके विषयमें सूचना करते हुए भी राहुलजी बताते हैं कि ये **'जथरिया'** लोक वर्तमान समयमें अपनेको ब्राह्मण बताते हैं। ये दान नहीं लेते। पंजाब प्रान्तमेंभी जमना नदीके किनारे बसने वाली एक जाती रहती है। वे भी दान नहीं लेते। उस देशमें उनको **तगा** कहते है। शायद यह त्यागीका अपभ्रष्ट होगया हो। हां तो इन 'जथरिया' जातिके लोकों को भूमिहार ब्राह्मण कहा जाता है। मगर और लोक इनको ब्राह्मण नहीं मानते। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि-वास्तवमें ये लोक क्षत्रिय ही हैं। इसका दूसरा कारण यह भी है कि-ये 'जथरिया' नाम सिंहान्त वाले हैं। जो क्षत्रियोंके नामके साथ आजकल पीछेसे लगाया जाताहै और इनके नामके पीछे ठाकुर शब्द भी जोडा जाता है। यह भी क्षत्रिय सूचक ही है। इस वंशमें आजकल भी बहुतसे जमीनदार और राजा भी हैं। दर्भंगा नरेश इसी जातिसे अलंकृत सुने जाते हैं।

बौद्धसाहित्यके उल्लेखोंसे तथा राहुलजीके कथनसे इतना अवश्य माना जा सकता है कि भगवान् महावीरका वंश 'ज्ञातृवंश' था। और वे ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय कुण्डग्रामके पास रहते थे। और इन ज्ञातृवंशीय क्षत्रियोंके ग्राममें महात्मा बुद्ध आए थे। वर्तमान समयमें ये ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय **'जथरिया'** के नामसे प्रसिद्ध हैं। और वे प्रायः विहारप्रान्त के मुजफ्फरपुर जिलेके रती नामक पर्गनेमें रहते हैं। और ये 'जथरिया' अपने नामके पीछे सिंह और ठाकुर शब्दका उपयोग भी करते है। और काश्यप गोत्र होनेसे ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय हो सकते हैं। मगर ये लोक आजकल अपनेको भूमिहार ब्राह्मण कहते हैं। वस्तुतः इसके पीछे सत्य स्वरूप कहां तक छुपा हुआ है इसे शोध करके प्रकट करनेकी बडी ही आवश्यकता है, इस सत्य शोधसे भगवान् महावीर प्रभुके

ज्ञातृ-वंश और उनके जीवनके सम्बन्धका बहुतसा अज्ञानान्धकार जो कि अपने आसपास फैल गया है वह अन्धकार दूर हो जायगा ॥

गुजराती अनुवाद—पोतानी तेमज अन्यनी पूर्ण उन्नति तथा भलाईने माटे जे परोपकार दृष्टिथी आपवामां आवे तेने 'दान' कहे छे, अथवा वस्तुपरथी पोतानो अधिकार छोडी दईने बीजा कोईने अधिकार आपवो ते पण 'दान' कहेवाय छे, परन्तु अहीं तो श्रद्धा अने प्रतीतिनी साथे भक्ति-भाव पूर्वक परिग्रह परनो ममत्व-भाव छोडीने कर्मोनी निर्जरा खातर अनुकम्पाथी तथा मन-वाणी-कायनी शुद्धि सहित फलनी इच्छा वगर दाता जे प्रासुक अने पवित्र वस्तु आपेछे तेने 'दान' कहे छे।

ते दानना चार प्रकार—अन्नदान-औषधदान-अभयदान अने ज्ञान-दान, ए दानोमां प्राणिओनो भय दूर करी तेने सर्वथा निर्भय करवा ते सर्वोत्तम दान मनाय छे। अने आ मानवदेहमां दश प्राण छे, तेथी 'प्राणी' कहेवाय छे, जीवित रहेवानी इच्छा अथवा जीवित रहेवानो तेनो स्वभाव होवाथी तेनुं नाम 'जीव' पण छे, अने ए दश प्राण द्रव्य प्राण छे, अने ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति रूप अनन्त-चतुष्टय भाव प्राण छे, वास्तविक रीते त्रणे कालमां आ प्राणोथी सदा आ जीव जीवित छे, सर्व जीवो जीववानी इच्छा राखे छे, मरवुं कोई इच्छतो नथी, तेथी जीवित रहेवानी इच्छावाळाने अभय दान दईने तेनुं सर्वप्रकारे रक्षण करवुं श्रेष्ठ छे। कोईने घणा दिवसो अभयदान पण आप्युं होत तो आ जीवनी मोक्ष थई जात, परन्तु आत्माने ज्ञानदान न मळवाथी पोताने जीववानुं स्वार्थ राख्युं, बीजा जीवोने पण जीववुं प्रिय छे ए भान भुलावी दीधुं। कोईए कह्युं पण छे के—

"जे रीते मने मारुं जीवन प्रिय छे, तेमज अन्य जीवोने पण पोतानुं जीवन प्रिय छे, स्वर्गमां रहेनार इन्द्र तेमज विष्टानो कीडो, महेलमां वसनार भूपति तेमज झुंपडीमां रहनार गरीब कठीआरो, ए दरेक जीववुं इच्छे छे, तेम समजीने कोई पण प्राणीना मन नाना भावने पण निरर्थक कष्ट न देवुं जोईए"।

अहिंसा परम धर्म छे—अहिंसा-परम धर्म छे, हिंसा सर्व जगाए निंदाय छे, जे पोताने पण वधारे अप्रिय छे, तो बीजाओने पण अवश्य अप्रिय छे, कारण के पोतानी तेमज परनी मनोदशामां कंई अन्तर नथी, तेथी चतुर मनुष्योनी सदा आ भावना रहे छे के कोई पण प्रकारे जगतना जीवोनुं कल्याण

करुं । भलाई करुं, परोपकारमां हुं पोते लाग्यो वळग्यो रहुं ने बीजाओने लगाडवानो प्रयत्न करुं । मारामां लेशमात्र पण दोष न रहेवा दउं ने बीजाओने निर्दोष बनाववानो पण सतत प्रयत्न करुं । आत्माना अनन्त सुखथी सुखी बनी बीजाओने सुखना स्थान पर लई जाउं ।

जो कोई *प्राणी* आ भावोथी विपरीत चालीने, लोभना दास बनीने, जीभनी लालच जाळमां फसीने, द्रव्योपार्जननी इच्छाथी, लडाईमा विजय मेळववानी इच्छा थी, पोताना मनने न्हेकावबाना हेतुए, निरपराध दीन-प्राणिओनी 'हिंसा' करे छे त्यारे तेनाथी उपार्जन करेल्य पापथी दूषित थईने, ते स्वार्थीने नरकमा अवश्य जवुं पडे छे, आ सिद्धान्त सर्व महापुरुषोंने मान्य छे, बधाए तेने उच्चकोटिए पहोंचाडवानो प्रचार कर्यो छे, महर्षि 'पतंजलिए' तो तेने सर्वथी मोटुं स्थान आप्युं छे, पाच यमोमां सौथी प्रथम 'यम' जीवरक्षा छे;

"क्रोध-लोभ-मोहने लीधे हिंसा करवी, करावबी, अने अनुमोदवी तेने वितर्क कहे छे, अने ते पापनुं परिणाम तेमना मते अनन्त दु:ख बतावबामां आव्युं [redacted] ।"

कोई जयाए तो अहिंसानी प्रशंसा एटले सुधी करवामां आवी छे के प्राणिओनी साथे वैर भाव पण त्यागी देवो जोइए । त्यारेज साधक अहिंसा साधी शके छे ।

श्रीमद् उमास्वामीए—तत्त्वार्थसूत्रमां कह्युं छे के "जे कोई जीव प्रमाद अर्थात् असावधानता युक्त थईने मनो योग–वचन योग अने काययोग द्वारा प्राणोनो 'अतिपात' या 'व्यपरोपण' करे छे तेने हिंसा करवुं कहे छे ।

हिंसा करवी-मारवुं-प्राणोनो अतिपात त्याग अथवा वियोग करवो, प्राणोनो वध करवो, जीवने कायथी अलग करवो, भवान्तर अथवा गत्यन्तरमां पहोंचाडी देवो, अगर प्राणोनुं व्यपरोपण करवुं, ए बधा शब्दो एकार्थवाची छे ।

जो कोई जीव प्रमादी अर्थात् मद विषय-कषाय-निद्रा अने विकथाने वश थईने एवुं कार्य करे, पोताना वा परना प्राणोना व्यपरोपणमां प्रवृत्त बने, त्यारे ते हिंसक हिंसाना दोषनो भागी कहेवाय छे, प्रमादनो त्याग करीने प्रवृत्ति करवावाळाना शरीरादिकना निमित्तथी जो कोई जीवनो वध थई जाय तो ते दोषनो भागी कहेवातो नथी । एटले 'अप्रमत्त' अवस्थानुं बीजुं नाम 'अहिंसा' छे ।

तदुपरान्त 'योगशास्त्र' ना व्यासकृत भाष्यमां अहिंसानी व्याख्या आ प्रमाणे करवामां आवी छे । के "सर्वदा सर्वप्रकारना जीवोनी साथे कदी पण द्रोह न करवो ते अहिंसा छे ।

याज्ञवल्क्य-स्मृतिमां कह्युं छे के मन, वचन, कायथी कोईने पण क्लेश न पहोंचाडवो ते ज 'अहिंसा' छे ।

अहिंसा-सत्य-आज्ञा विना पर वस्तु न लेवी, आत्माने पवित्र राखवो, इन्द्रियोनुं दमन करवुं, दया पाळवी, मनोविकारना प्रवाहने रोकवो, शान्तिमय जीवन जीववुं, ए बधाने धर्मसाधन बतावबामां आव्युं छे ।

यजुर्वेद–तेमां पण उपदेश आपवामां आव्यो छे. के–हे पुरुष ! तुं जगत्ना कोई पण प्राणीनी हिंसा करीश नहि । "मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे" १८–१, पोतानी आंखोथी सर्वने मित्र दृष्टिए जोवा जोइए । शत्रु जेवी दृष्टि कोईना पर पण न करवी ।

मनुनो पांचमो अध्याय–"जे मनुष्य पोताना कल्याणनी तो इच्छा प्रगटकरे छे, परन्तु प्राण-भूत जीवोनी हिंसा करे छे. ते जीव आ लोकमां, अने मरीने परलोकमां क्यारे पण सुख मेळवी शकशे नहि ।

दशधर्म–"धैर्य धारण करवुं, क्षान्ति राखवी, आत्माने पापथी विरक्त बनाववो, चोरी न करवी, आन्तरिक पवित्रता राखवी, इन्द्रियोने वश करवी, सत्य बोलवुं, क्रोध न करवो, अहिंसानुं पालन करवुं, आरंभ अने परिग्रहने मुकवा ए प्रकारे धर्मना दश लक्षण बतावेला छे ।"

महाभारत–"आ हुं सत्य कहुं छुं के सत्यवादिओनो धर्म अहिंसा छे. अने ते प्रधान छे, अने हिंसा करवी, ए अधर्म छे, पाप छे ।

अहिंसावचनामृत–अहिंसा परम धर्म छे, अहिंसा उत्कृष्ट दमन छे, अहिंसा उत्कृष्ट दान छे, अहिंसा प्रधान तप छे, अहिंसा परम यज्ञ छे, अहिंसा परम फळ छे, अहिंसा परम मित्र छे, अहिंसा उत्कृष्ट सुख छे अहिंसा एव उत्तम जीवन छे ।

"सर्व प्रकारना यज्ञोनो अनेक प्रकारनुं दान करवुं, सर्व तीर्थोनी अनेक स्तुतिओ गावी, सर्व दानोनुं फल अहिंसा करतां सारुं नथी, एटलेके ते सर्व अहिंसानी साथे बराबरी करी शकतुं नथी ।"

नियमसार-कुलस्थान, योनिस्थान, जीवसमासस्थान, मार्गणास्थान, इत्यादि भेदोने सारी रीते जाणीने जीवरक्षा करवाना भावने 'अहिंसा' कहे छे, जीवोनुं मृत्यु थाय छे के नहि, ए प्रकारना विचारमां लागेला परिणाम वगर पाप-हिंसारूप क्रियानो त्याग थवो कठिन छे, तेथी ते रक्षाना प्रयत्नमां लागवुं, ते 'अहिंसा' छे।

समन्तभद्राचार्यजीनुं कथन छे के-जगत्मां आ सर्व जाणे छे के 'अहिंसा परब्रह्म स्वरूप छे, अर्थात् आत्मानी पूर्ण वीतरागताज 'अहिंसा' छे। ज्यां वीतरागता छे त्यां आत्मानुं शुद्ध-स्वरूप छे, जे आश्रमना चरित्रमां अणुमात्र पण आरंभ नथी, त्यां आ 'अहिंसा' प्राप्त थाय छे। आशय ए छे के आदर्श पुरुषोनुं सुन्दर तेमज सच्चरित्र रुप आचरण 'अहिंसा' छे। तेथी अहिंसानी सिद्धिने माटेज परम दयालु प्रभुए आरम्भ परिग्रहनो त्याग कर्यो छे। प्रभु विकारशील वेश तेमज परिग्रहमां अनुरक्त नथी। कारणके ज्यां परिग्रहनी आसक्ति नथी त्यांज ऊंचा प्रकारनी अहिंसा-धर्म छे 'जैन धर्मनी जय' ते माटे बोलवामां आवे छे के तेमां पूर्ण अहिंसानुं पालन करवामां आवे छे, ते त्रस जीवोनी घात करवावाळा विचारोने जडमूलथी नाश करवानुं कारण छे। तेमज पंचकायरूप एकेन्द्रिय जीवोनी घातथी पण तद्दन पर छे। अहिंसा त्रणे लोकना जीव समूहने सुख देनारी छे। तथा सुन्दर अने अक्षय सुखथी भरपूर समुद्र समान अगाध छे।

सर्वथा अहिंसानुं पालन करवुं, ए मुनिओनो धर्म छे, कारणके हिंसानुं परिणाम दुःख जनक छे, एम महापुरुषोए महान् अनुभवथी बताव्युं छे।

"पगे लंगडो छे, शरीरमांथी रक्त पित्त वहे छे, हाथ कपायेला छे, तेमज अन्य अनेक रोगथी भरपूर छे, तेने जोईने समजी लेवुं जोइए के आवुं दारुण दुःख अन्य प्राणिओनी हिंसा करवाथी तेने भोगववुं पडे छे। आथी निरपराध जीवोनी संकल्पमात्रथी पण हिंसा न करवी। ए चतुर पुरुषोनुं कर्तव्य छे।"

सुख दुःखमां, भला बुरामां, युक्त अयुक्तमां, पोताना जेवा अन्य आत्माओने समजीने क्यारे पण कोईनुं 'हिंसारूप' अनिष्ट न करवुं।

लोकोनुं मन्तव्य-लोकोनुं आ मन्तव्य छे के-धर्मना संपूर्ण अंगो सांभळीने, मनमां विवेक राखीने तेनो निर्णय पूर्वक आ सार छे के ज्यारे मने

माराथी प्रतिकूळ सारुं नथी लागतुं त्यारे बीजाओने तेमने प्रतिकूळ क्यांथी सारुं लागे ?

"बधाने पोतानो प्राण प्रिय छे राज्य नहि"–पोताना प्राण बचाववानी खातर इष्ट मित्र अने राज्यने पण तृणनी समान छोडी दे छे, तेथीज कोईना प्राणनो नाश करवाथी जे पाप थाय छे, ते समस्त पृथ्वीनुं दान करवा छतां दूर थई शकतुं नथी ।

मरनारने भले राज्य आपो के सुवर्णना पहाड अर्पण करो परन्तु जीवतरनी पासे ते वस्तुओनो कंई हिसाब नथी । तेथी ते सर्वने छोडीने जीवता रहेवानी अपील करे छे ।

"जरा कांटो पगमां लागे छे तो ते आपणा शरीरमां भारे पीडा करे छे तो जे निरपराध जीवोने मोतने भारे पहोंचाडी दे छे, ते मरनारना दुःखोनी वेदना अनिर्वचनीय छे ।"

"अकारण, निरपराध, दुर्बलप्राणी बळवानना हाथे मराय छे, ते क्यांनी नीति ? हाय ! कष्टनी साथे अमारे कहेवुं पडे छे के जगतमां अराजकता व्यापी गई छे, त्यां न्यायने स्थान क्यांथी मळे, जो कोई कोईने संभळावे छे 'तुं मरी जा' एम सांभळनार पण आ सांभळतां ज कंपी उठे छे, शरीर भयभीत बने दुःखी थई जाय छे । तो जे बीजाने कठोरता पूर्वक शस्त्रथी मारे छे त्यारे तेनी शी दशा थती हशे ! तेना दुःखना अनुभव वगर तेनुं वर्णन कोण करी शके ?"

"हाथनुं कपावुं सारुं छे, पग वगरना रहेवामां पण कंई रतावी नथी, पण शरीरना सम्पूर्ण अंगोने प्राप्त करवा छतां 'हिंसकपुरुष', कोई कामनो नथी ।"

सार्थ साधवानी हिंसा पण हानिकारक छे–"मित्रनी शान्तिने माटे करेली हिंसा पण मित्रने माटेज थाय छे । घणाओ एम कही दे छे के–अमारा कुलनो आ रिवाज चाल्यो आवे छे । परन्तु ते कुलनुं जगत भलुं करी शकतो नथी । ते कुलना नाश माटेज थाय छे शान्तिने माटे नहि । पोताना वंशमां परम्परागत चालती आवेली हिंसाने जे प्राणी छोडी दे छे, अने शुद्ध अहिंसक बने छे, ते 'कालसूर कसाई' ना पुत्र 'सुलस' नी पेठे सर्व मनुष्योमां पवित्र अने श्रेष्ठ बने छे ।"

"जे इन्द्रियोने तो वशमां राखे छे; देव-गुरुनी सेवा पण करे छे, यथा शक्ति दान पण आपे छे, तत्व भणे भणावे छे, तप पण करे छे, पर्ण धर्म बुद्धिए जरा पण हिंसा करी बेसे छे त्यारे तो तेनी उपरोक्त सर्व क्रियाओ निष्फल छे, तेथी साबित थयुं के धर्मना नामे करवामां आवेली हिंसा वज्रलेप समान भयंकर पापकारिणी छे।" "अने जे शास्त्रमां धर्मना नामे हिंसानो उपदेश करवामां आव्यो होय ते शास्त्र नथी पण शस्त्र समान छे।" "ए केवुं आश्चर्य छे जे मनुष्य शुद्धाने मारवानो उपदेश देवावाळा, लोभान्ध धनी पथ भ्रष्ट धनवावाळा, हिंसा विधायकशास्त्र बनावीने तथा पाप करवानो उपदेश आपीने लोकोने मूर्ख बनावी रह्या छे, अन्धश्रद्धालु बनावीने मानो नरकना कुंडमा नाखी रह्या छे।"

अहिंसानुं माहात्म्य-"अहिंसा मातानी जेम सर्वनुं पालन करनारी अने हितकारिणी छे। *अहिंसाज शत्रुओना मनमा अमृतनो संचार करावनारी* छे। अहिंसा दुःख रूपी दावानलने बुझाववामां अमोल अने प्रधान वर्षा छे। संसार भ्रमण अर्थात् जन्म मरणना रोगथी पीडित जीवोने आरोग्यता अर्पनारी समर्थ औषधि छे।"

अहिंसानुं फल-"दीर्घायुष्य-पवित्र अने सुन्दर रूप-नीरोगता-संसारमां निर्मल यशः कीर्ति इत्यादि सामग्रीओ अहिंसा पालनथी ज मळे छे, अधिक शुं कहेवुं, अहिंसा सर्व मनोरथ पूर्ण करवावाळी आदि शक्ति छे।"

कोईए ठीकज कह्युं छे के-"पर्वतोमां सुमेरु-अमृत पीनारामां देवता, मनुष्योमां चक्रवर्ती, ज्योतिष चक्रमां चन्द्र, वृक्षोमां ठंडी छाया आपनार फळदार अशोकवृक्ष, ग्रहोमा सूर्य, जलाशयोमा समुद्र, सुर असुर मनुष्य तथा चक्रवर्तिओमां वीतरागनी समान सर्व मतोमा पण अहिंसा व्रत सर्वोत्तम छे। ते व्रत अनुपम छे।"

निष्कर्ष-*आ सर्व शास्त्रोनो विचार करतां स्वयमेव सिद्ध थाय छे* के हिंसा सर्व शास्त्रोमां वर्ज्य बतावी छे। जैनोए तो तेनुं नाम 'प्राणातिपात' कह्यु छे। तेनो आशय ए छे के कोईना एक प्राणने पण निरर्थक दुःख न देवुं जोइए। साधु मुनिराज तो तेनुं सर्वांशे पालन करे छे। अने गृहस्थ तेनुं अमुक अंशे पालन करी शके छे।

"पोतानुं जीवन सर्व कोईने बधी वस्तुओ करतां अधिक प्रिय छे, जेम कयुं छे के–"जो मरनारने एम कहेवामां आवे के तुं एक करोड सोनामहोर लईने तारो जीव दई दे। त्यारे ते धनना ढगलाने छोडीने जीववानी आशा प्रगट करशे। कारणके जीव गया पछी तेने माटे धन शा कामनुं? सर्वने जीववुं वहालुं लागे छे। तेथी सर्व दानोमां अभयदान श्रेष्ठ छे।

अभयदान पर उदाहरण–वसन्तपुरमां अरिदमन नामे राजा राज करतो हतो, ते पोतानी चार राणिओ साथे आनंद भोगवतो। एक दिन ते राणिओए गायुं, बजावयुं नाचवुं शरु कर्युं। राजा तेमनी गांधर्व विद्या उपर प्रसन्न थई गयो अने बोल्यो के "आजे तमे जे कंई मागशो ते हुं आपीश।" राणिओए जवाब आप्योके अत्यारे तो अमने कोई पण वस्तुनी आवश्यकता नथी, पण यथा समय जरूर मागी लईशुं, अमने आपेल वरदान हमणां आप जमा राखो, राजाए कयुं "बहु सारु"

एक वार राणीओए एक चोरने जोयो के जेने लाल कपडां तथा जोडानो हार पहेरावीने वध्यभूमि तरफ लई जवामां आवतो हतो। राणीओनी साथे राजा पण महेल पर टेलतो हतो। चोरने जोईने राणीओए राजाने पूछयुं के प्रजानाथ! "आणे शो अपराध कर्यो छे?" राजाए एक सिपाईने बोलावीने पूछयुं। तेना जवाबमां तेणे कयुं के–पृथ्वीनाथ! तेणे चोरी जेवुं राज्य तेमज धर्मविरुद्ध अकार्य कर्युं छे, तेथी आपेज तेने प्राणदंडनी शिक्षा फर्मावी छे।

ते सांभळीने तेमांनी एक राणीए कयुं के न्यायवल्लभ! आप मने मारुं वरदान आपो के तेने एक दिवसने माटे जीवनदान आपवामां आवे, के जेथी हुं तेना पर कांइक उपकार करी शकुं" राजाए कयुं "तथास्तु"

राणीए तेने महेलमां बोलावी कयुं के "तने आजने माटे बचावी दीघो छे माटे खा पी ने मोजकर" एम कहीने अंध वस्त्रथी तेनुं स्वागत करवामां आव्युं। त्यार बाद तेने १००० दीनार आपीने विदाय करवामां आव्यो।

ए रीते बीजी अने त्रीजी राणीए पण एक एक दिवसनुं जीवित दान दईने अनुक्रमे एक लाख अने एक क्रोड सोनामहोरनुं दान आप्युं।

पण चोथी राणीए तेने कंई पण आप्या वगर तेने प्राण दंडनी सजा राजानी पासे क्षमा करावी दीधी। त्यारे सांभळीने ते त्रणेए कयुं के "एने तें शुं

आप्युं!" चोथी राणीए कहुं के "में तेने ए वस्तु आपी छे के जे तमे बधी मळीने स्वप्नमां पण न आपी शको" ते सांभळीने ते बधी क्रोध करीने तेने गळे पडीने बोली के "अमे तेने क्रोडपति बनावी दीधो अने तुं कहे छे के अमे एना पर तारा जेटलो उपकार पण नथी कर्यो!" चोथीए कहुं के "धन थी पण अधिक प्रिय सौने पोताना प्राण होय छे।" में तेने प्राण दान अपावीने हमेशाने माटे सुखी बनावी दीधो छे। हवे तेने मरवानो भय नथी रह्यो। जेथी में मोटुं कार्य कर्युं छे। जो मारी आ वात पर तमने विश्वास न होय तो राजानी पासे आनो न्याय कराववो जोइए" एटली वात थया पछी राजाने महेलमा बोलाववामां आव्यो। राणीओनो मुकद्मो सांभळीने राजाए चोरने बोलाव्यो अने पूछ्यु "तु साचुं कहे के कई राणीनो तु अधिक उपकार माने छे?"

तेणे विनय पूर्वक शिर झुकावीने कह्यु के–एम तो बधीए मारा पर भारे उपकार कर्यो छे, कारण के तेणे मने अभयदान अपाव्युं छे। त्रणे राणीओए क्रोडोनुं धन आप्युं अने एक एक दिवस मरतां बचाव्यो पण ए भय माथे रह्योज हतो के काले तो मरी जवानुं छे, तो आ धनने हु शुं करुं? पण चोथी राणीए मने संकटमांथी बचावी दीधो छे। जेथी हुं जावजीव सुधी निर्भय बनी गयो, तेथी आ उपकारनो बदलो मारो देह अर्पिने पण नहि चुकावी शकुं। "कारणके सर्व-दानोमा अभयदान श्रेष्ठ छे।"

एज प्रकारे सत्यवचनो निरवद्य-पापरहित-अन्यनी पीडा दूर करवावाळी भाषा सर्वोत्तम छे, कारण के काणा-नपुंसक-रोगी-चोरादिने तेना नामे बोलाववाथी पण तेना मनने आघात पहोंचे छे।

मनुनो मत—"सत्य-प्रिय-तेमज मनने अनुकूल बोलो, असत्य तेमज अप्रिय सत्य पण न बोलो। आ प्रसंग मा असत् शब्दना जैनसिद्धान्तमां त्रण अर्थ छे। सद्भावनो प्रतिषेध, तेमज अर्थान्तर तथा गर्हा-निन्दा। वस्तुना स्वरुपना अपलापने सद्भावनो प्रतिषेध कहे छे। ते बे प्रकारे छे। सद्भूत पदार्थनो निषेध तेमज असद्भूत पदार्थनुं निरुपण। जेमके "नास्ति आत्मा" अर्थात् आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नथी, अथवा "नास्ति परलोकः" परलोक अर्थात् मरण पछी जीवने अन्य भव धारण करवो पडे, ए वास्तविक नथी, ए वगेरे भूत निन्हव छे। कारण के तेथी सद्भूत पदार्थनो अपलाप थाय छे। आत्मा तेमज परलोक-जीवनु भवान्तर धारण करवु वास्तविक रीते सिद्ध पदार्थ छे, युक्तियुक्त तेमज

अनुभवगम्य छे, तेनो निषेध करवो ते सद्भूतनुं अपलाप नामे मिथ्यावचन छे, आत्माने श्यामाक तंदुल-सामकना चावलनी जेम नाना प्रमाणवाळो बतावयो अथवा अंगुठाना टेरवा बरावर समजवो अथवा एम कहेवुं के ते रक्त वर्णनो छे। निष्क्रिय छे, वगेरे सर्व वचन अभूतोद्भावन नामे असत्यवचन छे, कारणके आ वातना वचनो द्वारा आत्मानुं जे वास्तविक स्वरूप नथी तेनो उल्लेख करवामां आवे छे। अर्थान्तर-एटले भिन्न अर्थ, एक पदार्थने अन्य रूपे बताववो, वास्तविक न कहेवो, ते अर्थान्तर छे। जेम कोई गायने घोडो कहे, अने घोडाने गाय कहे; जनने ईश्वर कहे अने ईश्वरने जुल्मी कहे। ते-अर्थान्तर नामे असत्य कहेवाय छे।

गर्हा-एटले निन्दा करवी, तेथी जेटला निंद्य वचनो छे तेने बधाने गर्हित नामे असत्य वचन समजवां जोइए, जेमके "आने मारी नाखो!" "मरी जा" "आने कसाईने सोंपी दो" विगेरे हिंसामय वचन बोलवां तेमज मर्म भेदी-मनने दुःख थाय तेवा अपशब्द कहेवा, गाळो देवी, कठोर वचन कहेवां, क्रूर शब्दो वापरवा, पैशून्य-कोईनी चुगली करवी, वगेरे गर्हित वचन कहेवाय छे। जो ते गर्हित वाक्य कदाच सत्य पण होय, छतां ते असत्य मनाय छे। कारण के ते निन्द्य छे। प्रमाद सहित जीवना वचनो पण असत्य मनाय छे, प्रमाद युक्त कहेला वचन असत्य होय छे, अने प्रमाद रहित कहेवामां आवेल असत्य वचन पण सत्य होइ शके छे, जेवी रीते कोई रोगीबाळकने पताशामां दवा राखीने आपतां कहे छे के आ पताशुं छे।

सत् शब्दना बे अर्थ थाय छे, विद्यमान तेमज प्रशंसा-तेथीज असत् शब्दना अविद्यमान अने अप्रशस्त ए बे अर्थ लेवा जोइए। सद्भूत-निन्हव-असद्भूतोद्भावन तेमज अर्थान्तर ते अविद्यमान अर्थ दर्शावनार होवाथी असत्य छे। गर्हित वचन अप्रशस्त होवाथी असत्य छे तेमज प्रमादनो संबन्ध पण बंनेनी साथे छे,

ते सिवाय कषाय असत्यनुं निमित्त बने छे। कषायनो उदय थतां असत्यनो प्रयोग अवश्य करवामां आवे छे। तेथी क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-द्वेष-मोहादिने लीधे असत्य बोलवानो त्याग करवो, तेने सत्य अनुव्रत कहे छे।

मश्करीमां-कठोर शब्द वापरतां-चुगली करतां-अप्रशस्तवचन कहेतां-असत्य शब्द बोलवानुं अनिवार्य थई जाय छे। ज्यारे बीजुं अनुव्रत सोबराय छे त्यारे ज देहधारिओने आत्मस्थिरता प्राप्त थाय छे।

कोईए कह्युं छे के जेने मूढताने कारणे धर्म एवुं नाम आपवामां आव्युं छे, वळी जेने म्लेच्छो पण निन्द्य समजे छे, ते असत्यनो मन-वचन-कायथी त्याग करवो एज योग्य छे, जो हितनी वाञ्छा होय तो असत्य न बोलता मौननो स्वीकार करवो जोइए। कारण के नीचेनी बाबतोमां सौ मौन राखे छे; जेवां के-

प्रतिक्रमण करती वखते, मलमूत्र त्यागती वखते, पाप कार्य छोडती वखते निरन्तर मौन सेववुं, कारण के मौनना सेवनथी वाणीना दोषो लागता नथी।

मौनथी क्लेशनो नाश थाय छे, सन्तोष भाव आवे छे, वैराग्य आवे छे, ने सत्य अने संयमनी पुष्टि थाय छे; जीभनो स्वाद त्यजवाथी तपनी वृद्धि थाय छे, अभिमानथी बची जवाय छे, ने सत्य-समता आवे छे। वाणी मनोरमा बनी जाय छे, वचनो प्रशंसा पात्र थई जाय छे, मौन सेवनार पूज्य बने छे, परन्तु देश कालनो विचार करीने मौननुं सेवन करवु जोइए। जो न्याय बोलवाथी संसारने सद्बोध तेमज चरित्रनो लाभ थतो होय तो त्यां मौन न रहेवु जोइए, वाणी हमेशा सत्य होवी जोइए।

गृहस्थने माटे त्याज्य असत्य-गृहस्थे कन्या-पशु-भूमि सम्बन्धी जुठु न बोलवुं जोइए, खोटी साक्षी पण न देवी जोइए, तेमज कोईनी थापण ओळववी न जोइए, आ पाच वातोने ध्यानमां राखनार सत्याणुव्रती छे, जो सत्य बोलवाथी पोता-पर अथवा बीजा पर आपत्ति आवी पडे तेम होय तो त्यां मौन राखवुं योग्य छे।

अने साधु ज्यारे राग-द्वेष अगर मोहथी असत्य बोलवाना परिणामने छोडे छे, त्यारे बीजुं सत्य व्रत कहेवाय छे। कारणके असत्य बोलवानो भाव सत्य भावथी विपरीत होय छे। अने आ असत्य भाव, राग-द्वेष के मोह भावथी जीवमां उत्पन्न थाय छे। यानी मनुष्य इष्ट पदार्थ अथवा विषयोनी प्राप्ति अथवा रक्षानी खातर राग द्वारा असत्य बोले छे, अनिष्ट पदार्थ अथवा विषयोने दूर करवाने माटे अथवा तेनो संयोग न थाय ते माटे द्वेषयुक्त असत्य बोले छे। अथवा मिथ्या बुद्धिथी संसारमां मोहने लीधे ते मिथ्याभावनी रक्षाने माटे असत्य बोले छे, जे कोई निकट भवी जीव आ प्रकारना असत्य बोलवाना परिणामने त्यागी दे छे, तेनामां सत्य व्रतनी योग्यता आवे छे। जे सत्य भावना रंगथी रंगाईने प्रगट रीते सत्य व्यवहार करे छे, ते सज्जनोनो पण पूज्य बने छे, तेथी आ वात तद्दन साची छे के सत्य थी वधारे महान् बीजुं कोई व्रत नथी।

असत्य बोलवानुं निकृष्ट परिणाम—जुठुं बोलनार मरीने मुंगो बने छे, अथवा तेने मूक गतिवाळो जीव बनवुं पडे छे, ते स्पष्ट बोली शकतो नथी। कोईने तेनी सम्मति पण प्रिय लागती नथी। मुख रोगथी पीडाय छे, आ बधुं जुठुं बोलवानुं दुष्ट परिणाम जाणीने कन्यादि सम्बन्धी असत्य कदी पण न बोलवुं जोइए। असत्य बोलनार मूर्ख-विकलांग-वाणी हीन थाय छे। तेनी वाणी सांभळतां लोकोने तिरस्कार थाय छे। अने तेना मुखमांथी दुर्गन्ध नीकळे छे। जे लोक विरुद्ध छे, जेथी विश्वासघात थाय छे। जे पुण्यनुं प्रतिपक्षी छे, तेवुं वचन क्यारेय पण न बोलवुं जोइए। जे जूठ बोले छे तेमानां तुच्छता आवे छे, ते पोताने छेतरे छे, अधोगति (नरक) मां जाय छे, तेथी जूठ सदा वर्जनीय छे। जूठ प्रमादथी पण न बोलवुं जोइए, कारण के हितावहरूपी कल्पवृक्ष असत्यरूपी आंधी थी पडी जाय छे। भूत-भविष्यत्-वर्तमाननी वातोनुं पूर्णपणे ज्ञान न होय तो 'ते आम हशे' एम न कहेवुं, जे वातनी खबर होय ते न कहेवी, जो त्रणे कालनी वातोमां सत्य निःशंक पणु होय तो कहेवी। असत्य बोलवाथी वेर विरोध वधे छे, पोल खुली जवाथी पस्तावो थाय छे, कोई तेना पर विश्वास करतुं नथी, बदनामी थाय छे, दुर्जनपणा सेवननी पेठे अनेक दुःखो जूठ बोलवाथी थाय छे। जूठ बोलनार नरक-निगोद-अने पशु योनिनो जन्म मरण करे छे। थोडुं असत्य बोलनार पण नरक निगोदमां जाय छे। ज्ञानिओए ज्ञान अने चारित्रनुं मूळ सत्यज बताव्युं छे, सत्यवादिओनी चरण रजथी पृथ्वी पवित्र थाय छे। जे हमेशा सत्य बोले छे तेने भूत-प्रेत-सर्प-सिंह-आदि पण कंई करी शकता नथी। माथुं मुंडावीने, जटा राखीने, नग्नावस्था धारण करीने, साधु वेश पहेरीने, अथवा तपश्चर्या करीने जे असत्य बोले छे, तेने अछूत करतां पण वधु निन्द्य समजवो। एक तरफ असत्यनुं पाप अने बीजी बधु आखा संसारनां सर्वे पापो राखवामां आवे तो असत्यनुं पाप वधी जाय। उग्र संयम ब्रह्मचारी-ओना पापनुं प्रायश्चित होय छे पण असत्यवादीने माटे नथी। सत्यना पडखे देवो पण ऊभा रहे छे, राजा पण तेना पर पोतानी सत्ता नथी चलावी शकतो, तेने अग्नि उपद्रव करी शकतो नथी, आम सत्यनो महिमा अपार छे। ध्यान योगि-ओनु सत्यनां गुरुत्व प्रमाण करी छे, जेमांथी सुभाषितकारोनां उद्धरण कंईक आ नीचे आप्यां छे। "जे सत्यनी तुल्य धीरज पूर्वक सत्यनी रक्षा करे छे, ते मुनिदीक्षाने पुरुने धारण करे छे, ते बन्धनरूपी संसारनां फंदामांथी छूटा होय छे।"

"यम-नियमादि व्रतोनो समूह एक मात्र अहिंसानी रक्षाने माटेज कह्यो छे; अहिंसा व्रत जो असत्यथी दूषित होय तो ते उच्चपद कदी पण प्राप्त न करी शके, असत्य वचन साथे अहिंसानुं पालन अशक्य छे।" "जे वचन जीवोनुं हित करनारुं होय ते असत्य छता सत्य छे। अने जे वचन पाप सहित हिंसा रूप कार्यनी पुष्टि करे छे, ते सत्य छतां असत्य छे निन्द्य छे।" "जे साधक अनेक जन्मोनां दुःखोनी शान्ति अर्थे तप करे छे, ते निरन्तर सत्यज बोले छे, कारणके असत्य बोलनारने साधकपणु सम्भवतुं नथी।" "जे वचन सत्य होय छे, करुणाथी भरपूर होय छे, अविरुद्ध होय छे, आकुलता रहित होय छे, असभ्य न होय, इन्द्रिय विकारोने पुष्ट करनार न होय, गौरव वधारनार होय, कोईने हलका पाडनारु न होय, तेज वचन शास्त्रमा प्रशंसनीय गण्युं छे।" "निरन्तर मौननुं सेवन कल्याणकारी थाय छे, जो बोलवानी जरूर पडे तो सत्य-प्रिय-तेमज हितकर बोलवुं जोइए।" "पण दुष्ट चरित्रोना मुखमा वाणी क्रूर असत्य वाणी रूपी नागण रहे छे, के जे आखा जगतने दुःखी करे छे।" "जे वात सदेह युक्त होय, पापरूप होय, दोष सहित होय, ईर्षाने वधारनारी होय, ते बीजा ना पूछवा छता पण न कहेवी।" "मर्मभेदी, मनने पीडा उपजावनार, स्थिरता नाशक, विरोध करावनार, तेमज दया रहित वचनो प्राण जाता पण न बोलवां।" "ज्यां धर्मनो नाश थई रह्यो होय, चारित्रने नुकसान पहोंचतु होय, देशनी स्वतन्त्रता नाश पामती होय, समीचीन सिद्धान्तनो लोप थतो होय, त्यां देश-धर्म-तेमज जातिनी उन्नति खातर वगर पूछ्ये पण विद्वानोए बोलवुं जोइए, ते समये मौन धारण करवुं योग्य न कहेवाय।" "जे वाणीना श्रवणथी जीवो मोह मुग्ध बनी जाय, सन्मार्ग भूली जाय, साम्प्रदायिकता अने पक्ष-पात आवी जाय, वाडाबंधीमां फसावनारी ते वाणी नथी, पण सापणी छे, कारण के तेना श्रवण मात्रथीज प्राणी उत्तम मार्गने छोडी कुमार्गे जाय छे।" "मनोहर वाणी जेटलुं सुख आपे छे तेटलु सुख चदन-चन्द्रमा-चन्द्रमणी-मोती-मालती वगेरे शीतल पदार्थो आपी शकता नथी।" "अग्निथी दग्ध वन क्यारेक पण लीलुं बनी शके छे, पण वाणीरूपी आगथी पीडित मनुष्य कदी पण प्रफुल्ल बनी शकतो नथी।" "जे सत्य-वक्ता छे, तत्त्वना स्वरूपने समजे छे, सदाचारी छे, तेना चरण स्पर्शथी पृथ्वी पवित्र बने छे, ते लोकोज उत्तम छे, अने जे असत्य वचन बोले छे ते नीच अने शूद्र छे।" "जे नीच पुरुष मनुष्य-

जन्म प्राप्त करीने पण असत्य बोले छे, ते संसार रूपी सागरनो पार केवी रीते पामी शके ?" "जेनां नाक-कान-हाथ कपायेलां होय, रूप रंगनुं नाम पण न होय, दरिद्री तेमज रोगी होय, कुल-जाति अने धर्म थी हीन होय, तो शुं थयुं ! तेनुं तो भूषण सत्य छे, सत्यथी पवित्र तेमज सुखी बनी शके छे, तेनी शोभा सत्यथी छे ।" "जे पुरुष असत्य-कालिमाथी मलिन छे, तेनो साथ पाप-रूपी-कालाशना भयथी कोई पण धर्मज्ञ पुरुष स्वप्नमां पण करतो नथी ।" "जुठाणी संगतिथी साचो पण कलंकित थाय छे, जेम मेला लुगडानी संगतिथी स्वच्छ अने निर्मळ गंगाजळने पण दरजुं प्रहार सहवुं पडे ।" "पुत्र-स्वजन-स्त्री-धन तेमज मित्रो विमुख बने, वा चाल्यां जाय, तेमज प्राणनाश थाय छतां असत्य न बोलवुं जोइए ।" इत्यादि वचनामृतोनुपान करी जे कोई पाप रहित तेमज श्रेष्ठ सत्य बोले छे, ते जगत् प्रधान पुरुष छे ।"

तपमां श्रेष्ठ तप कयो ? मलनी पेठे सर्व प्रकारना इच्छा निरोध तपमां नव विधि ब्रह्म-गुप्तिए गुप्त एवो ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ छे । सुन्दर स्त्रीओना मनोहर अंगोने जोईने तेनी साथे रमण करवानी जे इच्छा चित्तमां उत्पन्न थायछे, तेने त्यागी देवी, अथवा वेद नामे नो-कषायना तीव्र उदय थी मैथुन सेवननी जे इच्छा उत्पन्न थाय छे तेनो नाश करवो ए ब्रह्मचर्य व्रत छे । तेने शुद्ध करवा माटे सत्पुरुषो कहे छे के हे धर्मी-पुरुष ! अनुपम-सहज-परमतत्त्व रूप निज स्वरूपने छोडीने अति सुन्दर स्त्रीजनोना शरीर आदिना स्मरण मात्रथी ज्ञा माटे याद करे छे, अथवा तेना मोहमां शा माटे फसाय छे ।

अब्रह्मचर्यना दोष—स्त्री संभोगथी मन्दाग्नि थाय छे, पित्त वधे छे, पछी ज्वर उत्पन्न थईने शरीरनुं नाश करे छे, हिताहितने भुलावी दे छे, शरीर निःसत्त्व बनी जाय छे । मृत्युना बंधनमां फसाई पडे छे, तेथी धर्मेच्छा अने ज्वरमां जरा पण अन्तर नथी । आ दोषो जाणीने जो सर्वथा शीलनुं पालन शक्य न लागे तो गृहस्थे पोतानी विवाहित पत्नीमां सन्तोष राखवो, कारणके आ प्रतिज्ञा थी पण अनेक प्रकारनी इच्छानुं मर्दन थाय छे, तथा पण छे के—स्वपत्निमां सन्तुष्ट रहेनार, अन्य स्त्री मात्रनी यथार्थ पण इच्छा न करनारमां पण सुदर्शनशेठनी पेठे अद्भुत प्रभाव उत्पन्न थाय छे, तो पछी सर्वथा ब्रह्मचर्य पाळनार ब्रह्मचारीना प्रभावनी तो वात ज शी ! खरेखर तेनो प्रभाव अवर्ण्य छे अने अकथनीय ! घर पुरुष सर्व रूपमां, ऐश्वर्यमां, बळमां, धर्म तेजमां आगळ

वघेलो होय, पण तेने ह्रेरनुं पुतळुं समजीने स्त्रीए जेम सीताजीए रावणने त्यागी दीधो हतो, तेम तेने त्यागी देवो जोइए, जे स्त्रीए मैथुन विकारने जीती लीधा होय ते देवोने पण पूज्य छे अने इच्छनीय छे।

मैथुन एटले शुं? मैथुन एटले जोडुं, प्रकृतिमां स्त्री-पुरुषनुं जोडुं समजवुं, बनेनो परस्परनो संयोग, अथवा संभोगने माटे जे भाव विशेष थाय छे, अथवा बंने मळीने जे संभोग क्रिया करे छे, तेने मैथुन कहे छे अने तेनेज अब्रह्म कहे छे, तेमा पण प्रमत्तयोगनो संबंध छे। कारणके तेने लीधे जे कई क्रिया करवामां आवे, पछी भले ते परस्पर बे पुरुष अथवा बे स्त्रीओ मळीने करती होय, अथवा अनङ्ग क्रीडा आदि कां न होय, ते सर्व अब्रह्म छे। जे प्रमत्त दशाने छोडीने क्रिया करे छे, तेने मैथुन कहेवातु नथी, जेमके पिता-भाई विगेरे पुत्री-अथवा व्हेन आदिने गोदमां लईने प्यार करे छे, ते अब्रह्म कहेवातुं नथी, कारण के तेमां प्रमत्त-योग नथी। आ प्रमत्तयोगनी ओछा वत्ता अशे पण निवृत्ति करवामां आवे तो ते ब्रह्मचर्याणुव्रत कहेवाय छे। जेमके कह्युं छे के—"माता-व्हेन-पुत्री समान परस्त्रीने जाणे, ने पोतानी विवाहिता स्त्रीमां सन्तोष माने, ते चोथुं अणुव्रत कहेवाय छे।" "उत्तम पुरुष परस्त्रीने व्याधि समान समजी ने दूरथीज त्यजी दे छे, कारणके परस्त्री तो सदैव दुःखोनुं घर छे, अने सुखोने नाश करनार प्रलय काळनी आग समान छे।" "जे स्त्री पोताना पतिने छोडीने परपुरुष साथे रमण करेछे, तेने प्रथम पंक्तिनी निर्लज्ज समजवी जोइए, ज्यारे आ प्रकारना आचरण थी पोतानी स्त्री पर पण विश्वास न रहे तो परस्त्रीनो विश्वास केम राखी शकाय?" "परस्त्रीनु सेवन करनार पुरुषने नरक निगोद मा रखडवानुं रहे छे, तेमां कड्डु सुख तो नथी ज, तेथी मनुष्योए ब्रह्मचर्य व्रतनु पालन करवु जोईए।" "आ व्रतनुं पालन करनार योगीओ परब्रह्म परमात्मानुं ज्ञान पामे तेमज स्व-स्वरूपने अभेद रूपे जाणी शके छे, तेनो अनुभव करी शके छे। तेने धीरवीर पुरुषोज धारण करी शके छे। अल्पसत्ववाळा-शीळर-हित-इन्द्रियोना दास-दुर्बळ पुरुषो तो स्वप्नमां पण आवुं समाचरण करी शकता नथी, कारणके ब्रह्मचर्य पण महाव्रत छे।" "त्रणे जगतमां ब्रह्मचर्य व्रत प्रशंसनीय छे, जे तेनु निर्मल भाव पूर्वक पालन करे छे, ते पूज्यना पण पूज्य छे।

जे ब्रह्मचर्य पालनमा अनुरक्त छे ते दश प्रकारना मैथुननो सर्वथा त्याग करे छे।

(१) जेमके शरीर शणगारवुं, (२) पुष्ट पदार्थनुं सेवन करवुं, (३) गावुं, बजावुं, जोवुं, सांभळवुं, (४) स्त्री संसर्ग करवो, (५) स्त्री संबंधी संकल्प विकल्प करवा, (६) स्त्रीना अंग उपांग जोवा, (७) तेने जोवाना विचारो करवा, (८) पूर्वकृत भोगोनुं स्मरण करवुं, (९) भविष्यमां भोगोनी चिन्तवणा करवी, (१०) वीर्य स्खलन करवुं,

आ दश भेद मैथुनना छे, ब्रह्मचारीने माटे ते सर्वथा त्याज्य छे।

"जेवी रीते किंपाक फळ देखवा-सुंघवा मां रमणीय छे, पण परिणामे हालाहल झेर समान छे, तेवीज रीते मैथुन पण थोडा वखत माटे रमणीय-सुंदर अने सुखदायक मालुम पडे छे, परन्तु परिणामे अत्यन्त भयप्रद नीवडे छे।" "जे पुरुष कामभोगोथी विरक्त बनीने सदा ब्रह्मचर्य पाळे छे, तेणे भावशुद्धि माटे दश प्रकारना मैथुननो त्याग करवो जोइए, केम के आ दोषोना त्याग कर्या वगर भावशुद्धि-निर्मलता थती नथी, भावज कामना वेगने रोकी शके छे, कह्युं पण छे के–

"सर्प करडेल माणसने सात वेग होय छे, परन्तु काम रूपी सर्पथी डसायेल जीवने दश महा भयानक वेग होय छे, ते नीचे मुजब छे।

(१) कामना उद्दीपनथी चिंता उत्पन्न थाय छे, के काम भोगनी क्यारे प्राप्ति थशे, (२) जोवानी इच्छा उत्पन्न थाय छे, अने निःश्वास मूके छे (३) अफसोस करे छे, के स्त्रीने जोई पण न शकाइ। (४) ज्वर आवे छे, तापमान वधे छे, (५) शरीर बळवा लागे छे, दाह उपजे छे (६) भोजननी रुचि नथी रहेती, (७) महा मूर्च्छा उत्पन्न थाय छे, जरा पण चेन रहेतुं नथी, (८) उन्मत्त बनी जाय छे, जेम तेम बकवाद करे छे। (९) प्राण चाल्या जवानी शंका रहे छे। (१०) मृत्यु पण थई जाय छे।

काम वासनाथी घेरायेलो जीव यथार्थ तत्व वस्तु स्वरूप समजी शकतो नथी, ज्यारे लोक व्यवहारनुं ज्ञान पण नाश पामे छे त्यारे परमार्थनुं ज्ञान तो क्याथी थाय ? बधी वातोमा तेनुं मन अस्थिर बनी जाय छे।

"जेने काम रूपी कंटक वागे छे, ते बेसवामा, सुवामा, चालवामां, फरवामां, भोजन करवामां अस्थिर बनी जाय छे।" "काम वासनावाळो पुरुष चतुर होवा छतां मूर्ख बनी जाय छे, क्षमाशील क्षणमां क्रोधी बने छे, शूरवीर कायर बने छे, महान् हलको बने छे, उद्यमी आळसु बने छे, अने जितेन्द्रिय भ्रष्ट बने छे।"

"तेथी मूर्खता वर्याविगर मनुष्यजन्म सार्थक बनाववाने मनुष्ये ब्रह्मचर्यनुं पालन करवुं जोइए ।

कदाचारनुं परिणाम–"बेलने नपुंसक बनाववानी क्रिया, लंपटोने थती सजा वगेरे जोइने बुद्धिमाने कुशीलनो त्याग करीने स्वदारसन्तोषव्रत अंगीकार करीने परस्त्रीनो त्याग करवो जोइए, मैथुन सेवन किंपाक फळनी पेठे आरम्भमां सारुं लागे छे, पण परिणामे दारुण कष्ट आपे छे।" "मैथुन सेवनथी शरीर कम्प, परसेवो, थाक, शिथिलता, चक्कर आववा, तिरस्कार थवो, बळनो क्षय, ज्वरादि रोगो थाय छे।" "योनिमां असंख्य जीव राशीनी उत्पत्ति थाय छे, अने मैथुन सेवन वखते तेनो नाश थाय छे ।

वात्स्यायननो मत छे के रक्तमां सूक्ष्म जीवो पेदा थइ जाय छे, ने संयोग वखते ते मरी जाय छे ।

मैथुन सेवनथी काम ज्वरनी शान्ति नथी थती–

अग्निमां घी होमवाथी जेम ते शान्त थतो नथी, तेमज स्त्री सम्बन्धी वैषयिक संयोगथी काम ज्वर शान्त थतो नथी, पण वधे छे । स्त्रीए पण पर पुरुषने नाग समान समजीने तेओनो त्याग करवो जोइए। कारणके ऐश्वर्यमां भले इन्द्र समान होय, सौन्दर्यमां कामदेवनो अवतार होय तो पण जेम सीताए रावणनो त्याग कर्यो तेम सन्नारीओए पर-पुरुषनो त्याग करवो जोइए ।

ब्रह्मचर्यनुं फळ–ब्रह्मचर्य सचरित्रनुं मूळ छे, परब्रह्म प्राप्तिनु निमित्त छे, जे ब्रह्मचर्यनुं पालन करे छे ते पूज्यना पण पूज्य छे। दीर्घ आयुष्य, सुन्दर शरीर, शरीर रचनामां दृढता, शरीर पर विलक्षण तेज, महान् शक्ति, यशः कीर्ति, संसारमां मान, प्रतिष्ठा, ए सघळुं ब्रह्मचर्यथी प्राप्त थाय छे ।

आ रीते सर्वलोकनी उत्तम–रूपसम्पदा वगेरे मेळवीने तेमज क्षायक ज्ञान-दर्शन-शीलसमन्वित पुरुषोमां ज्ञातवंशीय अन्तिम जिनवरेंद्र श्रमण-भगवान्-महावीर प्रधानतम हता ।

काश्यप-गोत्रीय-श्रमण भगवान् महावीर प्रभुनां वर्धमान, विदेहदिन्न, ज्ञात-पुत्र, काश्यप, वैशालिक, महावीर, सन्मति, वीर, श्रमण भगवान् इत्यादि अनेक नाम हतां, ते बधा नामो तेनी अमुक अवस्थाना सूचक छे। कारण के भगवान् महावीर स्वामीनुं जीवन सांसारिक तेमज साधक अवस्थामां ऊंचुं हतुं। वर्धमान, विदेहदिन्न (महावीर प्रभुनी मातानुं नाम विदेहदिन्ना हतुं,

त्रिशला माता विदेह कुलमां जन्म्या हतां, तेथी तेमनुं नाम विदेहदिन्ना पड्युं हतुं, मातानां आ नामथी महावीर प्रभुनुं मातृपक्षनुं नाम पण 'विदेहदिन्न' पडी गयुं हतुं) ज्ञातपुत्र, काश्यप, अने वैशालिक ए नामो तेमनी सांसारिक अवस्था ना सूचक छे, महावीर, सन्मति अने श्रमण भगवान् आ त्रण नामो तेमणे साधक अवस्थामां पोताना आत्म-वीर्यादि गुणोथी प्राप्त कर्यां हता, वर्धमान पितृपक्षनुं नाम, अने विदेहदिन्न मातृपक्षनु नाम हतुं। 'ज्ञातपुत्र' ए वंश परथी नाम पड्युं। 'काश्यप'-गोत्रथी नाम पड्युं हतु। 'वैशालिक' जन्मस्थानना सम्बन्धनुं सूचक छे। 'महावीर' आत्म-वीर्यसूचक, 'सन्मति' आत्मज्ञान सूचक अने 'श्रमण-भगवान्' श्रमण संस्कृतिना तात्कालिक अग्रेसर अर्थसूचक छे।

ज्ञातपुत्र–

उपरोक्त सर्वे नामोमांथी भगवान्-महावीरना 'ज्ञातृपुत्र' अथवा 'ज्ञातपुत्र' नामना सम्बन्धमां आपणे विचार करवानो छे आ ज्ञातपुत्र नाम तेमना वंशनुं सूचक छे। ए वात जैनागम तेमज बौद्धागममां अनेक जग्याए पडेली छे।

श्रीआचारांग तेमज कल्पसूत्र आदिक सूत्रोमां तेमनां जीवनचरित्र अनुसार भगवान् महावीरनो जन्म 'क्षत्रिय कुंड' गामनां ज्ञातवंशीय अने 'काश्यपगोत्रीय' सिद्धार्थ राजाने त्यां त्रिशला क्षत्रियाणीथी थयो हतो।

आ ज्ञातृवंश ते समये प्रसिद्ध ईक्ष्वाकु-उग्र आदि क्षत्रियोना कुळनी पेठे प्रसिद्ध वंश पण हतो।

आ ज्ञातृवंशना क्षत्रियो मात्र 'ज्ञातृक' नामथी ओळखाता, अने तेमना आ 'ज्ञातृ' कुळने लीधे तेमना नगरोनी बाहर बनावेला षंड=उद्यानोनां नाम पण 'ज्ञातृषंड' पडेला हतां, भगवान् महावीरे कुंडग्रामनी नजीक 'ज्ञातृषंड' नामक बागमां दीक्षा अंगीकार करी हती, शास्त्र-वचनो तो आ बाबतनी खूब पुष्टि करे छे।

जिनागममां 'ज्ञातपुत्र' ने बदले 'नायपुत्त' अथवा "नातपुत्त" तेमज बुद्धागममां "नाथपुत्त" अथवा "नातपुत्र" शब्द प्रयोग करवामां आव्यो छे। ते भगवान् महावीरना ज्ञातृवंशानुज अर्थ सूचक नाम छे। ते मानवामां आपणने उपरोक्त कारणो छे। "णायपुत्त" अथवा "नातपुत्त" ए बन्ने नामो संस्कृत भाषाना "ज्ञातृपुत्र" शब्दना प्राकृत रूप छे। अने "नाथपुत्त" अथवा "नातपुत्त" ए बने नामो पाली रूप छे। प्राकृत मां 'त' नो 'य' अने पाली भाषामां 'त' नो 'थ' अने 'थ' नो 'ट' पण साधारणरीते थाय छे। दिगम्बर सूत्रोमां ज्ञातृपुत्रने

"नायपुत्त" शब्द प्रयोग जोवामां आवे छे, आ रीते भाषा अने भावनी दृष्टिए जोतां पण आ बधा अलग अलग नामो मूळ 'ज्ञातपुत्र' शब्दमां मळी जाय छे। आ बधा नामो "ज्ञातपुत्र" शब्दथी बनेला छे ते निःशंक छे। प्राचीन काळमा वंशना नामथी परिचय आपवानी प्रथा होवाने लीधे भगवान् महावीरनो जीवन विषयक परिचय श्रीजिनागमोमां तेमज बौद्धागमोमां 'नातपुत्त' अथवा 'नाथपुत्त' शब्दथी आपवामां आव्यो छे। तेमज भगवान् महावीरना शिष्योनो पण परिचय "नातपुत्तीय" अथवा "नायपुत्तीय" ए शब्दथी विशेष करीने आपवामां आव्यो छे,

श्रीजिनागमना १२ अंगोमा छठ्ठुं अंग "णायधम्मकहाओ" छे। तेमां आवेल "णाय" शब्द पण भगवान् महावीरना वंशवाचक 'नायपुत्त' नी साथे गाढ संबन्ध राखे छे। प्राकृतमां 'न' नो 'ण' थाय छे। आ अंगनो गुजराती अनुवाद "भगवान् महावीरनी धर्मकथाओ" एम करवामा आव्यो छे। आ अंगनो परिचय श्रीसमवायांगसूत्रमा आपेल छे। तेमां बताव्युं छे के "आ अंगमा ज्ञाता-ओना नगर-उद्यान-माता पिता वगेरेनो परिचय आपवामा आवशे।" टीकाकारे ज्ञाताओनो उदाहरणभूत अर्थ कर्यो छे। परन्तु ज्ञाता एटले 'ज्ञातृवंशीय' क्षत्रिय ए अर्थ पूर्वापर विचारतां निश्चित थाय छे।

भगवान् महावीरनो परिचय श्रीजिनागमोमां 'नायपुत्त'=ज्ञातपुत्र सिवायनां घणां नामोथी आपवामां आव्यो छे, **तो पण त्यां 'नायपुत्त' शब्दनी विशेष प्रधानता छे।** घणां प्राचीन सूत्रोमा भगवान् महावीर प्रभुनो गुणग्राम 'नायपुत्त' शब्दथी करवामा आव्या छे जेमकेः—

"जे भगवान् "ज्ञातपुत्रना" वचनो पर पूर्ण विश्वास राखे छे, ते कोई वस्तुनुं संग्रह करता नथी" १८

"प्राणीमात्रनी रक्षा करवावाळा "ज्ञातपुत्र" महावीर प्रभुए वस्त्र पात्रने परिग्रह नथी कह्यो, पण मूर्च्छा या ममत्वभावने ज परिग्रह कह्यो छे, एम महर्षि-ओए कह्युं छे।" २१ [दशवैकालिक-अ० ६]

"ज्ञातपुत्र" महावीर प्रभुए कह्युं छे केः-मर्यादामा रहेनार साधु आ दोषने सारी रीते जोई ने जरा पण कपट पूर्वक जुठ न बोले"

"आ दोषने जोइने निग्रन्थ रात्रि भोजननो त्याग करे, कारणके "ज्ञात-पुत्रे" आना प्रत्यक्ष दोष बताव्या छे।" (दशवैकालिक० अ० ६)

अनुत्तर ज्ञानी अने अनुत्तर दर्शन युक्त अर्हन् प्रभु 'ज्ञातपुत्र' महावीर प्रभु विशाला नगरीमा आ रीते व्याख्यान करता हता।

आ प्रमाणो उपरान्त आ अध्यायमां २-१४-२१-२३-२४ मी गाथाओमां प्रभुनी स्तुति "ज्ञातपुत्र" शब्दथी करवामां आवी छे। आ रीते श्रीजिनागमना प्रमाणभूत ग्रन्थोमां 'नायपुत्त' अथवा 'नातपुत्त' शब्दनो प्रयोग भगवान् महावीरना वंशवाची नाम तरीके अनेक स्थळे करवामां आव्यो छे, अने ए बधानो उल्लेख करवानी अहीं जरा पण जरूर नथी, हेमाचार्ये परिशिष्टपर्व्वमां जे 'ज्ञातनन्दन' भगवान् महावीरप्रभुने वंदन करेल छे तेनोपण उल्लेख करीशुं, तेमणे मंगलाचरणमां कह्युं छे केः—

"जे कल्याण वृक्षना बाग छे, श्रुतिरूप गंगाना हिमालय छे, विश्वकमळने सूर्यरूप छे, ते भगवान् "ज्ञातनन्दन" महावीरने हुं नमस्कार करुं छुं।"

बौद्ध पिटकोमां भगवान् महावीरनो तेमना शिष्योनो तेमज तेमना सिद्धांतोनो परिचय तेमना वंशवाची 'नायपुत्त' अथवा 'नाटपुत्त' शब्दथी आपवामां आव्यो छे, तेमना श्रमण निग्रन्थो माटे 'नायपुत्तीय' शब्दनो उपयोग करवामां आव्यो छे, आ नाम सिवाय भगवान् महावीर प्रभुनो जीवन परिचय आपतां बीजा कोई शब्दनो प्रयोग करेलो जोवामां आवतो नथी, मात्र 'नायपुत्त' नी साथे 'निग्गठ' शब्दनो प्रयोग करेलो होय छे, पण ते शब्दतो तेनी साधु अवस्थानो सूचक छे। ते 'नायपुत्त' शब्दनुं विशेषण छे।

आथी प्राचीन काळमां वंशवाचक नामथी परिचय आपवानी प्रथा होवानु स्पष्ट जणाय छे, महात्मा-बुद्ध पण तेमनां मूल नाम सिद्धार्थ करतां तेमना गोत्र सूचक नाम 'गौतम' अने वंश सूचक नाम 'शाक्यपुत्र'-थी अधिक प्रसिद्ध छे।

भगवान् महावीर प्रभुनो 'ज्ञातृवंश' हतो, अने ए 'ज्ञातृवंश' थी तेमनुं वंशसूचक नाम 'नायपुत्त' प्रसिद्ध छे, जे आपणे ऊपर जोई गया। परन्तु आगळ चालतां तेनो केटलो विस्तार तेमज विनाश थयो, तेनो इतिहास जाणवामां आवतो नथी। ए इतिहासनी शोध अत्यन्त आवश्यक छे। ते इतिहास नी शोध माटे आपणी पासे बौद्ध साहित्य एक अनन्य साधन रूप छे।

भगवान् महावीर तेमज महात्मा-बुद्ध ए बंने समकालीन-धर्मक्रान्तिकारी थई गया, वळी तेओ बंने एकज देशना नजिक नजिक आवेला प्रान्तमां रहेनारा राजवंशी पुरुष हता, आ बाबतो विचारतां महात्मा बुद्धने एक प्रान्तथी बीजा प्रान्तमां विहार करतां भगवान् महावीरना वंश सम्बन्धी लोकोनी साथे वार्तालाप करवानो प्रसंग प्राप्त थयो होय ए तद्दन स्वाभाविक छे।

बुद्धपिटकना 'महावग्ग' नामे सूत्रमां महात्मा-बुद्ध, भगवान् महावीरनी जन्मभूमि "कुंड ग्राम" मां तेमज तेनी नजीक 'ज्ञातृओ' ना गामोमां अने वैशाली नगरीमां जवानो तेमज त्यां 'निग्रन्थ' श्रावक सिंह सेनापतिनी साथे वातचीत करवानो उल्लेख आवे छे, ते उल्लेख ना आधारे भगवान् महावीर प्रभुना 'ज्ञातृवंश' अने तेमनी जन्मभूमि सम्बन्धी आपणने घणुं जाणवानुं मळे छे, ते कारणथी ते उल्लेख आ नीचे उतारवामां आव्यो छे।

ज्यां कोटिग्राम [देखो विनयपिटक महावग्ग पानुं २४१ कोटिग्राम] हतुं त्यां भगवान् गया, कोटिग्राममां भगवान् बुद्ध विहार करता हता, अम्बापाली गणिकाए साभळ्युं के भगवान् अहीं आवी गया छे, तेथी तेणे सुन्दर रथ जोडाव्यो, ने तेमां बेसीने सुन्दर रथोनी साथे वैशालीथी नीकळीने 'कोटिग्राम' तरफ चाली।

त्यारे ते लिच्छवी ज्यां कोटिग्राम हतुं त्यां गया।

कोटिग्राममां इच्छानुसार विहार करी ज्यां वैशालीनुं महावन हतुं त्यां गया, त्यां भगवान् बुद्ध वैशाली महावननी 'कूटागार शाला' मां विहार करता हता।

ते वखते घणा प्रतिष्ठित लिच्छवि 'संस्थागार' [प्रजातन्त्र-सभागृह] मां बेठा हता, तेओ बधा बुद्धनी प्रशंसा करता हता, धर्म अने संघना गुणोनुं वर्णन करतां हता, ते वखते निग्रन्थोना श्रावक (जैन-श्रावक) सिंह सेनापति ते सभामां बेठा हता ....।
त्यारे सिंह सेनापति ज्यां निग्रन्थ (निग्गंठ-नाथ पुत्त) ज्ञातपुत्र हता त्यां गया, जइने 'निग्गंठनाथपुत्त' ने कह्युं के हे पूज्य! हूं........................ ......। सिंह! तारुं घर लांबा समयथी निग्रन्थो माटे विसामारूप छे,...... ....ते समये घणा 'निग्गंथ' [जैन साधु] वैशालीमा एक.........लांबा काळथी आ आयुष्मान् (निग्गंठ) बुद्ध............................ छे।"

"एक समये भगवान् बुद्ध नादिकाना 'गिंजकावसथ' मां विहार करता हता [मज्झिमनिकाय पानुं १२७]

'विनयपिटक' 'महावग्ग' तथा मज्झिमनिकायमां आवेला आ उल्लेखोथी आपणने साफ साफ मालुम पडे छे के महात्मा बुद्ध-महावीर स्वामीनी जन्मभूमि कुंडग्राम (पाली भाषामां कोटिग्राम) गया हता, अने कुंडग्रामनी पासेनी वैशाली

नगरीमां थी त्यां महात्मा-बुद्धने अबापाली नामे वेश्या अने लिच्छवि क्षत्रिय मळवा आव्या हता, कोटिग्राममांथी महात्मा बुद्ध ज्यां 'नातिक' ज्ञातृक लोक रहेता हता, त्यां गया हता, अने त्यां 'नातिक' (ज्ञातृक) लोकोना ईंटोना घरमां हता। ते स्थाननी पासेज 'अम्बापाली' वन नामे उद्यान हतु जे अम्बापालीए बुद्ध अने तेमना संघने समर्पण करेल हतुं। त्यांथी महात्मा बुद्ध वैशाली गया अने त्यां सिंह नामे सेनापति के जे निग्रन्थोनो श्रावक हतो, तेने पोतानो अनुयायी बनाव्यो। सिंह सेनापति महात्मा बुद्धने मळवा जतां पहेलां 'निग्रन्थ' ज्ञातृपुत्र महावीर प्रभुनी पासे अनुज्ञा लेवा आव्यो हतो। त्यारे भगवान् महावीरे सिंह सेनापतिने "तुं क्रियावादी होवा छतां अक्रियावादी श्रमण गौतमने मळवा शा माटे जाय छे?" एम कहीने न जवानुं कह्युं हतुं। पण ते पोतानी इच्छानुसार श्रमण गौतमनी पासे गयो अने त्यां ते श्रमण गौतम बुद्धनो अनुयायी बन्यो।"

उपरना उल्लेखथी आपणा विषयने पुष्ट करनारी चार वात विशेष प्रकारे जाणवानी मळे छे।

(१) बौद्धोनुं 'कोटिग्रामज' [बौद्ध ग्रन्थोमां 'कुंडग्राम' नुं नाम 'कोटिग्राम' अने भगवान् महावीरना 'ज्ञातिपुत्र' ने बदले 'नातिपुत्त' लखेल छे। जुओ "भारतका प्राचीन राजवंश" पानुं ४० लेखक विश्वेश्वरनाथ राय) जैनोनुं 'कुंडग्राम' जणाय छे, आ बने नामोमां शाब्दिक सरखापणु छे। ते उपरांत ते गामनी नजीक ज्ञातृक=ज्ञातृवंशना क्षत्रियोनुं निवासस्थान अने वैशाली नगरीनुं नजिकपणुं होवाने लीधे 'कुंडग्राम' अने 'कोटिग्राम' बने एकज होवानुं निश्चित थाय छे।

(२) कोटिग्रामनी पासे ज्ञातृओनुं निवासस्थान, भगवान् महावीरनो वंश ज्ञातृवंश हतो, ते वळी वधु पुष्टि करे छे। तेमज कुंडग्रामनी आसपास ज्ञातृक=ज्ञातृवंशना क्षत्रियोना खंड=उद्यान हता। अने त्यां ज्ञातृवंशी क्षत्रियो रहेता हता, ते आ बाबतने वधु दृढ करे छे। आ 'ज्ञातृक' नो उल्लेख ए विचारनो निर्देश करे छे के आ ज्ञातृक भगवान् महावीरनी जन्म-जातिवाळा ज्ञातृक्षत्रिय हशे।

(३) 'ज्ञातृ' जाति 'लिच्छवि' ओनी एक शाखा हती [प्रसिद्ध जैन तीर्थंकर महावीरनी माता पण 'लिच्छवि' वंशनीज हती, जुओ 'भारतका प्राचीन राजवंश' पानुं २७८] आ वातनी पुष्टि 'वैशालीना लिच्छवि क्षत्रिय महात्मा बुद्धने मळवा आव्या हता' ते उल्लेखथी मळे छे। भगवान् महावीरनी माता पण लिच्छवि वंशनी हती, अने सिंह सेनापति के जे भगवान् महावीरनो श्रावक

हतो, ते पण लिच्छवि वंशनोज हतो, आ बंने वातो ज्ञातृजाति लिच्छविओनी एक शाखा हती, एम साबित करे छे ।

(४) कुंडग्रामनी पासे विदेहनी राजधानी वैशाली नगरी हती, कुंडग्राम आ नगरीना एक परा जेवी हती । भगवान् महावीरनुं 'वैशालिक' नाम पण आ नगरीना नामथी पड्युं हतुं, विशाला नगरीमां सिंह सेनापति नामे जे निग्रन्थ श्रावक लिच्छवि रहतो हतो, ते भगवान् महावीरनी सलाह न मानीने महात्मा बुद्धनी पासे गयो हतो, आथी स्पष्ट जणाय छे के महात्मा बुद्ध अने भगवान् महावीर बंने एकी वखते वैशालीमां हता ।

ऊपरना उल्लेखमां जे 'नातिका' शब्द लखेलो छे, ते शब्दनुं मूल घणां-खरे 'नादिका' कहेलुं छे, अने तेनो अर्थ 'ते नामना जलाशयपर वसेलुं एक गाम एवो करे छे, पण तेमां तथ्य नथी, हर्मन जेकोबी [जुओ हर्मन जेकोबी कृत Sacred Books The East नामे ग्रन्थमालामां प्रकाशित 'आचारांग अने कल्पसूत्र' नामे जैन सूत्रोना अनुवादनी प्रस्तावना, पाढुं १०] मूल शब्द 'नातिका' ज छे, अने ते ज्ञातृवंशना क्षत्रियोनो वाचक छे तेम समर्थन करे छे ।

आ 'नातिका' शब्द पर त्रिपिटकाचार्य श्रीयुत राहुल सांकृत्यायने विशेष प्रकाश पाड्यो छे, तेमणे पोताना 'बुद्धचर्या'* नामे हिन्दी पुस्तकमां 'नादिका'-नो मूल शब्द 'नातिका=ज्ञातृका' बतावेल छे, अने 'ज्ञातृका' शब्द ज्ञातृवंशना

---

* ते वखते घणी मोटी निर्ग्रन्थ परिषद् (जैन साधुओनी सभा) साथे निग्रन्थ 'नातपुत्त' (महावीर) नालंदामां निवास करता हता ।

---

१ नातपुत्त=ज्ञातपुत्र, ज्ञातृ लिच्छविओनी एक शाखा हती, के जे वैशालीनी आसपास रहेती हती, ज्ञातृभाषीज वर्तमान 'जथरिया' शब्द बन्यो छे, महावीर तेमज जथरिया ए बंनेनुं गोत्र काश्यप छे, आजे पण जथरिय, भूमिहार ब्राह्मण आ प्रदेशमां मोटी संख्यामां छे, तेमनुं निवास रत्ती परगना, पण ज्ञातृ-नत्ती-लत्ती-रत्ती थी ज बनेलुं छे ।

१११ में पाने निग्रन्थ सूत्रनो पण उल्लेख कर्यो छे के जे सं० नि ४०—१–१८ थी उद्धृत करवामां आव्यो छे ।

क्षत्रियोनो सूचक छे, एम सप्रमाण बताव्युं छे, आगळ उपर वळी तेओ एम पण बतावे छे के 'ज्ञातृजाति' लिच्छविओनी शाखा हती। अने वैशालीनी आजु-बाजुमा रहेती हती, आ ज्ञातृजाति आजे पण वैशाली नगरी [जिल्ला मुजफ्फर-पुरनी अंदर बसाडनी पासे छे] नी आसपास जथरिया नामे जाति वसे छे, आ ज़थरिया शब्द भाषा दृष्टिए पण ज्ञातृशब्दनी साथे गाढ संबन्ध धरावे छे।

जथरिया शब्द 'ज्ञातृ' शब्दनो अपभ्रंश जणाय छे, ज्ञातृमांथी 'जथरिया' शब्द केवी रीते बनवा पाम्यो ते संबंधमां भाषा दृष्टिए उक्त राहुलजीए नीचे मुजब विचार कर्यो छे।

ज्ञातृ=जाति, ज्ञातृ=ज्ञातर-जातर-जतरिया-जथरिया जैथरियाना गाममां 'नादिका'=ज्ञातृका=नतिका-लत्तिका-रत्तिका-रत्ती जे नामथी वर्तमान रत्ती पर-गणा [जि॰ मुजफ्फरपुर] छे। बुद्धचर्या पानुं ५१८ ॥

आ रीते 'जथरिया' शब्द 'ज्ञातृ' नो अपभ्रंश छे। राहुलजी आ रत्ती परगणानुं मूल नाम पोताना उपरोक्त उल्लेखमां आवेल 'नादिका' शब्दथी उत्पन्न थयेलुं बतावे छे।

आ प्रकारे 'जथरिया' अने तेमनुं स्थान रत्ती ए बंने शब्द ज्ञातृ शब्दनी साथे गाढ संबंध धरावे छे, अने आ संबंधथी जथरिया ज्ञातृक=ज्ञातृवंशीज छे, अने तेमनुं प्राचीन निवासस्थान के जे नादिका अथवा नातिका नामथी ओळ-खाय छे ते वर्तमान रत्ती परगनुं छे, एवो राहुलजीनो दृढ अभिप्राय छे। वळी तेमना आ अभिप्रायमां बीजीवात ए पण छे के आ 'जथरियानुं' मूळ गोत्र काश्यप छे, ते काश्यप गोत्र भगवान् महावीर अने तेमना ज्ञातृवंशी क्षत्रियोनुं पण हतुं।

आ जथरिया=ज्ञातृ वंशी क्षत्रियोना संबंधमां श्रीराहुलजी बतावे छे के आ 'जथरिया' लोको वर्तमानमां पोताने ब्राह्मण कहेवडावे छे, तेओ दान लेता नथी, [पंजाबमां जमना किनारे वसनारी एक जाति रहे छे ते पण दान नथी लेती ते देशमां तेमने 'तगा' कहे छे, संभव छे के ते शब्द त्यागीनो अपभ्रंश होय, पण तेओना गोत्रो गौड ब्राह्मणोथी मळी आवे छे] अहीं तो जथरिया जातिना लोकोने भूमिहार ब्राह्मण कहेवामां आवे छे। परन्तु बीजा लोको तेमने ब्राह्मण मानता नथी। तेथी स्पष्ट मालुम पडे छे के वास्तवमां तेओ क्षत्रिओज

छे। आनुं बीजुं कारण ए पण छे के आ 'जथरिया' नाम 'सिद्धान्ते' वाळा छे, के जे क्षत्रियोना नामनी साथे आज काल पाछळ लगाडवामां आवे छे, वळी तेमना नामने छेडे ठाकोर शब्द पण जोडवामां आवे छे, ए पण क्षत्रिय सूचक ज छे, आ वंशमां हालमां पण घणा जमीनदार तथा राजाओ छे, दरभंगा नरेश आ जातिना छे, कोई दरभंगाना प्रथम राजा रघुनन्दनने आ वंशमांज समाविष्ट करे छे अने वर्तमान दर्भंगा नरेशने श्रोत्रीय ब्राह्मण माने छे।

बौद्ध साहित्यना उल्लेखथी तेमज राहुलजीना कथनथी आटलुं अवश्य मानवुं जोइए के भगवान् महावीरनो वंश ज्ञातृवंश हतो, अने ते ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय 'कुंडग्राम' नी नजीक रहेता हता, वळी आ ज्ञातृवंशीय क्षत्रियोना गाममां महात्मा बुद्ध आव्या हता, वर्तमानमां आ ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय जथरियाना नामथी प्रसिद्ध छे, अने ते घणे भागे विहार प्रान्तना मुजफ्फरपुर जिल्लाना एनी नामे परगणामां रहे छे। वळी ते जथरिया पोताना नामने छेडे सिंह तेमज ठाकोर शब्दनो उपयोग पण करे छे। अने काश्यप गोत्र होवाने लीधे ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय होवाने सम्भव छे, पण आजकाल ए लोको पोताने भूमिहार ब्राह्मण कहे छे। आमां केटले अंशे तथ्य छे, तेनी शोध करवानी अत्यन्त आवश्यकता छे, आ सत्यशोधथी भगवान् महावीर प्रभुना ज्ञातृवंश तेमज तेमना जीवन सम्बन्धमां अज्ञानान्धाकार जे आपणी आजु बाजु फेलाई गयो छे, ते दूर थई जशे।

मूल

ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा,
सभा सुहम्माव सभाण सेट्ठा।
निव्वाण सेट्ठा जह सव्वधम्मा,
ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी ॥ २४ ॥

संस्कृतच्छाया

स्थितीनां (स्थितिमतां) श्रेष्ठा लवसत्तमा वा,
सभा सुधर्म्मा वा सभानां श्रेष्ठा।
निर्व्वाणश्रेष्ठा यथा सार्व्वधर्म्मा,
न ज्ञातपुत्रात्परमस्ति ज्ञानी ॥ २४ ॥

सं० टीका—स्थितिमतां सुखोपभोक्तॄणां वा जीवानां चोर्द्धानां देवानामिति, तन्मध्ये यथा लवसत्तमा पञ्चानुत्तरजास्तदुत्पन्ना देवाः सर्वोत्कृष्टस्थितिवर्तिनः प्रधानाः, यदि वा तेषां सप्तलवायुष्कमभविष्य-त्तदा सिद्धिगमनमभविष्यदिति चापि। अतस्तेऽभिधीयन्ते कथ्यन्ते लवसत्तमाः श्रेष्ठतमाः। सभानां परिषदां मध्ये यथा सौधर्म्मा "स्यात्सु-धर्म्मा देवसभेत्यमरः" परिषच्छ्रेष्ठा "सुधम्मा तु सभा मता इत्यभि-धानप्पदीपिका।" बहुभिः क्रीडास्थानैः सम्यजनगोष्ठीभिरुपेतत्वात्तथा। यथा सर्वेऽपि धर्म्मा निर्वाणफलं दर्शयन्ति वा सर्वेभ्यो हितं सार्धम-र्हद्दर्शनं-सर्वेषां जीवानां हितकर्ता उत नाहितकारकोऽतः सोर्हत्प्रणीत-धर्मो निर्वाणप्रदाने श्रेष्ठ इति भावः। यत एवं ज्ञातृपुत्रात्सर्वज्ञा-च्छ्रीमहावीरात्स्वप्रकाशात् परं प्रधानमन्यच्च विज्ञानं नास्त्येव सर्वथा भगवानपरज्ञानिभ्योऽधिको ज्ञानीति भावः॥ २४॥

अन्वयार्थ—[जह] जैसे [ठिईण] आयुष्मानोंमें [लवसत्तमा] पांच अनुत्तर विमानोंमें निवास करनेवाले देव [सेट्ठा] श्रेष्ठ होते हैं, [सभाण] सब सभाओमें [सुहम्मा] सौधर्म-इन्द्रकी [सभा] सभा [सेट्ठा] श्रेष्ठ है, [सव्व-धम्मा] संसारके सब धर्मोंमें [निव्वाणसेट्ठा] मोक्ष धर्म प्रधान है, किन्तु [णायपुत्ता] ज्ञात-पुत्र-महावीरसे [परमं] बढकर [णाणी] ज्ञानी कोई भी [न] नहीं [अत्थि] हैं॥ २४॥

भावार्थ—उत्कृष्ट स्थितिमें सर्वार्थ-सिद्धिके देव प्रधान हैं, क्योंकि सुख-पूर्वक रहते हुए इतना बडा आयु पांचवें अनुत्तर विमानके देवोंके अतिरिक्त अन्य किसीकी नहीं है, उनके बराबर सुख भी किसी दूसरेको नहीं है, तथा जिस प्रकार सौधर्म-इन्द्रकी सभा अन्य सभाओंसे सुन्दर है, और सब आस्तिक परलोक-स्वर्ग-नरक-आत्मा आदि पदार्थों को माननेवालोंमें धर्मका फल एक मुक्ति ही है, क्योंकि मिथ्यामार्गकी पुष्टि-करनेवाले भी मोक्षको स्वयं प्रधान मानते हैं, उसी भांति भगवान् भी समस्त ज्ञानिओंमें परमोत्कृष्ट ज्ञानी थे,॥ २४॥

भाषा-टीका—अधिक आयुवाले सुखी जीवोंमें लवसत्तम अर्थात् पांच अनुत्तर विमानमें उत्पन्न देवोंका आयु सबसे अधिक श्रेष्ठ और सुखी है। इन्हें लवसत्तम इस लिए कहते हैं कि यदि इनका आयु सात लव अधिक होता तो इन्हें मोक्ष हो जाता। सभाओंमें सुधर्मा अर्थात् शक्रेन्द्रकी सभा सर्व श्रेष्ठ है, क्योंकि वहां सत्पुरुषोंकी गोष्ठी अधिक पाई जाती है। सारे धर्मोंका निचोड सबने मोक्ष बताया है। अर्थात् धर्मका अन्तिम परिणाम श्रेष्ठ निर्वाण माना है। या जो सबके लिए हितकर हो उसको सार्व कहते हैं। वह अर्हन् होता है। उसका कहा हुआ धर्म श्रेष्ठ और निर्वाण प्रद है। इसी तरह ज्ञातपुत्र महावीर प्रभुसे बढ़कर सर्वज्ञ-ज्ञानी कोई नहीं है॥ २४॥

गुजराती अनुवाद—अधिक आयुष्यवाळा सुखी जीवोमां लवसत्तम अर्थात् पांच अनुत्तर विमानवासी देवोनुं आयुष्य सर्वेथी अधिक श्रेष्ठ अने सुखी छे, [तेमनुं आयुष्य जो सात लव वधारे होत तो तेओ मोक्षे जात, ते कारणे तेमने लवसत्तम कहे छे] सभामां सुधर्मा शक्रेन्द्रनी सभा सर्व श्रेष्ठ [illegible]। कारण के त्यां सत्पुरुषोनी गोष्ठी अधिक प्रमाणमां थाय छे। बधा धर्मोनो सार मोक्ष छे, अर्थात् धर्मनुं अन्तिम परिणाम श्रेष्ठ निर्वाण मनाय छे, जे बधाने माटे हित कर होय तेने सार्व कहे छे, ते 'अर्हत्' होय छे। तेमणे कहेलो धर्म श्रेष्ठ निर्वाण प्रद छे। आ प्रकारे 'ज्ञातपुत्र' महावीर प्रभुथी अधिक सर्वज्ञ कोई नथी ॥२४॥

मूल

पुढोवमे धुणइ विगयगेही,
न सण्णिहिं कुव्वइ आसुपन्ने।
तरिउं समुद्दं च महाभवोघं,
अभयं करे वीर अणंतचक्खू॥ २५॥

संस्कृतच्छाया

पृथ्व्युपमो धुनोति विगतगृद्धिर्न सन्निधिं करोति आशुप्रज्ञः।
तरित्वा समुद्रमिव महाभवौघमभयंकरो वीरोऽनन्तचक्षुः॥ २५॥

सं० टीका—पुनश्च स भगवान् यथा पृथ्वी सकलाधारा वर्तते सर्वान् त्रसस्थावरान् धारयति सा, तथैव सर्वसत्त्वानामभयप्रदानतः

सदुपदेशदानाद्वा महावीरः सत्त्वाधार इति, अथवा पृथ्वी सर्वसहा, एवं भगवानपि परिषहोपसर्गान् सम्यक् सहते, कर्मरजांसि धुनोति दूरीकरोतीति भावः, अष्टविधं कर्मापनयति वेति शेषः। तथा विगता प्रणष्टा सबाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु गृद्धिर्लिप्सा वा गार्ध्यं, तृष्णा भरमभिलाषो यस्य स विगतगृद्धिः। तथा सन्निधानं सन्निधिः स च द्रव्यसन्निधिः संचयः। धनधान्यद्विपदचतुष्पदरूपो द्रव्यसन्निधिः, भावसन्निधिस्तु कषायविषयादयो वा, सामान्येन कषायास्तमुभयरूपमपि सन्निधिमथवेन्द्रियजन्य विषयं तन्न करोतीति भावः। "संनिधाने,=अन्तिके, इन्द्रियगोचरे, सन्निधिरिति शब्दार्थचिन्तामणिः"। "सन्निधिः संनिधानेऽपि पुमानिन्द्रियगोचर इति मेदिनी"। "पच्चक्खे सन्निधाने च, सन्निधि परिकित्तितो, इत्यभिधानप्पदीपिका"। भगवान्न करोतीन्द्रियगोचरं विषयं प्रगटं प्रत्युत नाशयतीति भावः। वीरस्तथैवाशुप्रज्ञः सर्वत्र सदोपयोगान्न छद्मस्थवन्मनसा पर्य्यालोच्य पदार्थपरिच्छित्तिं विधत्ते करोति। छाद्यते स्वात्मरूपमनेनेति छद्म, तन्मध्ये तिष्ठतीति छद्मस्थो हि स केवलज्ञानरहितो भवति। परन्तु भगवान् सर्वज्ञः। स एवंभूतः समुद्रपारमिव महाभवौघं संसारसमुद्रं समुत्तीर्य तीर्त्वा, बहुदुःखाकुलं चातुरगतिकं संसारसागरं तीर्णः सर्वोत्तमं निर्वाणमासादितवान्। अभयं प्राणिनां प्राणरक्षानुकूलं व्यापारं स्वतः परतश्च सदुपदेशदानात्करोतीत्यभयंकरश्च, भयोपपदात्करोतेः 'मेघर्तिभयेषु कृञ' इति 'ख' प्रत्यये रित्वात् 'अरुर्द्विषदजन्तस्य चेति मुमागमः।' तथाऽष्टविधकर्मविशेषेणेरयति, प्रेरयति, कम्पयति, दूरीकरोतीति वीरः। तथा अनन्तमपर्य्यवसानं-नित्यं-ध्रुवं ज्ञेयानन्तत्वात् वाऽनन्तं चक्षुरिव चक्षुः केवलज्ञानं यस्य स तथेति ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—[वीर] भगवान् महावीर [पुढोवमे] पृथ्वीकी तरह सबके आधारभूत अथवा पृथिवीकी सदृश परिषह-उपसर्ग आदि सहनेवाले [धुणति] आठ कर्मोंकी मूल प्रकृतिओंको और उत्तर प्रकृतिओंको नष्ट करते हैं, [विगयगेहि] अभिलाषा रहित तथा जो [सण्णिहिं] द्रव्य आदिका संचय [न] नहीं [कुव्वति] करते, [आसुपन्ने] और जिनका ज्ञान सदा शीघ्र उपयोगयुक्त है, [समुद्दं] समुद्रकी [व] भांति [महाभवोघं] पर्यायोंके समूहरूप अनन्त संसारको [तरिउं] पार होकर [अभयंकरे] अपने और औरोंके द्वारा जीवोंकी रक्षा करनेवाले और [अणन्तचक्खु] अनन्त-ज्ञानयुक्त थे ॥ २५ ॥

भावार्थ—संसारके प्राणी पृथ्वीपर सब प्रकारके कार्य करते हैं, किन्तु पृथ्वी किसीपर अप्रसन्न नहीं होती, प्रत्युत सब कुछ सहती है, इसी प्रकार भगवान् महावीर भी परिषह और उपसर्ग आदि सब कुछ सहते थे, न किसी पर प्रसन्न होते थे न अप्रसन्न, जिस तरह पृथ्वी सबके लिए आधार रूप है, भगवान् भी दयालु होनेसे आधारभूत थे, महावीर प्रभु आठ कर्मोंसे रहित और बाह्य-वस्तुके ममत्वसे दूर थे, तथा छद्मस्थकी तरह जाननेके लिए उन्हें वस्तुके सोचने या विचारनेकी आवश्यकता न थी, क्योंकि भगवान् प्रतिसमय उपयोगात्मक ज्ञानसे युक्त थे, तथा अनेक दु:खोंसे भरपूर संसार समुद्रसे पार होकर मुक्त होने वाले, स्वयं जीवरक्षा करनेवाले और उपदेशद्वारा औरोंकी रक्षा करानेवाले, तथा अनन्त-पदार्थोंके ज्ञाता-द्रष्टा थे ॥ २५ ॥

भाषाटीका–पृथ्वीकी सदृश सब प्रकारके प्रखर परिषह और उपसर्ग प्रभुने सैंही-शक्तिसे सहन किए। तथा आठ कर्मरूपी रज मैलको नष्ट करके निर्लेप हुए। फिर उनकी बाहर और भीतरकी सब तृष्णा और आशाएं नष्ट होगईं। अतः अब उन्हें किसी भी पदार्थमें अनुरक्ति नहीं है। अब वे द्रव्य सन्निधि संसारोपयोगी वस्तुएं, भावसन्निधि इन्द्रियोंके विषय और कषाय का संग्रह न करेंगे। या वे इन्द्रियोंके विकारोंको प्रगट न होने देकर उनका सर्वथा नाश कर चुके हैं। उन्हें अब सर्वज्ञोपयोगी होनेसे छद्मस्थकी तरह सोच विचार कर बातें कहनेकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि सर्वज्ञ हथेली पर धरे हुए आमलेकी तरह सब चराचर का अनन्त ज्ञान पाए हुए हैं। और फिर संसारसमुद्रको पार करने के अनन्तर सुंदर निर्वाण को पाया है जहां से कभी पुनरावृत्ति न होगी। क्योंकि वीरतासे आठ कर्मोंकी अनन्त कार्मण वर्गणाओंका अत्यन्त अभाव कर

दिया है। और अब केवल ज्ञानरूप अनन्तचक्षुयुक्त हैं। और वह चक्षु सादि अनन्तरूप है। प्रभुकी अनन्त ज्ञानरूपा लक्ष्मी इसीसे अपार है ॥ २५ ॥

गुजराती अनुवाद—ते भगवान् महावीर प्रभु पृथ्वीनी पेठे सर्वप्राणिओने आधारभूत छे, अने पोताना पवित्र उपदेशथी सर्वने भय दूर करनार छे, अथवा पृथ्वीनी जेम सर्व प्रकारना प्रखर परिषह तेमज उपसर्ग सिंहसमान वृत्तिथी सहन करनार छे, आठ कर्मरूपी रज मेलनो नाश करीने निर्लेप थया छे। वळी बाह्य तेमज आन्तरिक सर्व तृष्णा अने आशानो तेमणे नाश कर्यो छे, तेथी कोई पण पदार्थमां तेमने आसक्ति रही नथी, हवे तेओ द्रव्यथी संसारोपयोगी वस्तुओ अने भावथी इन्द्रिय विषयो तेमज कषायनो सम्पर्क करशे नहि, तेओए इन्द्रिय विकारोनो सर्वथा नाश कर्यो छे, तेओ सर्वज्ञ होवाथी छद्मस्थनी पेठे विचार करीने बोलवानी तेमने आवश्यकता नथी, कारणके तेमने हस्तामलकवत् त्रिलोकनुं अनन्तज्ञान प्राप्त थयुं छे, तेमज वळी संसारसमुद्रनो पार पामी सुन्दर निर्वाण प्राप्त कर्युं छे, के ज्यांथी पुनरावृत्ति करवी नहि पडे। वीरता पूर्वक अष्टकर्मरूपी अनन्त कर्मणवर्गणाओनो अनन्त अभाव कर्यो छे, केवलज्ञानयुक्त [redacted], ते सादि अनन्तरूप छे। प्रभुनी अनन्तज्ञानरूपी लक्ष्मी अपार छे ॥ २५ ॥

मूल

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एआणि वंता अरहा महेसी,
ण कुव्वइ पाव ण कारवेइ ॥ २६ ॥

(संस्कृतच्छाया)

क्रोधं च मानं च तथैव मायां, लोभं चतुर्थमध्यात्मदोषान्।
एतान् वान्त्वाऽर्हन्महर्षिर्न करोति पापं न कारयति ॥ २६ ॥

सं० टीका—क्रोधं कषायरूपमात्मेतरगुणं द्वेषोपयोगं "दोसो कोधे गुणोतरे इत्यभिधानप्पदीपिका"। "दोसो च पटिघं च वा, कोधाऽघाता कोप रोसा इत्यभिधा०"। मानमहंकारं च, "मानो विधा

च उण्णति" "गव्वोऽभिमानोऽहंकारो" इत्यभिधानप्पदीपिका"। मायां छद्मत्वं कपटं, "माया तु संवरीत्यभिधानप्पदीपिका" । लोभं पुद्गलवस्तुसंचयव्यापारं "अभिज्झा वनथो वानं, लोभो रागो इत्यभिधानप्पदीपिका" । वान्त्वा त्यक्त्वा वा एतान् दोषान् कषायानध्यात्मदोषान् परिहायाऽसौ भगवान् महर्षिर्ज्ञातस्तथा स्वयं पापमास्रवं, "पापं, च किब्बिसं, वेराऽघं दुच्चरितं, दुक्कतं, अपुञ्ञाऽकुसलं, कण्हं, कुलसं, दुरिताऽगु च" । अथवा पापमपराधं "पापापराधेसु" अथवा पापं कर्म्मपंकं "पापे च कद्दमे" । अथवा पापं युद्धं चापि, "पापे युद्धे रवे" अथवा पापं कलिः कलहं "पापे कलि"। वा पापं वैरं ह्यपि "पापे च पटिघे वेरं" "इत्यादीन्यभिधानप्पदीपिका" । न करोत्यन्यैर्न कारयतीत्येते कषायदोषास्त्वपि हितमिच्छंस्त्याज्या एव, यथाह सिद्धान्ते–

"कोहं माणं च मायं च, लोहं च पाववड्ढणं,
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हिअमप्पणो" ॥ ३७ ॥

इमे चत्वारः कषायाश्चतुरो दोषान् समुत्पादयन्ति, यथा–

"कोहो पीई पणासेइ, माणो विणयनासणो,
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो" ॥ ३८ ॥

एतानात्मदोषानेतैः प्रयत्नैरपनयेत् ॥

"उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे,
मायमज्जवभावेण, लोहं संतोसओ जिणे" ॥ ३९ ॥

नो चेत्संसारे परिभ्रमणं, यथा–

"कोहोअ माणो अ अणिग्गहीआ, माया अ लोहो अ पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स" ॥४०॥
(द० अ० ८)

अथ कषायप्रत्याख्यानस्य फलमाह—कसायपच्चक्खाणे णं भंते जीवे किं जणयइ? कसायपच्चक्खाणे णं वीयरागं भावं जणयइ, वीयरागभावे पडिवन्ने वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥ ३६ ॥ (उ० अ० २९ ॥)

वीतरागताफलमाह—वीयरागयाणं भंते जीवे किं जणयइ? वी० नेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोछिंदइ, मणुन्ना मणुन्नेसु सद्दफरिसरूवरसगंधेसु चेव विरज्जइ ॥ ४५ ॥

कषायविजयस्य पृथक्त्वफलं दर्शयति—कोहविजएणं भंते जीवे किं जणयइ? को० खंतिं जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ । खंतिए णं भंते जीवे किं जणयइ? ख० परीसहे जणयइ ॥ माणविजएणं भंते जीवे किं जणयइ? मा० मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ; मद्दवयाएणं भंते जीवे किं जणयइ? म० अणुस्सियत्तं जणयइ, अणुस्सियत्तेणं (अनुत्सुकत्वेन) जीवे मिउमद्दवसंपन्ने (मृदुमार्दवसम्पन्नो) अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठावेइ (क्षपयति) ॥ माया-विजएणं भंते जीवे किं जयणइ? मा० अज्जवं जणयइ । मायावेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ । अज्जवयाएणं भंते जीवे किं जणयइ? अ० काउज्जुययं, भावुज्जुययं, भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ, अविसंवायण (यथार्थ) सपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ॥ लोहविजएणं भंते जीवे किं जणयइ? लो० संतोसं जणयइ, लोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ७० ॥ मुत्तिएणं भंते जीवे किं जणयइ? मु० अकिंचणं जणयइ, अकिंचणेय जीवे अत्थलोलाणं पुरिसाणं अपत्थणिज्जो भवइ ॥ ४७ ॥

कषाया अग्नय उक्ता अत एतान् शमयन्तु यथा–

"संपज्जलिया घोरा, अग्गि चिट्ठइ गोयमा,
जे डहंति सरीरत्थे, कहं विज्झाविया तुमे" ॥ ५० ॥

{ सम्प्रज्वलिता घोरा, अग्नयस्तिष्ठन्ति गौतम !,
ये दहन्ति शरीरस्थाः कथं विध्यापितास्त्वया ॥ }

"महामहप्पसूयाओ गिज्झ-वारि जलुत्तमं,
सिंचामि सययं देहं, सित्ता नो डहन्ति मे" ॥ ५१ ॥

{ महामेघप्रसूतात् गृहीत्वा वारि जलोत्तमम् ।
सिंचामि सततं देहं, सिक्ता नो दहन्ति माम् ॥ }

"अग्गीय इ इ के वुत्ता, केसी गोयममब्बवी,
केसीमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी" ॥ ५२ ॥

"कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवो जलं,
सुयधाराभिहया सन्ता भिन्ना हु न डहन्ति माम् ॥"

{ कषाया अग्नय उक्ताः श्रुतशीलतपोजलम् ।
श्रुतधाराभिहताः सन्तः, भिन्ना खलु न दहंति माम् ॥ }

(उत्तराध्यन सूत्र, अ० २३)

अथैतेषां क्रुद्धव्याख्यामाह–

क्रोधः परापकाराय कुत्सितचित्तवृत्तिभेदः, परानिष्टाभिलाष इत्यथवाऽनिष्टविषयद्वेषहेतुक इत्यर्थः । आत्मन्युत्कर्षाभिमानात्मकं मानमिति । कापट्यमार्व छद्म मिथ्याबुद्धिहेत्वज्ञानभेदो दम्भश्चेत्यर्थः । परद्रव्येष्वतिशयाभिलाषो लोभः, । परानिष्टाभिलाषः क्रोधः, क्षमैव क्रोधविजये समर्थः, क्रोधावेशेन सर्वस्यान्धत्वमधैर्यत्वं हृदयशून्यता

च भवति। अतः क्षान्त्यैव नश्यति। मत्समो नान्योऽस्तीति मननं मानं। अथवाऽऽत्मन्यविद्यमानगुणारोपणोत्कर्षरूपा बुद्धिर्मानो महति धनाये सत्यपि ह्यनुक्षणं वर्धमाने तदभिलाषो लोभोऽथवा परवित्तादिकं दृष्ट्वा नेतुं (ग्रहीतुं) यो हृदि जायतेऽभिलाषो लोभश्च सः।

इतरेऽप्याहुर्यथा—

"लोभ एव मनुष्याणां, देहसंस्थो महान् रिपुः। सर्वदुःखाकरः मोक्तो, दुःखदः प्राणनाशकः।" "सर्वपापस्य मूलं हि, सर्वदा तृष्णयान्वितः, विरोधकृत् त्रिवर्णानां, सर्वार्तेः कारणं तथा।" "लोभात्त्यजन्ति धर्मं च, मर्यादां वै तथैव च, मातरं भ्रातरं हन्ति, पितरं बान्धवं तथा।" "गुरुं मित्रं तथा तातं, पुत्रं च भगिनीं तथा, लोभाविष्टो न किं कुर्यादकृत्यं पापमोहितः" ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—भगवान् महावीर (कोहं) क्रोधको (च) और (माणं) मानको (च) और (मायं) मायाको (तहेव) इसीप्रकार (चउत्थं) चौथे (लोभं) लोभको अर्थात् (एआणि) इन सब (अज्झत्थदोसा) अध्यात्मिक-आत्मसंबन्धी दोषोंको (वंता) त्यागकर (अरहा) अर्हन् तथा (महेसी) महर्षि हुए; और (पावं) पाप (ण) न (कुव्वइ) स्वयं करते हैं (ण) न (कारवेइ) औरोंसे प्रेरणासे कराते हैं ॥ २६ ॥

भावार्थ—कारणके नाश होनेपर कार्यका भी नाश होजाता है संसारके बढनेमें कारणभूत क्रोध-मान-माया और लोभ हैं, अतः इनके नाश होनेपर संसार-कर्मवर्गणारूपी नाश हो जाता है, इसलिए भगवान् क्रोधादिका नाश करके अर्हन् अवस्था एवं महर्षिपदको प्राप्त हुए, क्योंकि कषायके कषायका नाश किए बिना कोई भी महर्षि नहीं बन सकता, और भगवान् न स्वयं पाप करते हैं न औरोंको पापमें प्रेरित करते हैं ॥ २६ ॥

भाषा-टीका—क्रोध कषायका पहला भेद है, इसके आवेशमें आकर जीव द्वेषका उपयोग करने लगता है, इससे औरोंका अनिष्ट तक भी कर डालता है, जिससे वृत्ति गर्म और खराब होजाती है, अनिष्ट करते समय क्रोधका ही

उपयोग होता है। मान दूसरा कषाय है, इसकी मात्रा का कोई प्रमाण नहीं है, इसे अहंकार भी कहते हैं, इसके कारण 'वाहरे मैं' यही कहता रहता है, इसके आवेशमें मात्र अपनीही बढती चाहता है। माया नाम कपट करने का है, इससे दंभ किया करता है, सरलता का नाश कर डालता है, अपनी चिद्वृत्ति का मालिक नहीं रह पाता। पराये धनमें अतिशय अभिलाषा रखना लोभ है, जिससे किसी दूसरेका अहित करना बायें हाथका खेल समझता है।

क्रोध शान्तिसे जीता जा सकता है, शांतिके विना क्रोधके आवेशमें अन्धा हो जाता है। इससे अधीरता, अस्थिरता और हृदयशून्यता आ जाती है। अतः क्रोधको स्वभावसे नष्ट करना चाहिए।

मुझसे बढकर अन्य कोई नहीं, इस मान्यताके आने पर मानसे घिर जाता है, और अपनेमें अविद्यमानगुणको उत्पन्न करनेकी बुद्धि पैदा करता है, इससे अन्य सबको छोटी दृष्टिसे देखता है। स्पष्ट बात न कहना माया है। अधिक धनकी आय होने पर भी प्रतिपल जिसकी अभिलाषा बढती रहे उस अवस्थाका नाम लोभ है, या पराए धनको देख कर उसके स्वीकार करने की इच्छाको हृदयमें उत्पन्न करना लोभ है, यह लोभ मनुष्योंके शरीरमें सबसे बडा शत्रु है, यह सब दुःखोंकी खान और प्राणनाशक है, सब पापोंका मूल है, तीनों वर्णोंके लोक इसके कारण विरोध खडा कर रहे हैं, सबके दुःखोंका कारण यही सिद्ध हुआ है। लोभसे प्रेरित होकर माता, पिता, भाई, बंधु और धर्म की मर्य्यादा तकको नष्ट कर डालता है। गुरु, मित्र, पिता, पुत्र, भगिनी आदिको लोभसे मार कर नाश करता है, तथा वह कौनसा अपकृत्य है जिसे लोभ वश न करसकता हो।

परन्तु भगवान्ने इन चारोंका वमन कर दिया, इनको त्याग दिया, ये चारों दोष कोई साधारण दोष नहीं हैं, बल्कि ये अध्यात्म दोष हैं, इनसे अध्यात्मिकता नष्ट होती है। इनसे अनन्त संसारमें रुलना पडता है। भगवान् महावीर इन कषायों को नष्ट करके महर्षि बने थे। तब फिर उनमेंसे स्वयं पाप या आस्रव करने का विभाव भी जाता रहा। अब वे किसी अपराधको नहीं करते, कर्म कीचसे सर्व्वथा अलिप्त हैं। जन्म-जरा-मरणरूपी संसारके युद्धसे मुक्त हैं। कलङ्कका इनके आत्मामें अत्यन्ताभाव है। ये प्रभु निर्वैर हैं, आशय यह है कि प्रभु स्वयं पाप नहीं करते, न किसी अन्यको पाप या आस्रवका उपदेश ही करते हैं, न कराते हैं। क्योंकि पाप करना, कराना कषाय और अशुभयोगसे होता है,

हे पूज्यनीय! मानके विजयसे क्या लाभ होता है? मानके विजयसे निरभिमानिता या मार्दवताका अद्वितीयगुण पैदा होताहै। मान-जन्य कर्मका प्रतिबंध न करके पहलेके बांधे हुए कर्मकी निर्जरा करता है॥ मार्दवतासे क्या लाभ होता है? इससे अभिमान रहित होजाता है। वह किसी भी पदार्थमें उत्सुक नहीं होता। कठिन स्वभावको न रख कर वह फिर कोमल और मृदुताका सम्पादन करके जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, लाभ और ऐश्वर्य्य इन आठ-मदोंका संहार करता है जोकि आत्मशत्रु रूप हैं।

मायाका विजय करनेसे जीव क्या पाता है? इससे प्रकृति सरल हो जाती है। कपटसे भोगेजानेवाले कर्म नहीं बांधता। और पहले प्रतिबंधको तोड़ देता है। निष्कपटतासे जीवको क्या प्राप्त होता है? निष्कपटतासे काय, मन और भाषासे सरल होकर यथार्थ भाव पैदा करता है, किसीको ठगता नहीं, ऐसा जीव धर्मका सम्यक् आराधक बन जाता है।

लोभको जीतनेसे क्या लाभ होता है? इसे जीतनेसे संतोषरूपी अमृतको पाता है। और तज्जन्य कर्मका बंध नहीं डालता। और पहले बांधे हुए कर्मको बखेर देताहै। निर्लोभतासे जीवको क्या लाभ होता है? इससे अकिंचन भाव यानी निस्पृहताका गुण मिल जाता है। क्योंकि निष्कामजीवीको धनके लोभी कभी नहीं चिपटते।

कषाय भी एक आग है इसे बुझाओ! जैसे कहा भी है कि-चारों ओर आग सुलग रही है, वह सबको जला रही है, किसी भी शरीर धारी प्राणीको इसने नहीं छोड़ा, सब जीव इसमें निरन्तर जल रहे हैं। हे गौतम! आपने उसे किस प्रकार बुझाया।

केशिन्! महामेघसे एक उत्तम जल पैदा हुआ है, उसी पानी को लेकर अपनी देहको निरन्तर सींचता रहता हूं जिससे वह आग मुझे नहीं जलासकती।

गौतम! वह कौनसा अग्नि है? गौतम बोले, केशिमुने! कषाय ही सबसे भयंकर अग्नि है। उसे ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तपके जलसे सींचकर ठंडा कर दियाहै। यह जल जिनवाणीरूप मेघधारा से पाया है। उसीसे उसे बुझाया है। अतः वह आग अब मुझे नहीं जला सकती॥ २६॥

गुजराती अनुवाद—कषायनो पहेलो भेद, क्रोध छे, आवेशमां आवी जीव द्वेष करे छे, तेथी बीजानुं अनिष्ट पण करी बेसे छे, चित्तवृत्ति गरम तथा खराब बनी जाय छे। अनिष्ट करती वखते क्रोधनोज उपयोग थाय छे, कषायनो बीजो भेद मान छे। तेनी मात्रानुं कशुं प्रमाण नथी, तेने अहंकार पण कहे छे, तेना आवेशमां मात्र पोतानीज चढती इच्छे छे। माया नाम कपटनुं छे, तेनाथी दम्भ करे छे, सरळतानो नाश थाय छे, चित्तवृत्ति कब्जे रहेती नथी। परधनमां अतिशय अभिलाषा ए लोभ छे, तेनाथी अन्यनुं अहित करी बेसतां वार लागती नथी।

कषाय निग्रहनो उपाय—क्रोध शान्तिथी जीती शकाय छे, शान्ति वगर क्रोधना आवेशमां अन्ध बने छे। अधीरता-अस्थिरता-तेमज हृदयशून्यता-आवे छे तेथी क्रोधनो समभावथी नाश करवो जोइए।

माराथी मोटुं कोई नथी, ए मान्यता मानथी आवे छे, अथवा पोतानामां न होय तेवा गुणो पोतानामां छे, एवी बुद्धि थई जाय छे, तेथी बधाने हलका माने छे, स्पष्ट वात न कहेवी ते माया छे,

पुष्कळ धन होवा छतां दरेक क्षणे वधुनी अभिलाषा राखवी ते लोभ छे, अथवा परधन जोइने ते लई लेवानी हृदयमां इच्छा उत्पन्न थवी ते पण लोभ छे, लोभ मनुष्यनो मोटामां मोटो शत्रु छे, सर्वना विरोधनुं ए कारण छे। लोभथी प्रेरित बनीने माता-पिता-भाई-बन्धु-अने धर्मनी मर्यादा पण रहेती नथी। गुरु-मित्र-पुत्र-भगिनी वगेरेनो नाश लोभथी करे छे। लोभथी सर्व प्रसारना अकृत्य करे छे।

परन्तु भगवाने आ चारे कषायोनो नाश करी दीधो छे, आ चारे दोषो कोई साधारण दोष नथी, ते तो अध्यात्म दोष छे। तेनाथी अध्यात्मिकतानो नाश थाय छे, तेनाथीज अनन्त संसारमां रखडवुं पडे छे, भगवान् महावीर प्रभु ते कषायोनो नाश करी महर्षि बन्या, हवे तेओ पाप-आस्रव करता नथी, कर्म मळथी तेओ अलिप्त छे, जन्म-जरा-मरणथी मुक्त छे, कल्पनो अत्यन्ताभाव थई गयो छे, प्रभु निर्वेर छे, आस्रव ए छे के प्रभु पोते पाप करता नथी, कोई बीजाने पाप या आस्रवनो उपदेश पण करता नथी, कराववा नथी, करणेक पाप करवुं, कराववुं, ते कषाय अने अनुमयोगो बी-पाप छे, प्रभुना तेनो अत्यन्त अभाव

छे, तेथी प्रभुना अनुयायिओनुं पण ए कर्तव्य छे के तेओ पण कषायने मूके; दशवैकालिकमा कह्युं [redacted] के-"क्रोध-मान-माया-लोभ पाप वृद्धि करनार छे, जो हित चाहता हो-तो चारे कषायोनो त्याग करो।"

आ चारे कषायो अनन्तदोष वधारनार छे, तो पण तेनामां एक एक मुख्य दोष [redacted], जेमके-क्रोध प्रीतिनो, मान विनयनो, माया-कपट मित्रतानो अने लोभ प्रेम-विनय अने मित्रतानो नाश करे छे।

तेने दूर करवाना उपाय—क्रोधने शान्ति थी, मानने नम्रता राखवाथी, मायाने उदार सरलताथी, अने लोभ सन्तोषथी दूर कर नहि तो संसारमा अनन्तकाल परिभ्रमण करवुं पडशे।

क्रोध-माननो निग्रह न कर्यो होय, माया अने लोभमा वृद्धि करी होय तो आ चारे कषायो तारा माटे संसार जाळनी अनन्त वृद्धि करशे।

कषायत्यागनुं फल—उत्तराध्ययनना २९ मां अध्ययनमां गौतमस्वामी प्रश्न पूछे छे के हे भगवन्! कषायना त्यागथी जीव शुं पामे छे?

गौतम! कषाय त्यागथी वीतराग भाव उत्पन्न थाय छे अने वीतराग-भावने पामेला जीव ने सुखदुःख समान बने छे।

वीतरागतानुं फल—वीतरागपणाथी शुं पामे छे? गौतम! निरासक्तिथी स्नेह बंधन तथा तृष्णा बंधनने ते जीव छेदी नाखे छे, तथा मनोज्ञ अने अमनोज्ञ शब्दरूप-रस-गन्ध-स्पर्श इत्यादि विषयोमा वैराग्य-विरक्ति-त्यागभावने पामे छे।

अलग २ कषाय जयनुं फल—हे पूज्य! क्रोधना विजयथी आ जीव शुं पामे छे? गौतम! क्रोध विजयथी जीव क्षमाना गुणने प्रगटावे [redacted], क्रोधथी उत्पन्न थतां कर्मोने बांधतो नथी। अने पहेलां बांध्यां होय तेने खपावे छे, शान्तिथी परिषह जीतवानो अभ्यास तथा सहिष्णुता विगेरे विगेरे गुणो उत्पन्न थाय छे।

हे पूज्य! मानना विजयथी जीव शुं पामे छे? मानना विजयथी निरभिमानता या मृदुताना अपूर्वगुणने प्रगटावे छे, अने मानजन्य कर्मने बांधतो नथी, अने पहेलां जे बंधायुं छे तेनी निर्जरा करे छे,

मृदुताथी जीव शुं पामे छे? तेनाथी जीव अभिमान रहित थाय छे, अने कोमल मृदुताने प्राप्त करी जाति-कुल-बल-रूप-तप-ज्ञान-लाभ-अने ऐश्वर्य ए आठ प्रकारना मद रूप शत्रुनो संहार करे छे,

मायाना विजयथी जीव शुं पामे छे? मायाना विजयथी सरलभावपणुं पामे छे, अने मायाथी वेदवां पडतां कर्मो बंधातो नथी, अने पूर्वे बंधायां होय तो तेने दूर करे छे।

निष्कपटताथी जीव शुं पामे छे? निष्कपटताथी मन-वचन अने कायथी सरलता अने सुंदरता प्राप्त करे छे, अने कोईनी साथे ते ठगाई करतो नथी, एवो जीवात्मा धर्मनो सम्यक् आराधक बने छे,

हे पूज्य! लोभना विजयथी जीव शुं पामे छे? लोभना विजयथी सन्तोष रूप अमृतने मेळवे छे, लोभ जन्य कर्म बांधतो नथी, अने पूर्वे बंधायेलां छे तेने विखेरे छे।

निर्लोभताथी जीव शुं पामे छे? तेनाथी जीव अपरिग्रही बने छे, अने धनलोलुपी पुरुषोना रूपे, पराधीनताओथी बची जाय छे, अने रासुनी दासत्व भंगलाओने निर्लोभी बहुने तोडे छे अने देशने स्वतन्त्र बनावी शके छे.

कषाय पण एक आग छे, तेने शान्त करो—जेमके-च्यारे तरफ आग सळगी रही छे, ते बधाने एकदम बाळी रही छे, शरीरधारी प्राणीने पण तेणे छोडेल नथी, ते अग्निने हे गौतम! तमे शी रीते बुझावी नाखो, ?

हे केशी! महा मेघमांथी उत्पन्न थयेला पाणीना प्रवाहमांथी ते उत्तम पाणी लई सतत हुं ते अग्निने ठारी नाखुं छुं, अने तेथी ते ठरेली अग्नि मने लेशमात्र बाळी शकती नथी।

गौतम! ते अग्नि कई? गौतमे जवाब आप्यो केशी मुने! कषायोज भयंकर अग्नि छे, ज्ञान-दर्शन-चरित्र-तप रूपी जलनी धाराओ तीर्थंकररूपी महामेघथी वरसेली छे, सत्यज्ञाननी धाराओथी, बुझावेली ते कषायो रूपी अग्नि शान्त ठरी जाय छे, तेथी ते आग मने लेशमात्र पण बाळी शकती नथी ॥ २६ ॥

मूल

किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं,
अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं।
से सव्ववायं इति वेयइत्ता,
उवट्ठिए संजम दीहरायं ॥ २७ ॥

संस्कृतच्छाया

क्रियाक्रियं वैनयिकानुवादं,
अज्ञानिकानां प्रतीत्य स्थानम् ।
स सर्ववादमिति वेदयित्वा,
उपस्थितः संयमदीर्घरात्रम् ॥ २७ ॥

सं० टीका—क्रियावादिनामशीतिर्शतं भेदाः । अक्रियावादिनां चतुरशीतिभेदाः । विनयवादिनां द्वात्रिंशत्, अज्ञानवादिनां सप्तषष्टीति [३६३] त्रिषष्टिशतभेदाः पाषण्डिनां सर्वलिङ्गिनां "पाषण्डाः सर्वलिंगिन इत्यमरः ।" "[कुटीसकादिकाचतुचिंस द्वसिट्ठिदिट्ठिओ इति छन्नुंल्वुती पते] पासण्डा सम्पकासिता इत्यभिधानप्पदीपिका ।" वा मनोनीतधर्मिणां स्थानं पदं वा सादृश्यं स्थितिमवस्थामात्मनो ज्ञात्वा, "स्थानं सादृश्येऽवकाशे स्थितौ वृद्धिक्षयेतर इति मेदिनी ।" सर्वधर्माणामन्तर्भेदं रहस्यं ज्ञात्वेति भावः । वा स्थितिं तेषां स्थानं निकटं त्यक्त्वेत्याशयः । "अवकाशे स्थितौ स्थानमित्यमरः ।" पक्षमित्यपि सम्यक् प्रतीत्य परिच्छिद्य ज्ञात्वा च स भगवान् सर्ववादं सर्वमन्तव्यं कथयित्वा सर्वेषामेकान्तवादिनां स्वरूपं कथनं भावं च परिज्ञाय दीर्घकालं यावज्जीवपर्य्यन्तं संयमे धर्मे सम्यगुपस्थितः स्थितवान् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—[से] वह भगवान् महावीर [किरियाकिरियं] क्रियावाद और अक्रियावादके तथा [वेणइयाणवायं] विनयवादी और [अण्णाणियाणं] अज्ञानवादियोंके [ठाणं] पक्षको [पडियच्च] जानकर तथा [सव्ववायं] और सब वादोंके—पक्षको (इति) सम्यक् प्रकारसे (वेयइत्ता) समझाकर [सुजमदीहरायं] यावज्जीव संयममें [उवट्ठिए] उपस्थित रहे ॥ २७ ॥

भावार्थ—संसारमें अनेक मतोंका प्रचार है, कोई क्रियासे मोक्ष मानता है, कोई अक्रिया कहते हैं वे मात्र ज्ञानसे मुक्ति होना मानते हैं, कोई विनय करनेसे मोक्ष मानते हैं और कोई अज्ञानसे। और भी इनके अनेक सिद्धान्त हैं,

उन सबको प्रभु अच्छे प्रकारसे जानकर तथा औरोंको इसका तथ्य समझा कर संयममें तत्पर होगये थे अर्थात् जैसा उपदेश करते थे वैसा आचरणमें भी लाते थे ॥ २७ ॥)

भाषाटीकाः—क्रियावादियोंके १८० मत, अक्रियावादियोंके ८४ मत, विनयवादियोंके ३२ मत, और अज्ञानवादियोंके ६७ इस प्रकार पाषंडियोंके ३६३ भेद सर्वधर्म्मलिंगिओंके होते हैं। बौद्धोंने ९६ पाषंड माने हैं। मनो-नीत धर्मका नाम पापण्ड है। या सर्वधर्मका नाम पाषंड है। प्रभुने उनकी तुलना स्याद्वादसे कर दिखाई। जिस अग्नि परीक्षामें कोई पाषंड न उठ सका। परन्तु प्रभुने इससे सर्वधर्म समभाव रखना बताया। उनमें युक्तायुक्तविभाग करके असत्य का त्यागना सर्वश्रेष्ठ माना। इस प्रकार स्वसमय परसमय का मन्तव्य समझाकर यावज्जीवतक संयमधर्ममें एकरस होकर तत्पर (स्थिर) रहे थे ॥ २७ ॥

गुजराती अनुवाद—क्रियावादीना १८० मत, अक्रियावादीना ८४, विनयवादीना ३२ अने अज्ञानवादीना ६७ ए सर्वे ३६३ पाखण्डिओना भेद जाणवा, बोद्धोए ९६ भेद मान्या छे, मनोनीत धर्म्म पाखण्ड कहेवाय छे, तेनी तुलना स्याद्वादथी करी बतावी, ते अग्निपरीक्षामां कोई पाखण्डी टकी न शक्यो। प्रभुए सर्व धर्म समभाव राखवानुं पण बताव्युं, तेमां योग्यायोग्यनुं जाणपणुं पण बतावीने असत्यनो त्याग सर्व श्रेष्ठ मान्यो। आरीते स्वसमय, पर-समयनुं मन्तव्य समजीने उत्तम दशविध संयममां (धर्ममां) आवजीव शुधी सावधान पणे रह्या ॥ २७ ॥

मूल

से वारिया इत्थी सराइभत्तं,
उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए।
लोगं विदित्ता आरं परं च,
सव्वं पभू वारिय सव्ववारं ॥ २८ ॥

संस्कृतच्छाया

स वारयित्वा स्त्रियं सरात्रिभक्तं, उपधानवान् दुःखक्षयार्थम्।
लोकं विदित्वाऽऽरं पारं च, सर्वं प्रभुर्वारितवान् सर्ववारम् २८

सं० टीका—स वीरभगवान् स्त्रियं स्त्रीसम्पर्कं सम्भोगं च मैथुनं स्त्रीवेदपुरुषवेदोदयं, रात्रिभोजनसहितं निरन्तरं वारयित्वा परित्यज्य, उपलक्षणादन्यान्यपि प्राणातिपातादीनि ग्राह्याणि। परन्तु रात्रिभोजने तु सुतरां त्रसानामपि हिंसाऽनिवार्य्यसंयोगेन भवत्येवेत्यनेन रात्रिभोजनं त्याज्यमेवेति भावः। यथाह—

पुरुषार्थसिद्ध्युपाये—

"रात्रौ भुंजानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा,
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि" ॥ १२९ ॥

"रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा।
रात्रिंदिवमाहरतः कथं हि हिंसा न सम्भवति" ॥ १३० ॥

"यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा" ॥ १३१ ॥

नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागाधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्यभुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥ १३२ ॥

अर्काले भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम्।
अपि बोधितः प्रदीपो भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥१३३॥

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति ॥ १३४ ॥

अहिंसाणुव्रतपालको नरो रात्रिभोजनं वर्जयतीति दर्शयन्नाह; सागारधर्मामृते—

अहिंसाव्रतरक्षार्थं, मूलव्रतविशुद्धये।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥ २४ ॥

जलोदरादिकृद्यूकाद्यंकमप्रेक्ष्यजन्तुकम् ।
प्रेताद्युच्छिष्टमुत्सृष्टमप्यश्नन्निश्यहो सुखी ॥ २५ ॥

अथवा वनमालादृष्टान्तेन रात्रिभोजनदोषस्य पातकं दर्शयति—

"त्वां यद्युपैमि न पुनः सुनिवेश्य रामं, लिप्ये वधादिकृदघैस्तदिति श्रितोऽपि । सौमित्रिरन्यशपथान्वनमालयैकं, दोषाशिदोषशपथं किल कारितोऽस्मिन्" ॥ २६ ॥

लौकिकसंवाददर्शनेनापि रात्रिभोजनप्रतिषेधमाह ।

यत्र सत्पात्रदानादिकिञ्चित्सत्कर्म्म नेष्यते ।
कोऽद्यात्तत्रात्ययमये, स्वहितैषी दिनात्यये ॥ २७ ॥
भुञ्जतेऽन्हः सकृद्वर्य्या द्विर्मध्याः पशुवत्परे ।
रात्र्यहस्तद्व्रतगुणान्, ब्रह्मोद्यान्नावगामुकाः ॥ २८ ॥
योऽत्ति त्यजन् दिनाद्यन्तर्मुहूर्तौ रात्रिवत्सदा ।
स वर्ण्येतोपवासेन स्वजन्मार्द्धं नयन् कियत् ॥ २९ ॥

तथा च—श्रावकस्यैकादशप्रतिमासु षष्ठ्यां प्रतिमायां श्रावको रात्रिभुक्तित्यागी भवति । यथाह—

समन्तभद्रस्वामी श्रावकाचारे—

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं, नाश्नाति यो विभावर्य्याम् ।
स च रात्रिभुक्तिविरतः, सत्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥ १४२ ॥

पुनश्च—मुनिस्तु महाव्रतं समेत्य रात्रिभोजनात्सर्वथा विरमति यथाह दशवैकालिके—तस्य षष्ठव्रतं कृतम्—

अहावरे छट्ठे भंते ! वए राइभोयणाओ वेरमणं, सव्वं भंते ! राइभोयणं पच्चक्खामि, से असणं वा, पाणं वा खाइमं वा साइमं वा,

नेव सयं राइं भुंजेज्जा नेवऽन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा राइं भुंजंतेऽवि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। छट्ठे भंते! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं।

"अहावरे" इत्यादि। अथापरस्मिन् षष्ठे भदन्त! मते रात्रिभोजनाद्विरमणं, सर्वं भदन्त! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत्। तद्यथा-अशनं, वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वेति, 'अश्यत इत्यशनम्,'-ओदनादि, 'पीयत इति पानं'-मृद्वीकापानादि, 'खाद्यत इति खाद्यं' खर्जूरादि, 'स्वाद्यत इति स्वाद्यं' ताम्बूलादि, 'नैव स्वयं रात्रौ भुंजे, नैवान्यै रात्रौ भोजयामि, रात्रौ भुंजानानप्यन्यान्नैव समनुजानामि; इत्येतद्यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृतपूर्वविधम्। विशेषस्त्वयम्-रात्रिभोजन चतुर्विधम्। तद्यथा द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च। द्रव्यतस्त्वशनादौ, क्षेत्रतोऽर्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु, कालतो रात्र्यादौ, भावतो रागद्वेषाभ्यामिति। स्वरूपतोऽप्यस्य चातुर्विध्यम्, तद्यथा—रात्रौ गृह्णाति रात्रौ भुंक्ते, १ रात्रौ गृण्हाति दिवा भुंक्ते २, दिवा गृण्हाति रात्रौ भुंक्ते ३, दिवा गृण्हाति दिवा भुंक्ते ॥ ४ ॥ सन्निधिपरिभोगे द्रव्यादिचतुर्भंगी पुनरियम्—द्रव्यतो नामैको रात्रौ भुंक्ते नो भावतः १, भावतो नामैको नो द्रव्यतः २, एको द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि ३, एको नो द्रव्यतो नो भावतः ॥ ४ ॥ तत्रानुद्गते सूर्ये उद्गत इत्यस्तमिते वाऽनस्तमित इत्यरक्तद्विष्टस्य कारणतो वा रात्रौ भुञ्जानस्य द्रव्यतो रात्रिभोजनं नो भावतः। रात्रौ भुञ्ज इति मूर्च्छितस्य तदसम्पत्तौ भावतो नो द्रव्यतः। एवमेव सम्पत्तौ द्रव्यतोऽपि, भावतोऽपि चतुर्थो भंगः पुनः

शून्यः । एतच्च रात्रिभोजनं प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थयोः—ऋजुजडवक्रजडपुरुषापेक्षया मूलगुणत्वस्थापनार्थं महाव्रतोपरि पठितं मध्यमतीर्थकरतीर्थेषु पुनः ऋजुप्रज्ञपुरुषापेक्षयोत्तरगुणवर्गे इति ॥

तथा च योगशास्त्रेऽपि—

अन्नं प्रेतपिशाचाद्यैः, संचरद्भिर्निरंकुशैः ।
उच्छिष्टं क्रियते यत्र, तत्र नाद्याद्दिनात्यये ॥

तथा—

घोरान्धकाररुद्धाक्षैः, पतन्तो यत्र जन्तवः ।
नैव भोज्ये निरीक्ष्यन्ते, तत्र भुञ्जीत को निशि ?

रात्रिभोजने दृष्टान् दोषानाह—

"मेधां पिपीलिका हन्ति, यूका कुर्याज्जलोदरम् ।
कुरुते मक्षिका वान्ति, कुष्ठरोगं च कोलिकः ॥"
"कण्टको दारुखण्डं च, वितनोति गलव्यथाम् ।
व्यञ्जनान्तर्निपतितस्तालु विध्यति वृश्चिकः ॥"
"विलग्नश्च गले वालः, स्वरभंगाय जायते ।
इत्यादयो दृष्टदोषाः, सर्वेषां निशि भोजने ॥"

यदाहुः—

*मेहं पिपीलियाओ, हणंति वमणं च मच्छिया कुणइ, जूया-

---

* मेधां पिपीलिका हन्ति, वमनं च मक्षिका करोति,
यूका जलोदरत्वं, कोलिकः कुष्ठरोगं च ।
वालः स्वरस्य भंगं, कण्टको लगति गले दारु च,
तालुनि विध्यति अलिर्व्यञ्जनमध्ये भुज्यमानः ।
जीवानां कुन्थ्वादीनां, घातनं भाजनधावनादिषु ।
एवमादिरजनीभोजनदोषान्, कः कथयितुं शक्नोति ॥

जलोयरचं, कोलियओ कोढरोगं च ॥ बालो सरस्स भंगं, कंटो लग्गइ गलम्मि दारु च । तालुम्मि विंधइ अली, वंजणमज्झम्मि भुंजंतो ॥ जीवाण कुंथुमाईण घायणं भायणधोयणाईसु । एमाइरयणिभोयणदोसे, को साहिऊं तरइ ?,

नाप्रेक्ष्यसूक्ष्मजन्तून्, निश्यद्यात्प्रासुकान्यपि,
अप्युद्यत्केवलज्ञानैर्नादृतं यन्निशासनम् ॥
*जइवि हु फासुगदव्वं कुंथूपणगावि तहवि दुप्पस्सा,
पच्चक्खनाणिणो वि, हु राइभत्तं परिहरंति ।
जइवि हु पिवीलगाई, दीसंति पइवमाईउज्जोए,
तहवि खलु अणाइन्नं, मूलवयविराहणा जेण ॥

लौकिकसंवाददर्शनेनापि रात्रि-भोजनं प्रतिषेधति यथा—

"धर्मविन्नैव भुंजीत, कदाचन दिनात्यये,
बाह्या अपि निशाभोज्यं यदभोज्यं प्रचक्षते ।"

तच्छास्त्रमेव कथयति—

"त्रयीतेजोमयोभानुरिति वेदविदो विदुः ।
तत्करैः पूतमखिलं, शुभं कर्म्म समाचरेत् ॥"

पुनश्चैतदेवाह—

"नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनम् ।
दानं वा विहितं रात्रौ, भोजनं तु विशेषतः ॥"

---

* यद्यपि खलु प्रासुकद्रव्यं, कुन्थुपनका अपि तथापि दुष्प्रेक्ष्याः ।
प्रत्यक्षज्ञानिनोऽपि खलु रात्रिभक्तं परिहरन्ति ॥
यद्यपि खलु पिपीलिकादयो दृश्यन्ते प्रदीपाद्युद्योते ।
तथापि खल्वनाचीर्णं, मूलव्रतविराधना येन ॥

पुनश्च—"दिवसस्याष्टमे भागे, मन्दीभूते दिवाकरे।
नक्तं तु तद्विजानीयान्न नक्तं निशि भोजनम्॥"
"देवैस्तु भुक्तं पूर्वान्हे, मध्यान्हे ऋषिभिस्तथा।
अपराह्णे च पितृभिः, सायान्हे दैत्यदानवैः॥"
"सन्ध्यायां यक्षरक्षोभिः, सदा भुक्तं कुलोद्वह।
सर्ववेलां व्यतिक्रम्य, रात्रौ भुक्तमभोजनम्॥"

आयुर्वेदेऽप्युक्तम्—
"हृन्नाभिपद्मसंकोचश्चण्डरोचिरपायतः।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवादनादपि॥"

परपक्षसंवादमभिधाय स्वपक्षं समर्थयते—
"संसर्जीवसंघातं, भुञ्जाना निशि भोजनम्।
राक्षसेभ्यो विशिष्यन्ते, मूढात्मानः कथं नु ते?॥"

एतदेवाह—
"वासरे च रजन्यां च, यः खादन्नेव तिष्ठति।
शृंगपुच्छपरिभ्रष्टः, स्पष्टं स पशुरेव हि॥"

रात्रिभोजनविरतानां सविशेषपुण्यवत्त्वं दर्शयति—
"अन्हो मुखेऽवसाने च, यो द्वे द्वे घटिके त्यजन्।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम्॥"

ननु यो दिवैव भुंक्ते तस्य रात्रिभोजनप्रत्याख्याने फलं नास्ति? फलविशेषो वा कश्चिदुच्यतामित्याह—
"अकृत्वा नियमं दोषाभोजनाद्दिनभोज्यपि।
फलं फलेन निर्व्याजं, न वृद्धिर्भाषितं विना॥"

पूर्वोक्तस्य विपर्य्ययमाह—

"ये वासरं परित्यज्य, रजन्यामेव भुंजते ।
ते परित्यज्य माणिक्यं, काचमाददते जडाः ।"

ननु यदि नियमः सर्वत्र फलवान् ततो यस्य "रात्रावेव मया भोक्तव्यं न दिवसे" इति नियमस्तस्य का गति? रित्याह

"वासरे सति ये श्रेयस्काम्यया निशि भुंजते ।
ते वपन्त्यूपरक्षेत्रे, शालीन् सत्यपि पल्वले ॥"

रात्रिभोजनस्य दुर्विपाकफलमाह—

"उलूककाकमार्जारगृध्रशम्बरशूकराः ।
अहिवृश्चिकगोधाश्च, जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥"

वनमालोदाहरणेनायमपि रात्रिभोजनदोषस्य त्यागमहत्तां दर्शयति यथा—

"श्रूयते ह्यन्यशपथाननादृत्यैव लक्ष्मणः ।
निशाभोजनशपथं, कारितो वनमालया ॥"

शास्त्रं निदर्शनं च विना सकलजनानुभवसिद्धं—रात्रि-भोजनत्यागफलमाह—

"करोति विरतिं धन्यो, यः सदा निशि भोजनात् ।
सोऽर्द्धं पुरुषायुषस्य, स्यादवश्यमुपोषितः ॥"

तदेवं रात्रिभोजनस्य भूयांसो दोषास्तत्परिवर्जने तु ये गुणा-स्तान् वक्तुमस्माकमशक्तिरेवेत्याह—

"रजनीभोजनत्यागे, ये गुणाः परितोऽपि तान् ।
न सर्वज्ञादृते कश्चिदपरो वक्तुमीश्वरः ॥ ७० ॥

अमितगतिश्रावकाचारेऽपि रात्रिभोजनस्य निषेधः कृतः ।

यत्र राक्षसपिशाचसंचरो, यत्र जन्तुनिवहो न दृश्यते ।
यत्र भुक्तमपि वस्तु भक्ष्यते, यत्र घोरतिमिरं विजृम्भते ॥
यत्र नास्ति यतिवर्गसङ्गमो, यत्र नास्ति गुरुराजदर्शनम् ।
यत्र संयमविनाशि भोजनं, यत्र संसजति जीवभक्षणम् ॥
यत्र सर्वशुभकर्मवर्जनं, यत्र नास्ति गमनागमक्रिया;
तत्र दोषनिलये दिनात्यये, धर्मध्यानकुशला न भुंजते ॥
भुंजते निशि दुराशयाय के, गृद्धिदोषवशवर्तिनो जनाः ।
भूतराक्षसपिशाचशाकिनी, सगतिः कथममीभिरस्य च ॥
यश्मते दिननिशीथयोः सदा, यो निरस्तयमसंयमक्रियः ।
शृंगपुच्छशफसंगवर्जितो, भण्यते पशुरयं मनीषिभिः ॥
आमनन्ति दिवसेषु भोजनं, यामिनीषु शयनं मनीषिणः ।
ज्ञानिनामवसरेषु जल्पनं, शान्तये गुरुषु सेवनं कृतम् ॥
भुज्यते गुणवतैकदा सदा, मध्यमेन दिवसे द्विरुज्वले;
येन रात्रिदिवयोरनारतं, भुज्यते स कथितो नराधमः ॥
ये विवर्ज्य वदनावसानयोर्वासरस्य घटिकाद्वयं सदा ।
भुंजते जितहृषीकवाजिनस्ते भवंति भवभारवर्जिताः ॥
ये व्यवस्थितमहः सुखप्रदा, शर्वरीषु रचयन्ति भोजनम् ।
निम्नगामिसलिलं निसर्गतस्ते नयन्ति शिखरेषु शालिनम् ॥
सूचयन्ति सुखदायि येऽङ्गिनां, रात्रिभोजनमपास्तचेतनाः ।
पावकोद्धतशिखाकरालितं, ते वदन्ति फलदायिकाननम् ॥
ये भुवन्ति दिनरात्रिभोगयोस्तुल्यतां रचितपुण्यपापयोः ।
ते प्रकाशतमसोः समानतां, दर्शयन्ति सुखदुःखकारिणोः ॥

रात्रिभोजनमधिश्रयन्ति ये, धर्मबुद्धिमधिकृत्य दुर्धियः ।
ते क्षिपन्ति पविवन्हिमण्डलं, वृक्षपद्धतिविवृद्धये ध्रुवम् ॥
ये विधृत्य सकलं दिनं क्षुधा, भुंजते सुकृतकांक्षया निशि ।
ते विवृध्य फलशालिनीं लतां, भसयन्ति फलकांक्षया पुनः ॥
ये सदापि घटिकाद्वयं त्रिधा, कुर्वते दिनमुखान्तयोर्बुधाः ।
भोजनस्य नियमो विधीयते, मासि तैः स्फुटमुपोषितद्वयम् ॥
रोगशोककलिराटिकारिणी, राक्षसीव भयदायिनी प्रिया ।
कन्यका दुरितपाकसंभवा, रोगिता इव निरन्तरापदाः ॥
देहजा व्यसनकर्मपंडिताः, पन्नगा इव वितीर्णभीतयः ।
निर्धनत्वमनपायि सर्वदा, पात्रदानमिव दत्तवृद्धिकम् ॥
संकटं सतिमिरं कुटीरकं, नीचवित्तमिव रंध्रसंकुलम् ।
नीचजातिकुलकर्मसंगमः शीलशौचशमधर्मनिर्गमः ॥
व्याधयो विविधदुःखदायिनो, दुर्जना इव परापकारिणः ।
सर्वदोषगणपीड्यमानता, रात्रिभोजनपरस्य जायते ॥
पद्मपत्रनयनाः प्रियंवदाः, श्रीसमाः प्रियतमा मनोरमाः ।
सुन्दरा दुहितरः कलालयाः, पुण्यपंक्तय इवात्तविग्रहाः ॥
अंशितव्यसनवृत्तयोऽमलाः, पावना हिमकरा इवांगजाः ।
शक्रमन्दिरमिवास्ततामसं, मन्दिरं प्रचुररत्नराजितम् ॥
लब्धचिन्तितपदार्थमुज्वलं, भूरिपुण्यमिव वैभवं स्थिरम् ।
सर्वरोगगणमुक्तदेहता, सर्वशर्मनिवहाधिवासिता ॥
ज्ञानदर्शनचरित्रभूतयः, सर्वयाचितविधानपण्डिताः ।
सर्वलोकपतिपूजनीयता, रात्रिभुक्तिविमुखस्य जायते ॥

शूकरी शंबरी वानरी धीवरी, रोहिणी मंडली शोकिनी क्लेशिनी ।
दुर्भगा निस्सुता निर्धवा निर्धना, शर्वरीभोजिनी जायते भामिनी ॥
बान्धवैरंचिता देहजैर्वन्दिता, भूषणैर्भूषिता व्याधिभिर्वर्जिता ।
श्रीमती ह्रीमती धीमती धर्मिणी, वासरे जायते भुक्तितः शर्मणी ॥
रात्रिभोजनविमोचिनो गुणा, ये भवन्ति भवभागिनां परे ।
तानपास्य जिननाथमीशते, वक्तुमत्र न परे जगत्रये ॥

इत्यनेकशास्त्रसम्मतरात्रिभोजनं परिहेयमिति भावः । उपधानं तपः, प्रणयं च प्रकर्षेण नयं न्यायं "उपधानं विधे गण्डौ प्रणयेऽपि नपुंसकमिति मेदिनी" । तद्विद्यतेऽस्यासावुपधानवान्, तपोनिष्टप्तदेहो नयवानपि, दुःखक्षयार्थं दुःखमणाशनार्थमारं प्रान्तभागं, पारं परं लोकं "पारं परतटे प्रान्ते इति मेदिनी" । "पारं मुचि इत्यभिधानप्पदीपिका बौद्धकोषः" । ऐहलोकं पारलोकं, अथवाऽऽरं मनुष्यलोकं पारं दूरवर्ति तीरं 'पारं परम्हि, तीरम्हि' इति अभिधानप्प०" । अथवा नरकादिकं स्वरूपतस्तत्प्रापणहेतुं तवश्च ज्ञात्वा सर्वमेव तत्, प्रभुर्भगवान् सर्ववारं बहुशो निवारितवान् त्यक्तवान् एतदुक्तं कथितं प्राणातिपातादिकं निषेधादिकं स्वतोऽनुष्ठाय परांश्च स्थापितवान्, नहि स्वतोऽस्थितः परांश्च स्थापयितुमलमित्यर्थः स्वयमधर्म्मे स्थितः पराञ्जनान्धर्मे स्थापयितुमसमर्थः । स्तुतिकृतोक्तमिति । "ब्रुवाणोऽपि न्यायं स्ववचनविरुद्धं व्यवहरन्, परं नालं कश्चिद्दमयितुमदान्तं स्वयमिति । भवान्निश्चित्यैवं मनसि जगदाधाय सकलं, स्वमात्मानं तावद्दमयितुमदान्तं व्यवसितः" ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—[से] उस [उवहाणवं] तपस्वी [प्रभु] भगवान् महावीरने [दुक्खक्खयट्ठयाए] आठ प्रकारके कर्मरूपी दुःखोंको दूर करनेकेलिए

[सराइभत्तं] रात्रि भोजन सहित [इत्थी] स्त्री-संभोगादि पापोंको [वारिया] छोडकर [सव्वं] तथा समस्त [आरं] इस [लोगं] लोकको (च) और [परं] परलोकको [विदिता] जानकर [सव्ववारं] अधिकाधिक प्रमाणमें समस्त परभावका [वारिया] निवारण किया ॥ २८ ॥

भावार्थ—जो वक्ता जिस प्रवृत्तिका उपदेश करता है वह वैसा ही वर्तन भी करता है, तब ही उसके उपदेशका प्रभाव पडता है। महावीरप्रभुने मोक्ष-पानेका जो उपदेश किया उसमें वे स्वयं भी संलग्न रहे हैं। इसीसे कहा गया है कि-भगवान्‌ने आठ कर्मरूपी दुःखोंका नाश करनेके लिए स्त्री-संसर्ग तथा रात्रिभोजन और १८ पापोंका स्वयं त्याग किया था। इसके अतिरिक्त घोर तप करते हुए इसलोक-परलोक अथवा मनुष्यलोक नरकलोकादिका रहस्य जानकर उन सबका त्याग किया ॥ २८ ॥

भाषा-टीका—भगवान् स्त्रीसंसर्ग और स्त्रीके पडौसमें रहने तकके कट्टर त्यागी थे। उन्होंने ब्रह्मचर्य्य पालन करनेके लिए नव वाड विशुद्ध शील पालन करना बताया है। यहा तक तो कहा है कि-जिस स्थान पर स्त्री बैठकर गई है, ब्रह्मचारी उस स्थान पर एक घंटा तक बिल्कुल न बैठे। क्योंकि उसके अशुद्ध और गर्म परमाणुओंका प्रभाव सुशीलके लिए हानिकर है। यही ब्रह्मचारिणीके लिए भी समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त आप रात्रिभोजनके भी प्रत्यक्ष विरोधमें थे, क्योंकि रात्रिमें भोजन करनेसे त्रस जीवोंकी हिंसाका होना अनिवार्य संयोग है। इसी कारणसे रात्रिभोजन करना मना किया है।

रात्रिभोजन इस लिए वर्जित है कि रात्रिमें भोजन करनेवालोंके लिए हिंसाका निवारण करना अशक्य है। अतः हिंसाका त्यागी रातमें भोजन न करे। मगर जो जीव तीव्र राग भाव रखते हैं उनसे इसका त्याग नहीं हो सकता। क्योंकि जिसे भोजनसे अत्यधिक अनुराग होगा वह ही प्राणी रात दिन खाता पीता रहेगा। और जहा राग बन्धन होता है वहां प्रमत्तयोग व्यापार अवश्य रहता है। और प्रमत्त प्राणी हिंसा अवश्य करेगा।

बहुतसे यह भी कहते हैं कि यदि सदाकाल भोजन करनेमें हिंसा होती है तो दिनमें भोजन न करके रातको ही खाना चाहिए? क्योंकि इस प्रकार करनेसे सदैव तो हिंसा न होगी। मगर यह बात नहीं है, यद्यपि उदरके

भरने की अपेक्षा सब प्रकारके भोजन समान हैं। परंतु अन्नके भोजनमें जितना साधारण राग भाव है, उतना मांस भोजनमें नहीं। मांस भोजन में विशेष राग भाव है। जितना घास खानेवाली गायको चारा मिलने पर खाते समय सामान्य रागभाव है, उतना थोडा रागभाव चूहे मारनेवाली बिल्लीको नहीं। बिल्लीको मांस भोजनमें विशेष रागभाव है। क्योंकि अन्नका भोजन सहजमें मिल जाता है और मांसका भोजन अतिशय क्षमादिककी अपेक्षा अथवा शरीरादिकके मोहकी अपेक्षा विशेष प्रयत्नसे तैयार किया जाता है। इसी तरह दिनका भोजन सब मनुष्योंको सहज ही प्राप्त होजाता है। इसीलिए उसमें साधारण रागभाव पाया जाता है, परन्तु रात्रि भोजनमें तो शरीरादिक व क्षमादिक पोषण करनेकी अपेक्षा विशेष रागभाव आता है। अत एव रात्रि-भोजन सर्वथा त्याज्य ही है।

इसके अतिरिक्त दीपकके प्रकाशमें बारीक जीव आखोंसे ठीक २ नहीं दीखते, तथा रात्रिमें दीपकके प्रकाशसे नाना प्रकारके ऐसे छोटे बडे जीव घूमने लगजाते हैं, जो दिनमें कभी दिखलाई नहीं पडते। अत एव रात्रि भोजनमें तो प्रत्यक्ष हिंसा है, और रात्रिमें भोजन करनेवाला हिंसासे कभी बच नहीं सकता। अतः जिस महाभाग्यशालीने रातमें आहार करना सर्वथा छोड-दिया है वही सच्चा अहिंसक है। रात्रि भोजनके छोडे बिना अहिंसाव्रतकी सिद्धि नहीं हो सकती। अत एव कोई २ आचार्य इसे अणुव्रतमें भी गर्भित करते हैं।

सागरधर्मामृतमें कहा है कि-अहिंसाव्रतका साधक रात्रि भोजनका त्याग अवश्य करता है। क्योंकि मूल व्रत की शुद्धि के लिए तथा अहिंसाव्रतकी रक्षाके निमित्त रात में चार प्रकार का आहारकरना तीनयोगसे धर्मी जीवोंके लिए वर्जित है।

पुराने विचारके मनुष्योंका यह भी मत है कि रात होनेपर भूत प्रेत आकर आहारको झूंठा करदेते हैं। और बहुतसे जीव ऐसे भी हैं जिनको रात्रिमें देखना कठिन है। यदि जूं आदि जीव भोजन में खाया जाय तो जलो-दर जैसे राजरोगोंका हो जाना कुछ असंभव नहीं। अतः रात्रि भोजनका त्यागी ही उपरोक्त आपत्तियोंसे मुक्तहोकर इन्द्रिय विलासके जालसे छूट सकता है।

वनमालाने रात्रिभोजनके दोष की शपथ दिलवाई थी।

जैन रामायणमें कहा है कि-रामजी लक्ष्मण और सीताके साथ दक्षिणापथमें घूमते २ कूर्चनगरमें आ निकले। वहां महीधरराजाने अपनी वनमाला नामक पुत्रीका विवाह लक्ष्मणसे करदिया। कुछदिन रहकर वहाँसे जब तीनों विदा होनेलगे तब वनमाला भी लक्ष्मणके साथ चलनेलगी।·परन्तु लक्ष्मणने उसे साथमें न चलनेकी सम्मति दी। यह सुन स्वामीके विरहमें कातरभाव होकर बोली कि नाथ! आप मुझे वापस कबतक आकर ले जाओगे? यह विश्वास न होनेसे साथ ही रहूंगी। लक्ष्मणने उसे विश्वास दिलनेके लिए प्राणातिपात जैसे अनेक पापकी कडी शपथ ली। तब उसने उन शपथोंपर असन्तोष प्रकट किया और रात्रिभोजनके पापकी शपथ दिलाई। लक्ष्मण वह शपथ लेकर रामके साथमें जामिला। उस समय रात्रि भोजनका पाप चार प्रकारकी हत्याओंसे भी अधिक समझा जाता था।

किसीने कहा है कि—सुपात्र-पुरुष दिनमें आते हैं वे रातको नहीं आ पावे, अतः दिन अस्त होनेपर उनको आहार देनेसे वंचित रह जाता है। अतः दानी और कल्याणकी कामना रखनेवालापुरुष रातमें भोजन करना त्याग देता है।

पुरुषोंके तीन प्रकार—उत्तम पुरुष मध्यान्ह समय भोजन करते हैं, मध्यम पुरुष दोबार खाते हैं, परन्तु जो सर्वज्ञके कहे हुए धर्मसे अनभिज्ञ हैं, वे पशुकी तरह दिनरात चरते रहते हैं।

दो घडी दिन चढनेतक रात्रि निकट रहती है, दो घडी दिन बाकी रहने पर रात्रि समीप में आ जाती है, अतः सबेरे का दुघडिया धर्माराधन और स्वाध्यायके लिए है। तथा सांझके दुघडियेमें प्रतिक्रमणका आरंभ होजाता है। अतः उन दो दो घडियोंको छोड कर जो आहार करते हैं वे प्रशंसनीय पुरुष हैं। क्योंकि उनका आधा जन्म-समय तो उपवास करने में ही व्यतीत हो गया है।

श्रावककी ११ प्रतिज्ञा (प्रतिमा) ओंमें छठवीं प्रतिज्ञा रात्रिभोजनके छोडने की होती है, जिसमें अन्न, पानी, खानेकी वस्तु मिठाई आदि, और पान सुपारी आदि खाद्यकी वस्तुएं तथा चाटनेकी वस्तुएँ आदि जो रातमें नहीं भोगता वह सब त्रसप्राणी जीवोंकी अनुकम्पा करनेवाला सच्चा गृहस्थ है।

छठा व्रत मुनिओंका रात्रि भोजन त्याग है—मुनिवर्ग तो महाव्रतोंको लेकर रात्रिभोजनसे सर्वथा विरक्त हो जाता है। दशवैकालिकमें उसका छठवां व्रत इस प्रकार किया गया है। और वह गुरुके सन्मुख यों प्रतिज्ञा लेता है कि—

भगवन्! मैं रात्रिभोजन करनेका त्याग करता हूं। और अन्न, पानी, खाद्य स्वाद्यादि पदार्थोंका रात्रि के समय न भोजन करूंगा, न कराऊंगा, न करने वालेकी अनुमोदना भी करूंगा। सारी उमरभरकेलिए तीनकरण और तीन योगोंसे अर्थात् मन-वचन-कायासे रातमें, आहार न करूंगा न कराऊंगा, तथा अनुमोदन भी न करूंगा। हे भगवन्! उस रात्रिभोजनके पापरूप दंडसे मैं पीछे हटता हूं, उसका प्रतिक्रमण करता हूं, अपने आत्माकी साक्षीसे उसे निंद्य समझता हूं, गुरुकी साक्षीसे उसको घृणित समझता हूं, और आत्मासे उस पाप का त्याग करता हूं।

अहिंसा महाव्रतकी रक्षाकेलिए रात्रिभोजनका त्याग किया गया है—और वह भी इस जन्मके अन्तिम श्वास तक छोड़ा गया है।

उसे महाव्रत न कह कर व्रत इसलिए कहा है कि—महाव्रतोंकी तरह इसका पालन करना अधिक कठिन नहीं है। इसीकारणसे इसे मूलगुणमें न रख कर उत्तरगुणमें रखलिया है।

और इसे महाव्रतोंके पीछे इस लिए रखा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके समय मनुष्य समुदायका स्वभाव ऋजुजड़ और वक्रजड़ होता है। और मध्यके तीर्थंकरोंके समयके मनुष्योंकी बुद्धि ऋजुप्रज्ञ होनेसे इसका पाठ सुगमतया समझनेके लिए महाव्रतके पीछे जोड़ दिया है। इससे यह भी सिद्ध है कि महाव्रतोंकी भांति ही इस व्रतका पालन भी किया जाया करे। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी तथा मिश्रामिश्रणकी दृष्टिसे इसके अनेक प्रकार हैं जैसे—द्रव्यसे अशनादि, क्षेत्रसे अढाई द्वीपमें, कालसे रातके समय और भावसे द्वेषरहित होकर इसका पालन करना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त और प्रकार भी पाए जाते हैं। जैसे कि—आहारादि रातमें ग्रहण करना और रातमें खाना, रातमें ग्रहण करना और दिनमें खाना, दिनमें ग्रहण करना और रातमें खाना, दिनमें ग्रहण करना और दिनमें खाना।

इन चारों भंगोंमें पहलेके तीन भंग साधुके लिए अशुद्ध अर्थात् ग्राह्य नहीं हैं, और अन्तिम शुद्ध भंग ग्राह्य है।

द्रव्य और भावकी अपेक्षासे भी रात्रिभोजनके चार भंग बन जाते हैं। जैसे-केवल द्रव्यसे, केवल भावसे, द्रव्य और भाव दोनोंसे, तथा द्रव्य और भावसे रहित। सूर्योदय या सूर्यके अस्तका सन्देह होनेपर भी भोजन किया जाता है, यह केवल द्रव्यसे रात्रि भोजन है भावसे नहीं है। "मैं रातमें भोजन करूं" ऐसा विचार हो जाय और खाया पिया कुछ नहीं है तब वह केवल भावसे रात्रि भोजन है, द्रव्यसे नहीं। बुद्धि सम करते हुए भी रात्रिमें आहार कर लेना, यह द्रव्य और भाव दोनोंसे है और न रात्रिमें भोजन करना न करने की अभिलाषा ही खडी करना यह द्रव्य और भावसे रहित भंग है।

बुद्धोंके आठ उपदेशोंमें भी रात्रिभोजन वर्जित है, जैसे-

१ 'पाणातिपाता' वेरमणि सिक्खापदं 'समा दियामि'।
२ 'अदिन्नादाना' वेरमणि सिक्खापदं समा 'दियामि'।
३ 'अब्रह्मचारिया' वेरमणि सिक्खापदं 'समादियामि'।
४ 'मुषावादा' वेरमणि सिक्खापदं समादियामि।
५ 'सुरामेरय-मज्ज-पमादट्ठाना' वेरमणि सिक्खापदं समादियामि।
६ 'विकालभोजना' वेरमणि सिक्खापदं समादियामि।
७ 'नच्चगीतवादित विसुकदस्सन माला गन्धविलेपनधारण, मंण्डन भूषणट्ठाना' वेरमणि सिक्खापदं समादियामि।
८ 'उच्चाशयन, महाशयना,' वेरमणि सिक्खापदं समादियामि।

भावार्थ—मैं किसी प्राणधारी जीवका प्राण लेनेसे विरक्त होता हूं।
२ किसी दूसरेकी वस्तु बिना दिए न लेनेकी प्रतिज्ञा करता हूं।
३ सब प्रकारके स्त्रीसमागम से वंचित होनेकी प्रतिज्ञा करता हूं।
४ सब प्रकारके झूठ बोलने की प्रतिज्ञा लेकर विरक्त होता हूं।
५ किसी प्रकारका मादक द्रव्य या गांजा-भांग-मदिरादिक सेवन करनेसे विरक्त होता हूं।
६ असमय अर्थात् दोपहरके बाद भोजन करनेसे बाज़ आकर विरक्त होता हूं [बौद्ध लोक दोपहर बाद कुछ नहीं खाते और रातमें भी नहीं खाते]

७ नाचने, गाने, ढोल बजाने आदि अनेक प्रकारके तमाशे देखने तथा फूल-माला, गन्ध, लेपनादिक लगाने तथा आभूषण शृंगार करनेसे विरक्त होता हूं।

८ ऊंचे और बडे आराम देनेवाले आसनों और बडी शय्याओंमें शयन कर-नेका त्याग करता हूं। इत्यादि—छठवें नियममें रात्रि भोजन इनके यहां भी वर्ज-नीय है।

घोर अन्धकारमें आंखों से कुछ नहीं दीखता, उस समय रातमें उड़ने-वाले जीवोंका भोजनमें पड़जाना भी संभव है अतः रातमें कौन खा-पी सकता है?

रात्रि भोजनके प्रत्यक्ष दोष—

"भोजनमें कीडी खाई जावे पर बुद्धिका नाश करती है, जूका खाई जाय तो जलोदर हो जाता है, मक्खीसे वमन हो जाता है, पेटमें मकडी जानेसे कोढ हो जाता है। कांटा या लकडी का टुकडा गलेमें पीडा कर देता है। शाक भाजीमें बिच्छू आजाय तो वह हलक को डंक मारकर बेध देता है। गलेमें यदि बाल अटक जाय तो स्वरका भंग हो जाता है, रातमें खानेसे ये दोष प्रत्यक्ष हो जाते हैं।" "रातमें बरतन मल कर साफ करते समय कुंथुवा आदि बहुतसे जीव मसले जाते हैं।" "रातमें आप्तुक वस्तुएं भी न खानी चाहिए क्योंकि मोदक फलादिकों के जीव रातमें दिख नहीं सकते।" "सूर्यके तेजमें ऋग् यजुः साम, इस तरह तीनों वेदोंका तेज है यह वेदज्ञोंका कहना है, और इसी-लिए सूर्यका नाम त्रयीतनु पड़ा है, उसके किरणोंसे सब कुछ पवित्र हो जाता है, और समस्त शुभकर्म्म उसके प्रकाशमें हो, उसके अभावमें शुभकर्म जो भोजन पानादिक हैं वे न करने चाहिए।"

"वैदन कहते हैं कि आहुति, स्नान, श्राद्ध और देवार्चन दान आदि रात्रिमें विधान करने योग्य नहीं हैं। परन्तु रात्रिभोजन तो बिल्कुल त्याज्य है।"

"दिनके आठवें भागमें सूर्यका प्रकाश मन्द हो जाता है, अतः बुद्धिमानोंने उसे भी रात्रि समझा है। और उस समय भी भोजन वर्जनीय है।"

"देवता पहले पहरमें जीम लेते हैं, ऋषि मध्यान्हमें भोजन करते हैं, तीसरे पहरमें पितृलोकोंकी भोजन-निवृत्ति होती है, चौथे पहरमें दैत्य और दानव भोजनसे निबटते हैं। सन्ध्यामें यक्ष राक्षस खाते हैं, अतः हे युधिष्ठिर! सब देवताओंकी वेलाका अतिक्रम होनेसे रात्रि भोजन अभोजन है।"

आयुर्वेदमें रात में खाना पीना मना है—

"सूर्यके अस्त हो जाने पर हृदयकमल और नाभिकमल अतिशय संकुचित हो जाते हैं, अतः रातमें भोजन न करना चाहिए, क्योंकि अनेक सूक्ष्म जीव खाए जाते हैं, और रातमें खाया गया भोजन स्वास्थ्यकर नहीं होता, और भलि भान्ति जाठरीमें आकर उसका पाक-भी नहीं बनता।"

"जो दिनरात के समय खाने पीनेमें ही मस्त रहता है वह बिना सींग पूंछ का पशु समान है। अतः मनुष्यको दिनमें भी नियमित भोजी-भोजन संयमी होना चाहिए।"

दो घडी दिन चढे तक तथा दो घडी दिन रहने पर जो भोजन पान त्याग देता है, वह रात्रिभोजनके दोषोंको जाननेवाला पुण्यका भागी होता है।"

"जिसने दिनमें भोजन करनेका अभ्यास या रिवाज तो डाल लिया है, मगर प्रतिज्ञा नहीं ली है तो क्या उसे निवृत्ति रूप पुण्य नहीं मिलता? इसका उत्तर यह है कि-किसीने रकम तो कर्जमें देदी है मगर व्याज नहीं खोला है, अतः वह वसूल करते समय व्याज लेनेका हकदार नहीं होता क्योकि दुनियादारोंमें बोलीका मूल्य है।"

"जो दिनमें भोजन करना त्याग कर रातमें ही खाना पसंद करता है, वह मानो माणिक्यको छोडकर कांचके टुकडेको पसंद करनेवाला जड बुद्धि है।"

"दिनके होते हुए भी जो कल्याणकी इच्छासे रात्रिमें भोजन करते हैं वे सुन्दर और कमाए हुए 'खेत' को छोड कर मानो खारीली-नमकीन रेहीदार भूमिमें धान्य बोना चाहते हैं।"

"रात्रिमें खानेसे उल्लु-काक-बिलाव-गिद्ध-राक्षस-सांप-बिच्छू-गोह-चमगीदड-बागुल आदि अनेक बुरी योनिएँ पाते हैं।

"जो पुरुष रात्रि-भोजन त्याग देता है वह धन्यवादका पात्र है, क्योंकि वह अपनी आधी आयु उपवासमें बिता रहा है।"

"रात्रि-भोजनके त्यागमें जो जो गुण हैं, उनके विषयमें अधिक क्या कहा जाय उसके सब प्रकारके लाभ सर्वज्ञ ही जानते हैं।"

मिलती है, जिसका स्वभाव धर्मात्मा और सच्चरित्रानुगामी होता है, ये सब सुख दिनमें बलपूर्वक भोजन करनेवाले सत्यवादीको मिलते हैं।"

इत्यादि अनेक शास्त्र संमत होनेसे रात्रिभोजनको अप्राकृतिक और दूषित समझकर छोड देना चाहिए। प्रभु महावीर रात्रिभोजनके स्वयं त्यागी थे, और औरोंको भी त्याग करनेका उपदेश करते थे, तथा सदैव तपश्चरण किया करते थे, अपार नम्रता थी, उनकी वाणी वचनदूषणोंसे शुद्ध थी। उन्होंने संसार और मोक्षका स्वरूप बताया था, सब प्रकारके आस्रवोंसे आप रहित थे, औरोंको भी आस्रवके पापजालसे सदा रोकते थे, क्योंकि जो स्वयं अधर्मी और अनीतिमान् हो वह औरोंको धर्म और नीतिमें क्योंकर स्थापन कर सकता है। जो स्वयं धार्मिक-नैतिक जीवन व्यतीत करनेवाला हो वही औरोंको पाप-कर्मके गढेसे निकाल सकता है। किसीने कहा भी है कि "जो स्वयं तो न्याय की बात कहता हो, परन्तु न्यायके विरुद्ध आचरण करता हो तो वह औरोंपर अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता, क्योंकि 'अदान्त' कभी इन्द्रिय निग्रह नहीं कर सकता।"

और प्रभुने इस लोक और परलोक को जानकर पापोंसे सर्वथा निवृत्ति प्राप्त की थी ॥ २८ ॥

गुजराती अनुवाद–भगवान् महावीर प्रभु स्त्रीसंसर्ग अने स्त्रीनी नजीक रहेवाना पण कट्टर त्यागी हता, तेमणे नववाडविशुद्ध ब्रह्मचर्यनुं पालन करवानुं कह्युं छे, जे स्थान पर स्त्री बेठी होय त्यां ब्रह्मचारी एक कलाक सुधिमा नज बेसे, कारण के तेना अशुद्ध परमाणुओ सुशील पुरुषने हानिकर छे। एज ब्रह्मचारिणी माटे समजी लेवुं।

रात्रिभोजन त्यागी–

ते उपरान्त तेओ रात्रिभोजनना पण प्रत्यक्ष विरोधी हता, कारण के रात्रिभोजनथी त्रस जीवोनी हिंसा थाय छे, तेथी रात्रिमां भोजन करवानी मना करवामां आवी छे, हिंसा त्यागी रात्रिभोजन न ज करे, जे जीव तीव्र राग भाव सहित होय छे, ते तेनो त्याग करी शकतो नथी, कारणके जे जीवने भोजन पर अधिक प्रीति होय छे, ते रात्रे के दिवसे खातो पीतो ज रहेशे, ज्यां राग बन्धन होय छे त्यां प्रमत्तभाव जरूर रहे छे, अने प्रमत्तभावयुक्त प्राणी हिंसा अवश्य करे छे.

घणांओ एम पण कही दे छे के जो भोजन करवामां सदा काळ हिंसा थई जाय छे, तो दिवसे भोजन न करतां रात्रेज खावुं जोइए, कारण के तेम करवाथी सदा काळनी हिंसा थती नथी, परन्तु ते वात ठीक नथी, जो के उदर भरणनी अपेक्षाए सर्व प्रकारना भोजन समान छे, पण शाकाहारी भोजनमां जेटलो साधारण अने सात्विक भाव छे, तेटलो मांस भोजनमां सात्विक-भाव नथी, मांस भोजनमां विशेष रागभाव छे, । घास खानारी गायने घास खाती वखते जेटलो सामान्य रागभाव छे, तेटलो उंदर मारनारी हिंसक बिलाडीमां नथी, बिलाडीने मांस भक्षणमां विशेष राग भाव छे । 'अन्न भोजन' सहजमां उत्पन्न थाय छे अने मळे पण छे, अने मांस भोजन अतिशय कामादिकनी खातर अथवा शरीरादिकना मोहनी खातर विशेष प्रयत्ने करवामां आवे छे, ए रीते दिवसनुं भोजन सर्व मनुष्योने सहजज प्राप्त थाय छे, तेथी तेमां साधारण रागभाव थाय छे, परन्तु रात्रिभोजनमां तो शरीरादिक तथा कामादिकना पोषणनी खातर विशेष राग भाव आवे छे, तेथी पण रात्रिभोजन त्याज्य ज छे ।

दीपकदोष-वळी दीवाना प्रकाशमां झीणा जन्तुओ आंखथी बराबर देखातां नथी, तेमज रात्रे दीवाना प्रकाशथी जुदी जुदी जातना एवां नाना मोटां जन्तुओ फरवा लागे छे, के जे दिवसे क्यारेय पण देखाता नथी, तेथी रात्रिभोजनमां प्रत्यक्ष हिंसा छे, ने रात्रिभोजन करनारा हिंसाथी पण क्यारेय बची शकता नथी, ।

तेथी जे भाग्यशाळी रात्रि भोजननो सर्वथा त्याग करे छे, ते साचो अहिंसक छे, रात्रिभोजनना त्याग वगर अहिंसा व्रतनी सिद्धि नथी थई शकती। तेथी कोई कोई आचार्य तेनो प्रथम अणुव्रतमां समावेश करे छे ।

सागारधर्मामृतमां कह्युं छे के अहिंसाव्रतनो साधक रात्रिभोजननो अवश्य त्याग करे छे, कारण के मूलव्रतनी शुद्धिने माटे तेमज अहिंसा व्रतनी रक्षा खातर रात्रे चार प्रकारनो आहार त्रियोगे करी धर्मी आत्माओ माटे वर्जित छे ।

जुना विचारोना मनुष्योनो ए पण मत छे के रात्रि थतां भूत प्रेत आवीने आहारने अभडावी दे छे, वळी घणा जीवो एवां छे, के रात्रे ते जोवा बहु मुश्केल-

श्रावकनी ११ प्रतिज्ञा (पडिमा) मां छठ्ठी रात्रि भोजन त्यागनी छे। जे अन्न-पान-खादिम-स्वादिमनी वस्तुओनो उपयोग रात्रे करतो नथी, ते सर्व जीवोनी अनुकम्पा करवावाळो साचो गृहस्थ छे.

मुनिओनुं छठ्ठुं व्रत-रात्रिभोजन त्याग छे,

मुनिओ तो रात्रिभोजननो सर्वथा त्याग करे छे, दशवैकालिकसूत्रमां रात्रिभोजनत्यागरूप छठ्ठुं व्रत आ प्रमाणे कह्युं छे, शिष्य गुरुनी समीपे प्रतिज्ञा करे छे-के हे भगवान्! हुं रात्रिभोजननो जीवन पर्यन्त सर्वथा त्याग करुं छुं, हुं जीवन पर्यन्त त्रण करण अने त्रण योगे करी अर्थात् मन-वचन अने काय द्वारा अन्न-पाणी-खाद्य-स्वाद्य (मेवा विगेरे खोराक अने मुखवासादि) एम चारे प्रकारना आहार रात्रे करीश नहि, करावीश नहि, अने करनारने अनुमोदन पण आपीश नहि, पूर्वे जे रात्रि भोजन सम्बन्धी पाप कर्युं होय तेनाथी हुं निवृत्त थाउं छुं, आत्म साक्षीए ते पापने निंदुं छुं, आपनी पासे ते पापने अवगणुं छुं, अने हवेथी ते पापकारी कर्मथी मारा आत्माने सर्वथा अलग करुं छुं, इत्यादि।

अहिंसा महाव्रतनी रक्षाने माटे रात्रिभोजननो त्याग करवामां आवे छे, अने ते पण यावज्जीव सुधी त्याग करेलो छे,

तेने महाव्रत न कहतां व्रत तरीकेज गणाव्युं छे, तेनुं कारण ए छे के महाव्रतोनी पेठे तेनुं पालन बहु कठिन नथी, ते खातर तेने मूल गुणमां न गणतां उत्तर गुणमां गणाव्युं छे,।

वळी महाव्रतोनी पाछळ तेने एटला माटे गणाव्युं के-प्रथम अने अन्तिम तीर्थंकरना समयना मनुष्योनो स्वभाव ऋजु जड वक्र जड अनुक्रमे होय छे, तेनो पाठ सुगम रीते समजाववाने माटे महाव्रत साथे तेने जोडी देवामां आव्युं छे, तेथी ए साबित थाय छे के महाव्रतोनी पेठे आ व्रतनुं पण पालन करवानुं छे।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावनी वेमज मिश्रामिश्र दृष्टिए तेना अनेक प्रकारो छे, जेमके द्रव्यथी असनादि, क्षेत्रथी अढी द्वीपमा, कालथी रात्रे भावथी द्वेष रहित थईने तेनुं पालन करवुं आवश्यक छे.

ते उपशान्त गीता पण प्रकारो छे, जेम के आहारादि रात्रे ग्रहण करवाने रात्रे खावो, रात्रे ग्रहण करवां ने दिवसे खावो, दिवसे ग्रहण करवां ने रात्रे खावो, दिवसे ग्रहण करवां ने दिवसे खावो, आ चार प्रकारमांनां पहला त्रण साधुने माटे अशुद्ध अर्थात् अग्राह्य छे, ने छेवटनो प्रकार शुद्ध अने ग्राह्य छे।

द्रव्य अने भावनी अपेक्षाए पण रात्रिभोजनना चार भांगा थाय छे, जेमके केवळ द्रव्यथी, केवळ भावथी, द्रव्य अने भाव बंनेथी, द्रव्य अने भावथी रहित, । सूर्योदय अथवा सूर्यास्तनो सन्देह पडवा छतां पण भोजन करवामां आवे छे, ते केवळ द्रव्यथी रात्रिभोजन छे, भावथी नहि, । "हुं रात्रे भोजन करीश" एवो विचार थाय, ते केवळ भावथी रात्रिभोजन छे, भले पछी कांइ खाधुं पीधुं न होय, अथवा छतां पण रात्रे भोजन करवुं, ते द्रव्य अने भाव बंनेथी छे, अने रात्रे भोजन न करवुं तेमज इच्छा पण न करवी, ते द्रव्य भाव बंनेथी रहित प्रकार छे।

बौद्ध मतमां रात्रिभोजन वर्जित-

बुद्धना आठ उपदेशोमां रात्रिभोजन वर्ज्य गण्युं छे, जेमके-

(१) कोई प्राणधारीनो प्राण नहि लेवानी हुं प्रतिज्ञा करुं छुं.

(२) अदत्तादान (चोरी) नो त्याग करुं छुं.

(३) सर्व प्रकारना स्त्रीसमागमना त्यागनी प्रतिज्ञा करुं छुं.

(४) सर्व प्रकारना असत्य वचनथी विरमुं छुं.

(५) कोई पण प्रकारना मादक द्रव्य गांजो, भांग, मदिरादिकना न सेवननी प्रतिज्ञा करुं छुं.

(६) असमय-अर्थात् बपोर पछी भोजन करवाथी विरमुं छुं, (बौद्धो बपोर पछी तेमज रात्रे पण कांई खाता नथी.)

(७) नाच-गान-वाद्य आदि अनेक प्रकारना तमाशा जोवाथी किंवा तथा फुलमाळा-गन्ध विलेपन आदि लगाडवाथी तेमज शणगार पहेरवाथी विरमुं छुं।

(८) ऊंचा तेमज मोटा आराम देनारा आसनो तेमज मोटी शय्याओ पर सुवानो त्याग करुं छुं, वगेरे।

आमांना छठ्ठा नियममां रात्रिभोजननो पण त्याग आवी जाय छे । अने अंधारामां आंखोथी कंइ देखातुं नथी ते वखते रात्रे उडनारा जीवडाओनुं भोजनमां पडवानुं संभवित छे, तेथी रात्रे कोण खाय पीए ?

रात्रिभोजनना प्रत्यक्ष दोष–

"भोजनमां कीडी खवाई जाय तो बुद्धिनो नाश थाय छे, जू खवाई जाय तो जलोदर थई जाय छे, माखीथी वमन थई जाय छे, करोळिओ आवी जाय तो कोढ थाय छे । कांटो तेमज लाकडानो टुकडो आवी जाय तो गळामां पीडा करे छे, शाक भाजीमां वींछी आवी जायतो तेना डंखथी बहु पीडा थाय छे, गळामां वाळ अटकी जाय तो स्वर भंग थई जाय छे, रात्रि भोजनथी आवा अनेक प्रत्यक्ष दोषो थाय छे," । "रात्रे वासणो साफ करती वखते कुंथुवा आदि घणा जीवडाओनो नाश थई जाय छे ।" "रात्रे प्रासुक वस्तुओ पण न खावी जोइए, कारणके मोदक, फळादिना जीवो रात्रे देखी शकाता नथी ।" वेदमां "वेदज्ञो कहे छे के–सूर्यना तेजमां ऋग्–यजुः तथा साम एम त्रणे प्रकारना वेदोनुं तेज [redacted] । अने तेथी सूर्यनुं नाम त्रयीतनु पड्युं छे, तेना किरणो थी वस्तु पवित्र बनी जाय छे, एटले समस्त शुभ कर्म तेना प्रकाशमां करवां जोइए, तेना अभावमां नहि, ।" "वेदज्ञ कहे छे के आहुति–स्नान–श्राद्ध–देवार्चन दानादि रात्रिमां करवा योग्य नथी, रात्रिभोजन तो बिल्कुल त्याज्य छे," "दिवसना आठमां भागमां सूर्यनो प्रकाश मन्द थई जाय छे, तेथी बुद्धिमानो तेने पण रात्रि गणे छे, अने ते समये पण भोजन वर्ज्य छे ।" "देवता पहले पहरे जमी ले छे ऋषि मध्यान्ह समये जमे छे, त्रीजा प्रहरे पितृलोको भोजन पानथी निवर्ते छे, चौथा प्रहरमां दैत्य दानव जमी ल्ये छे, संध्यामां यक्षराक्षस खाय छे, हे युधिष्ठिर ! सर्वदेवताओनो समय अतिक्रमी खवाथी रात्रिभोजन अभोजन छे, ।

आयुर्वेदमां रात्रे खावा पीवानी मनाई छे–

"सूर्यास्त थतां हृदय कमल तेमज नाभि कमल अतिशय संकोचाई जाय छे, तेथी रात्रे भोजन न करवुं जोइए, अने रात्रिमां सूक्ष्म जीव खवाइ जाय छे रात्रे खाधेलुं भोजन तन्दुरुस्तीने नुकसान करे छे, तेमज तेनुं पाचन बराबर थई शकतुं नथी ।" "जे दिवसे ने रात्रे असमये खावा पीवामां मस्त रहे छे, ते शींग–पूछ वगरना पशु समान छे, तेथी मनुष्योए दिवसे

रात्रि भोजन करीले छे तेओ भूतप्रेतनी संगतिने छोडी शकता नथी।" "जेमणे यम नियम संयमनी क्रियाओनो त्याग करी दीधो छे अने रात दिवस खावा पीवामांज मस्त रहे छे, तेमने बुद्धिमानो शींगडा के पूछ वगरना जनावर तेमज खरी वगरना पशुओनी उपमा अपे छे।" "संस्कारी विद्वानो सुख मेळववा माटे दिवसे भोजन करे छे, रात्रे सुई जाय छे, ज्ञानी पुरुष समय विचारी खोले छे, तेमज आत्मानी शान्ति माटे गुरुजननी सत्संगति-सत्शास्त्र श्रवण-मनन-निदिध्यासन विगेरे समाचरीने सेवा चाकरी करे छे।" "गुणवान् तेमज उत्तम पुरुष हमेशां दिवसमां एकज वार भोजन करे छे, मध्यम पुरुष थोडा दिवसमां बे वखत आहार करे छे, अने जे दिवस अने रात हमेशां भोजन कर्या करे छे ते नराधम छे।" "जे पुरुष दिवसनी पहेली तेमज छेल्ली घडी छोडी बचेला दिवसना भागमां भोजन करे छे ते इन्द्रियोना घोडाने जीती संसार ना भारथी हलको थई जाय छे।" "जे पुरुष पोतानी पासे दीवो राखीने रात्रे भोजन करे छे, ते पुरुष कुदरती रीते नीचाण तरफ वहेनारी नदी ना नीरने जाणे वृक्षना शिखर सुधी पहोंचाडवा चाहतो होयनी? (अर्थात् नदीनुं पाणी वहेतुं वहेतुं कदी पण वृक्षना शिखरे पहोंची शकतुं नथी तेम तेवा पुरुषनो आत्मा अधोगति सिवाय उच्चगतिने प्राप्त करी शकतो नथी)"। जे रात्रि भोजनने सुखदायक जीवन माने छे, ते आगथी बळेल वनने फळदायक माने छे, परन्तु तेम बनवु असंभवित छे।" "जे दिवस तेमज रात्रिना भोजनने समान गणे छे, तेओ सुख तेमज दुःखना देनार प्रकाश तेमज अन्धकारने समान गणे छे।" "जेओ रात्रिभोजनमांज धर्म माने छे तेओ खरेखर वृक्षोनी हारमाळा वधारवा माटे वज्र तेमज आग फेंकी रह्या छे, (वृक्षोनी हारमाळा वधारवा माटे जळ सिंचननी जरुर छे तेने बदले वज्र प्रहार या अग्नि कोई फेंके ते वृक्ष वधवाने बदले जेम नाश पामे छे, तेमज रात्रि भोजनथी धर्म वधवाने बदले नाश पामे)" "जेओ पुण्यनी अभिलाषाथी आखो दिवस भूख्या रहे छे, अने रात्रे खावामांज मच्या रहे छे तेओ फळेला वृक्षोने तेमज लताओने कापी नाखी फरीथी फळवानी वांछना करे छे एम समजवुं। जे मनुष्यो बे घडी दिवस चड्या सुधी नवकारसी तप करे छे, अने बे घडी दिवस बाकी होय त्यारे चौविहार करे छे तेओ मासमां

ते उपवासनुं फळ प्राप्त करे छे, एम समजवुं । "रात्रिभोजन करनारने नीचे लख्या मुजब सामग्री प्राप्त थाय छे, रोग शोक अने कलह करनारी, राक्षसी माफक भय उपजावे तेवी स्त्री मळे छे, तेमज महापापथी पेदा थयेल अन्तराय दुःख देनारी कन्या प्राप्त थाय छे, व्यसनी तेमज काळा सापनी माफक विह्वलता पुत्र थाय छे, घरमां दरिद्रता तो सदा रहवास करे छे ।" नीच जातिमां जन्म धरी नीच कर्मो करवां पडे छे, शील-निर्लोभपणुं-समभाव-आदि गुणो नो अभाव रहे छे, बीजानुं अनिष्ट करनार दुर्जननी माफक ते केटलीए जातनी व्याधिथी घेराएलो रहे छे, सर्व दोषोना समूहथी वीटायेलो आप्रमाणे अनेक दोषोनी उत्पत्ति थई जाय छे ।

रात्रि भोजननो त्याग करनारने नीचे मुजब फळनी प्राप्ति थाय छे; कमळपत्रसमान आंखोवाळी, प्रियवचन बोलनारी, लक्ष्मीसमान सुन्दर स्त्री प्राप्त थाय, तेमज विद्या कलामां निपुण पुण्यनी पंक्ति माफक सुन्दर शरीर अने निर्मळ चरित्रवाळी तेने कन्या प्राप्त थाय छे ।" थोडं पण जातना व्यसनथी रहित तेमज चन्द्रमाना जेवा पवित्र कर्म वाळा पुत्र मळे छे, इन्द्रना भवननी माफक उज्ज्वलवाळुं मणिरत्नोथी भरपूर सुशोभित मकान प्राप्त थाय छे, । स्थायी वैभव प्राप्त थाय छे, मनोवांछित फळ मळे छे, नीरोगी सुन्दर शरीरनी प्राप्ति थाय छे, ए प्रकारे सर्वे रीतथी सुख प्राप्त थाय छे ।" "ते उपरान्त ज्ञान-दर्शन-चारित्रनी पण सम्पत्तिने पामे छे, आखा विश्वनो पूजनीय पति बने छे, रात्रिभोजनथी दूर रहेनार तेमज त्यागीओने आ समृद्धि प्राप्त थाय छे ।" अने-"रात्रे आहार करवाथी भूंडणी-बीलडी-वांदरी-माछली-गळामां रसोळी(गिल्लड)वाळी-रोगिणी-कुत्तरी-चोर-क्लेशवाळा तेम ज घोर सापणवाळा पुत्र जणनारी विधवा धनहीना एवी एवी अनेक कष्टकर योनि प्राप्त थाय छे ।" "तेओ (रात्रि भोजननो त्याग करनार) बन्धुगणमां पूजनीय बनाय छे, पुत्रो तेमनी सेवा करे छे, लज्जा अने संयमरूपी आभूषणथी युक्त रहे छे, शरीरे नीरोगी होय छे, लक्ष्मी जेवी अने बुद्धिवती तथा वरनाळ स्त्री मळे छे, तेमनो स्वभाव पण धर्मात्मा माफक होय छे, दिवसे भोजन करनारने आवा सुखनी प्राप्ति थाय छे ।"

आवा अनेक शास्त्रोना प्रमाण सांभळीने रात्रिभोजननो त्याग करवो जोइए। प्रभुए पण रात्रिभोजननो त्याग कर्यो हतो। तपश्चरण नम्रता अने विनय साचवता हता, तेमां नम्रता तो अपार हती, तेमनी वाणी अनन्त नय युक्त, तेमज शुद्ध हती, ते वाणी थी संसार अने मोक्षनुं स्वरूप समजाव्युं हतुं, तथा आस्रवोथी पण रहित हता, बीजाओने पण आस्रव अने पापथी रोकता, केमके जे पोते अधर्मी अने अनीति वाळो होय तो ते बीजाओने धर्म अने नीतिमा केम स्थापन करी शके, अने जो पोते धार्मिक अने नैतिक जीवन व्यतीत करनार होय तेज बीजाने पापरुप के आस्रवरूप खाडाथी बहार काढी शके छे, कारण के कोइए कह्युं पण छे के जे स्वयं तो न्यायनी वात करतो होय अने न्यायथी विरुद्ध आचरण करतो होय तो ते बीजाओ उपर पोतानी कांई पण छाप पाडी शकतो नथी, जे पोते अन्दान्त होय ते क्यारे इन्द्रिय निग्रह करी शके? परन्तु प्रभुतो पोते दान्त हता, उपधानवान् हता, तप वडे शरीर शुद्ध हतुं, प्रभु आ लोक तेमज परलोकनुं ज्ञान मेळवी पापमय प्रवृत्तियो सदाने माटे दूर रह्या हता।

मूल—

सोचाय धम्मं अरिहंतभासियं,
समाहियं अट्ठपदोविसुद्धं।
तं सद्दहाणाय जिणा अणाऊ,
इंदा व देवाहिवा आगमिस्संति; त्ति बेमि॥२९॥

संस्कृतच्छाया—

श्रुत्वा च धर्ममर्हद्भाषितं, समाहितमर्थपदोपशुद्धम्।
तं श्रद्दधाना जना अनायुष, इन्द्रा वा देवाधिपा आगमिष्यन्ति॥२९॥
(इति ब्रवीमि)

सं० टीका—अधुना श्रीसुधर्मस्वामी तीर्थंकरगुणान् प्रख्याय जम्बूस्वामिनमाह, श्रुत्वा च, दुर्गतिधारणाद्धर्म्म, श्रुतचारित्ररूपमर्हद्भाषितमर्हत्कथितं, सम्यगाख्यानं=सुष्ठुप्रणिगदितं, चार्थपदैः, अर्थैः प्रयोजनैः कारणैरभिधेयैर्वा "अर्थो विषयार्थनयोर्धनकारणवस्तुषु, अभिधेये च शब्दानां निवृत्तौ च प्रयोजन इतिमेदिनी।" अथवा, "अत्थो पयोजने सद्दाभिधेय्ये बुद्धियं धने, इत्यभिधानप्पदीपिका।" पदैर्वाचकैः शब्दैः, "पदं शब्दे च वाक्ये च व्यवसायप्रदर्शयोरिति। मेदिनी।" निर्वाणैर्वा, "अप्पवग्गो-विरागो च पणीतं अच्चुतं पदं इत्यभिधानप्पदीपिका।" अथवा निमित्तैः, "निमित्तं कारणं ठाणं पदं, इत्यभिधानप्पदीपिका।" वा परित्राणैः संसारादपकर्मणो वा, "पदं ठाने परित्ताणे निब्बाणम्हि च कारण इत्यभिधानप्पदीपिका।" सैर्य्यैर्श्चिन्हैः स्थानैरुत्तमैः वाणैर्वाणसदृशैः शब्दैः सुप्तिङन्तरूपैः प्रदेशैः श्लोकपादैर्वाः "पदो चरण च वा इत्यभिधानप्पदीपिका।" उपशुद्धं चोपसामीप्येन शुद्धं सितं वा पूतं निर्म्मलं, "सुद्धो केवलपूतेसु" "सुचि शुद्ध सिते पूते इत्यभिधानप्पदीपिका।" वा प्रयोजनैरान्तराशयैर्वित्तिभिर्वा हेतुभिरभिलापैः शुद्धं दोषराहित्यमित्यर्थः। धर्म्मं श्रद्दधाना जनास्तथाऽनुतिष्ठन्तो नरा अनायुषोऽपगतायुकर्मता युक्ता इति शेषाः कर्मरहिताः सन्तः सिद्धा मोक्षगता भवेयुरिति भावः। सायुषश्चेन्द्रा अहमिन्द्रा देवाधिपा आगमिष्यन्ति–तं पदं प्राप्स्यंतीति भावः। इति शब्दो ब्रवीमीति ॥ २९ ॥

नाना निबन्धेभ्यःसारमुद्धृत्य श्रीमत्सूत्रकृताङ्गसूत्रगतवीरस्तुति–नामापष्ठाध्यायस्यातिविस्तृतगम्भीरदुरूहतत्वपदार्थभक्तिभावावलेसावति-

सरलतया सुबोधसिपाधयिषया ज्ञातपुत्रमहावीरजैनसङ्घीया नाम्नी संस्कृतटीका-हैन्दवीटीका-गुर्जरभाषाटीका यथाशक्ति-मतिरचिताऽत्र प्रमादादिनाऽथवाऽल्पधिया च भाविनीं मदीयां स्खलनां संशोधयन्तस्तत्त्वपदार्थनयनिक्षेपसम्बन्धिभावं प्रदर्शयन्तो धीरा मां चेदनुग्रहणीयुस्तर्हि बहुलजनोपकारोद्योगसन्तुष्टेन श्रीज्ञातृपुत्र-महावीरप्रभुशासनसङ्घेनानुगृहतोऽहमिति सम्भावयेयमिति प्रार्थयते श्रीज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घानुयायिनां लघुतमः पुप्फभिक्खुः ॥ इति श्रीज्ञातृपुत्रमहावीरजैनसङ्घान्तर्गतमुनिफकीरचन्द्रशिष्येण पुप्फभिक्खुणा विरचिता वीरस्तुत्याः संस्कृत-भाषाटीका च समाप्तेति शम् ॥

अन्वयार्थ—[समाहितं] सम्यक् प्रकारसे कहे हुए [य] और [अट्ठपदोवसुद्धं] अर्थ और पदोंसे निर्दोष [अरिहंतभासियं] अर्हन् प्रभुद्वारा उपदिष्ट [तं] उस [धम्मं] धर्मको [सोच्चा] सुनकर [सद्दहाणा] श्रद्धा प्रतीति करनेवाले [जणा] मनुष्य [देवाहिव] देवोंके स्वामी [इंदा] इन्द्र [व] और [अणाऊ] आयुरहित सिद्ध परमात्माके पदको [आगमिस्सति] प्राप्त होंगे ॥२८॥

भावार्थ—श्रीसुधर्माचार्य अपने अन्तेवासी शिष्यके प्रश्नोंका इसप्रकार उत्तर देते हुए यों उपसहार करते हैं कि अर्हन् भगवान् द्वारा कहे गए धर्मका जो पूर्ण श्रद्धान करते हैं वे या तो आयुरहित और कर्म रहित होकर मुक्तिको प्राप्त करते हैं या इन्द्रादि पदको पाते हैं या पाएँगे ॥ २८ ॥

भाषाटीका—सुधर्माचार्य श्रीतीर्थंकर प्रभुके गुणोंका वर्णन करते हुए अपने जम्बूनामक अन्तेवासी शिष्यसे कहते हैं कि–जो भव्य दुर्गतिमें पड़नेसे बचानेवाले ज्ञान और चारित्ररूप धर्मको अर्हन् भगवान्से भाव पूर्ण तथा परिणामयुक्त अभिप्रायको सुनकर निर्धारण करते हैं, वे आयुष्यादि सब कर्म बन्धनोंसे मुक्त होकर या तो *अपुनरावृत्ति-निर्वाणधाम (मोक्ष)* को प्राप्त होते हैं या आयुवाले स्थानमें अनुकूल सुख भोगनेवाले 'अहमिन्द्र' होते हैं, अथवा

असंख्य सुरासुरोंका आधिपत्य भोगनेके लिए इन्द्रपदको प्राप्त करते हैं, यह मैंने अर्हत् भगवान्से जैसा सुना है, वैसा तुझे कहकर सुनाया है*।

---

* इस गाथामें 'अरहंत' यह प्राकृत भाषाका शब्द है जिसका संस्कृत अनुवाद 'अर्हत्' होता है, कोई २ 'अरहोन्तर' 'अरथान्त' पद भी बताते हैं। यहां इन सबके अर्थोंपर यदि विचार किया जाय तो आशय वही निकलता है जो अर्थ 'अर्हत्' शब्दका होता है।

(१) 'अर्ह' धातुका अर्थ पूज्य या योग्य अर्थ होता है, इस अर्थके अनुसार अतिशय वन्दनीय-सेवनीय-स्मरणीय होनेके कारण वे 'अर्हत्' (अरहंत) कहलाते हैं। क्योंकि इनके पांचों कल्याणकोंमें अनेक देवों और ६४ इन्द्रोंद्वारा अनेक विलक्षण सेवा सम्बन्धी घटनाएं होती हैं, और ये मनुष्योंकी अपेक्षा अतिशययुक्त महापुरुष होते हैं, और अतिशायक होनेके कारण उनका यह 'अरहंत' नाम सार्थक तथा यथार्थ है। जैसा कि 'धवल' ग्रन्थमें भी कहा है कि—

अतिशयभावपूजार्हत्वादर्हन्तः, स्वर्गावतरणजन्माभिषेकपरिनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्तपूजाभ्योऽधिकत्वादतिशयादर्हत्वाद्योग्यत्वादर्हन्तः ।

(धवलसिद्धान्त)

अरिहंति वंदणनमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं,
अरिहंति सिद्धिगमणं 'अरहंता' तेण उच्चंति ।

(मूलाचार)

भावार्थ—जो भाव पूजाके योग्य तथा अनुकरणीय महाआदर्शपुरुष हों उनको 'अर्हन्' कहते हैं। जिनके जीवनमें अनेक दिव्य घटनाएं विलक्षण रूपसे परिघटित होती हैं, जैसेकि— स्वर्गसे अवतरण, जन्मोत्सव, परिनिष्क्रमण (दीक्षा ग्रहण), केवलज्ञानकी उत्पत्ति, मोक्षारोहण आदि घटनाओंके होते समय देव-असुर मानव इत्यादिके द्वारा महान् उत्सवका मनाना, या मनुष्योंके उनका अनुकरण करते हुए उनके समान आप्तज्ञ एवं सर्वज्ञ होना, इत्यादि महानताके योग्य होनेसे वे 'अर्हन्' कहलाते हैं।

जो वन्दना और नमस्कारके योग्य हैं, पूजा और सत्कारके योग्य हैं, सिद्धि (मोक्ष) गमनके योग्य हैं, अत एव वे 'अरहंत' कहे जाते हैं।

(२) 'रहस्' का अर्थ एकान्त होता है, यानी समस्त पदार्थोंको-निकटवर्ती-दूरवर्ती-सूक्ष्म तथा स्थूल पदार्थोंके अनन्त समूहको प्रत्यक्षमें हथेलीपर रक्खे हुए आमलेकी तरह जो स्पष्ट जानते और देखते हैं। अर्थात् जिसे गुप्त या प्रगट एकान्त कुछ भी अप्रगट नहीं है। इसलिए 'अरहोऽन्तर' नाम यथार्थ है। जैसे कहा भी है कि-

"न विद्यते रह एकान्तो गोप्यमस्य, सकलसन्निहितव्यवहितस्थूलसूक्ष्मपदार्थसार्थसाक्षात्कारित्वादित्यरहोऽन्तरः।" (स्थानाङ्गसूत्रम्)

भावार्थ—जिसके लिए एकान्त-गोपनीय पदार्थ कुछ भी न हो, संसारभरके छोटे बडे सब पदार्थोंका जो साक्षात्कार करनेवाला हो वह 'अरहोऽन्तर' कहलाता है।

"अथवा 'अविद्यमानं' रह एकान्तरूपो देशोऽन्तश्च मध्यं गिरिगुहादीनां सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतप्रच्छन्नत्वस्याभावेन येषां तेऽरहोन्तरः" (भगवतीसूत्र)

भावार्थ—जिसे सर्वज्ञताके कारण सर्ववस्तु समूह गत सर्व प्रकारके पदार्थोंका एक बहुत बडा समूहगत प्रच्छन्नताका अभाव हो, इस प्रकारका रहः (एकान्तरूप प्रदेश) नहीं है, अर्थात् उनके अनन्तज्ञानके सन्मुख कोई ऐसा प्रदेश और वस्तु समूह नहीं है, जिसके वे ज्ञाता और द्रष्टा न हों, वे तो अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शनके द्वारा संसारके पूर्ण रहस्य को जानते हैं, इसीसे पहाडोंकी गुफा आदिका अन्तर (मध्यभाग) तकका सम्यक् ज्ञान अपने सर्वज्ञत्व द्वारा जान लेते हैं, बारीकसे बारीक तथा एकान्त और मध्यप्रदेशके जाननेवाले हैं, अतः 'अरहोऽन्तर' नाम सार्थक ही है।

(३) 'अरथान्त' ऐसी संस्कृतच्छायाके अनुसार यह अर्थ निकलता है कि-जिसके पास समस्त परिग्रहका अभाव है, और बुढापा आदि उपलक्षणवाला अन्त-विनाश नहीं है वह 'अरथान्त' है और वे वीतराग सर्वज्ञ देव होते हैं। जैसे-

"अविद्यमानो रथः स्यन्दनः सकलपरिग्रहोपलक्षणभूतः, अन्तश्च विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो येषां ते 'अरथान्ताः'

(भगवतीसूत्र)

भावार्थ—जिनका आत्मारूपी 'रथ' अप्रतिहत शक्तिवाला होनेसे कहीं रुक नहीं सकता, अर्थात् तीनलोक और अलोकको भी जानता है, अतः उनकी 'अरथान्त' संज्ञा इसी कारण सार्थक मानी गई है।

(४) "अरहन्त" शब्दका यह अर्थभी निकलता है कि—"रागद्वेषके कारणभूत-त्रिलोकवर्ती अनन्त पदार्थोंके ज्ञाता-द्रष्टा होनेपर भी जो किसी पदार्थमें आसक्ति नहीं रखता, वीतराग स्वभाववाला है, उसे 'अरहन्त' कहलाते हैं। जैसे—

"क्वचिदप्यासक्तिमगच्छत्सु वीतरागत्वात् प्रकृष्टरागादिहेतुभूतमनोज्ञेतरविषयसम्पर्केऽपि वीतरागत्वादिकं स्व-स्वभावमत्यजन्तोऽर्हन्तः।"

(भगवतीसूत्रम्)

इसके अतिरिक्त "अरिहंत" पाठ भी प्रचलित है जिसके अनुसार यह अर्थ होता है कि अरि-कर्मशत्रुका नाश करनेसे अरिहंत कहे जाते हैं, जैसा कहा है कि—

"अरिहननादरिहन्तृ (ता:) नरकतिर्यग्मानुष्यप्रेतावासगताशेषदुःख-प्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहस्तस्यारेर्हननादरिहन्तः।"

(धवलसिद्धान्त)

"मोहरज-अंतराय-हणण गुणादो य णाम अरिहंतो"

(मूलाचार)

"मोह रज और अन्तराय कर्मका हनन करनेसे 'अरिहंत' नाम सार्थक है।"

राग दोस कसाये य, इंदियाणि य पंच य ।
परिसहे उवसग्गे, णासयंतो णमोरिहा ॥

(मूलाचार)

भावार्थ—राग-द्वेष और चारों कषाय तथा पांच इन्द्रियोंके २३ विषयोंका और २२ परिषह एवं उपसर्गके विनाश करनेसे भी 'अरिहंत' कहे जाते हैं।

राग दोस कसाए य, इंदियाणि य पंच वि परिसहे ।
उवसग्गे नासयंता, नमोरिहा तेण वुच्चति ॥ ९१८ ॥

(विशेषावश्यक भाष्य)

इंदिय-विसय-कसाए-परिसहे वेयणा-उवसग्गे ।
ए ए अरिणो हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ ९१९ ॥
अट्ठविहंपि य कम्मं, अरिभूयं होइ सव्व जीवाणं ।
तं कम्ममरिं हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ ९२० ॥

(आवश्यकभाष्य)

"रज या आवरणका नाश करनेसे भी 'अरिहंत' कहलाते हैं। क्योंकि ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म रजके समान बाह्य और अन्तरंग त्रिकालके समस्त विषयभूत अनन्त अर्थ-पर्याय और व्यंजन-पर्याययुक्त वस्तुओंके विषय करनेवाले ज्ञान और दर्शनका आवृत करनेसे 'रज' कहते हैं, इसी प्रकार मोह भी रज है, क्योंकि जैसे धूलसे भरे हुए मुखवाले लोगोंमें कार्यकी मन्दता देखी जाती है, उसी प्रकार मोहसे जिनका आत्मा व्याप्त है, उनमें भी आत्मोपलब्धि मंदता या कुटिलता पाई जाती है। इस लिए रजरूप ज्ञानावरणादि कर्मोंके अभावसे 'अरिहंत' कहलाते हैं। यथा—

"रजो हननाद्वा अरिहन्तः, ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव बहिरंगान्तरङ्गाशेषत्रिकालगोचरानन्तार्थव्यञ्जनपरिणामात्मकवस्तुविषयबोधानु-

भवप्रतिबन्धकत्वाद्रजांसि, पुनर्मोहोऽपि रजः । भस्मरजसाऽऽपूरिताननानामिव भूयो मोहावरुद्धात्मनां जह्मभावोपलंभत्वात् ।

(धवलसिद्धान्त)

अथवा 'रहस्य' अन्तराय कर्मका नाम भी है, जिसके क्षय करनेसे भी 'अरिहंत' कहे जाते हैं, अन्तराय कर्मका नाश तीन घातिया कर्मोके नाशके साथही नियमसे होता है । अतः अविनाभावी सम्बन्धसे यह अर्थ निकलता है कि–जिसने चारों घातिया कर्मोंका नाश करके अघातिया कर्मोंको भी निश्शक्त बनादिया हो वे 'अरिहंत' कहलाते हैं । यथा–

"रहस्यमन्तरायस्तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो हि भग्न-बीजवन्निःशक्तीकृताघातिकर्म्मणो-हननादरिहन्तः ।"

(धवलसिद्धान्त)

(५) एक पाठ 'अरुहंत' भी बनता है, क्योंकि 'रुह' धातुका अर्थ 'अंकुर उगना' है, अर्थात् जिसका भवरूप अंकुर नष्ट होगया है वे 'अरुहंत' कहलाते हैं, यानी कर्मरूपी बीजके जल जाने पर पुनः संसाररूप अंकुरकी उत्पत्ति नहीं होती । क्योंकि–

"न रोहति भूयः संसारे न समुत्पद्यत इत्यरुहः, संसारकारणानां कर्म्मणां निर्मूलकत्वात् ।"

भगवती-प्रवचनसारोद्धार—

तथा च प्रज्ञापनासूत्रस्य कारिकायामप्येवं, पुनः "दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः ॥" इति भाषाटीका समाप्ता ॥

गुजराती अनुवाद—सुधर्मास्वामी श्रीतीर्थंकर प्रभुना गुणोना वर्णन करतां पोताना जम्बूनामा (समीपमां रहेनार) शिष्यने कही रह्या छे के जे भव्य प्राणी आत्माने दुर्गतिमां पडतां बचावनारा ज्ञान अने चारित्ररूप धर्मनुं, 'अर्हन्' भगवान् पासेथी सम्पूर्ण रीतथी परिज्ञान युक्त अविकार श्रद्धा अने

भक्तिपूर्वक चरित्रवान् थईने श्रवण करे छे, अने त्यार पछी तेनुं मनन करी निदिध्यासन करे छे, ते आयुष्यादि सर्व कर्म बंधनोथी मुक्त थई अपुनरावृत्ति याने निर्वाण पद प्राप्त करे छे, अथवा दीर्घायुष्य वाळा स्थानमा अनुकूल सुख भोगवनार 'अहमिन्द्र' बने छे, अथवा देव दानवोना अधिपति एवा इन्द्रपदने पामे छे, आ में 'अर्हन्' भगवान् ज्ञातपुत्र-महावीर प्रभु पासेथी जेवी रीते सांभळ्युं छे तेज प्रमाणे तने कही संभळावुं छुं*।

---

* 'अरहंत' आ प्राकृत भाषानुं शब्द छे, जेनी संस्कृतच्छाया 'अर्हन्' थाय छे, कोई कोई एना अरहोन्तर-अरथान्त-अरहन्त-वाचक शब्दो थाय छे, एम तेओनुं मन्तव्य छे, अहीं आ चारे अर्थ ऊपर आ प्रमाणे विचार करी शकाय।

(१) 'अर्ह' धातुनो अर्थ भाव पूजा एवो थाय छे, ते अर्थ अनुसार अतिशय वन्दनीय, सेवनीय होवाथी 'अर्हन्' (अरहंत) कहेवाय छे, केमके तेमना पाचे कल्याणकोमा देवो तेमज चोसठ इन्द्रो द्वारा अनेक जातनी सेवा सम्बन्धी केटलीए विलक्षण घटनाओ बनी छे, तेमज तेमनो आत्मा मनुष्योनी अपेक्षाथी पर छे, जेथी तेमनामा विशेषपणुं होवाथी 'अरहंत' नाम यथार्थ छे, 'धवल' ग्रंथमां पण कह्युं छे के—

"जे वंदन तेमज नमस्कारने योग्य छे, सेवा अने सत्कारने योग्य छे, सिद्धि गमनने माटे उपयुक्त छे, माटे 'अरहत' कहेवाय छे।"

(२) "रहस्नो अर्थ एकान्त थाय छे, एटले जे समस्त पदार्थोने निकटना चाहे दूरना, स्थूल चाहे सूक्ष्म पदार्थोना समूहने हथेळी पर राखेल आमळानी माफक देखी रह्या छे, जेमने माटे गुप्त के एकान्त एवी कोई वस्तु या स्थान नथी।"

(३) "अरथान्त—" ए संस्कृतच्छाया-अनुसार एवो अर्थ नीकळे छे के रथ=अर्थात् बहिर तेमज अन्तर दृष्टिए समस्त परिग्रहनो जेनी पासे अभाव छे एवा वीतराग सर्वज्ञ देवने 'अरथान्त' कहे छे।" "अथवा जेनो आत्मा रूपी रथ अप्रतिहत शक्तिवालो होवाथी क्यांय पण रोकाई शकतो नथी, अर्थात् त्रणे लोक तेमज अलोक सुधी पण पहोंची वळे छे, याने जाणी शके छे, जेथी 'अरथान्त' आ नाम पण सार्थक मानेलुं छे।"

प्रशस्तिः ।

महावीरो देवो विदितभवकीर्तिर्जिनवरः, सदा भव्याऽऽधारो निजशरणगैर्वन्द्यचरणः । मुदाऽन्त्यो यस्तीर्थंकर इति पदाढ्योऽस्ति नितरां,वचस्तत्वे तस्य प्रतिदिवसमेवार्पितमनाः ॥ १ ॥ फकीरेन्दुर्भिक्षुर्गुरुरिति तमःस्तोमतरणिः, सुपुष्पस्तच्छिष्यो विनययुतभिक्षुर्विधिरभूत् । [१९५२] द्विपञ्चाङ्केन्द्वब्दे जननमभवद्यस्य कुतले, गृहीता सद्दीक्षा भवभयहराऽसिंश्च व्रतितः ॥ २ ॥ [१९६८] रसाष्टाङ्केन्द्वब्दे सकलमुनिवृन्देऽतिविशदा, स चेदानीं नाम्ना कुसुममुनिदासो शिवरुचिः । 'हिमागारे देशे' गिरिषु बहुशीतेषु विहरन्, गतो यो यत्रास्ते विविधतरुवृन्दोऽस्ति विमलः ॥ ३ ॥ प्रसिद्धे राज्ये च जिनमतधराढ्येन सहिते, समेतो 'नाबोने' गुरुभिरतिपूते निवसता । कृतं चातुर्मास्यं कलिकलुषतापौघशमनं, समाचीर्णं यत्राऽखिलजिनपथाऽऽराधनपरम् ॥ ४ ॥ 'सुमित्र'-स्यादौ हि हितकरसुदीक्षाऽपि नितरां, सदैवं पुष्पेन्दुर्विचरति सुमित्रेण सहितः । जिनाज्ञासंसक्तः परहितकरः साधुनिरतः॥ स एवाऽयं भिक्षुः *सकलदलदोषेन रहितः ॥ ५ ॥ हिमाच्छादिते सुभदेशे च भ्राम्यन्, शिमाला (शिमला) †कुलुक्कादिदेशान्तरस्थः । [१९९२] दृगाङ्कानवचन्द्रकाब्दे प्रकाशः । मुहुर्दृष्टवान् भूरिशोभां नगस्थाम् ॥ ६ ॥ सहस्रक्रोशान्तं पदगमनशीलो मुनिवरः, सुपुष्पेन्दुर्भिक्षुः प्रथमगमनं यत्र कृतवान् । सुमित्रेण स्वेन गुरुचरणभृङ्गेन सहितः, सुशिष्येणागम्यं नगरमभिगम्य प्रविततम् ॥ [illegible] ॥ 'कराची' सुस्थानं निखिलपशुरक्षां च विदधन्, दयागारं कृत्वा सकलजनश्राद्धैः सह मुदा । निहालेन्दुर्यत्राधिपतिरपि

---

* सम्प्रदाय-पक्षवादादिना रहितः । † कुलु इति भाषायाम्—

जातोऽत्र विषये, भुवि स्याते सिन्धोर्विषमविषये कोऽपि न मुनिः ॥ ८ ॥ जिनाज्ञासक्तानामपि च न गतः कोऽपि *सुमुनिः, सहस्राब्देनापि विहरणमभूद्यत्र न यतेः । मुनेः पुष्पेन्दोश्च गमनमभवद्यत्र प्रथमं, ततः पूर्वेनीत्वा दिशमपि सुडोल्यां च गुरुणा ॥ ९ ॥
विहारप्रदेशेऽपि गत्वा च पूर्वं, कृत्वा धर्मशिक्षा विशेषेण तत्र ।
अयं चातिरम्यो विहारप्रदेशो, महावीरदेवस्य जन्मास्ति यत्र ॥ १० ॥
अयं शुभदेशोऽधुना शासयुक्तः, सदा राक्षसप्रायजातश्च यस्मात् ।
महाकालिकामंदिरे यत्र हिंसा, सदा जायते प्राणिनां कोटिशश्च ॥११॥
शराकांकचन्द्रे[१९९५] मिते वत्सरेऽस्मिन्महावीरतीर्थंकरस्य जयन्त्याम् ।
नदीदीर्घदामोदराख्या तटे च, समागत्य पुष्पेन्दुसंज्ञो हि भिक्षुः ॥१२॥

अहिंसोपदेशं †चलकारिग्रामे, प्रदत्वा पशूनां त्रयं मूपमुक्तम्, वधस्थानमुत्साद्य यः क्षिप्तवांश्च, सदा या प्रचारः प्रशस्योऽस्ति यस्य तदैवं बहून्यन्यकार्यं विधाय, प्रदेशं भ्रमस्तततो याति नूत्नम् ॥१३॥ पश्चात्र प्रथमं सुरेतरमये देशे शुभे वत्सरे, वन्ह्यंकांकविधौ[१९९३] मिते च झरियाग्रामे कृतं भिक्षुणा । चातुरमास्यकृत्वं ततश्च प्रथमं 'बंगे' गुरोः सेवकः, वेदांकांकविधौ[१९९४] समे च गुरुणा साकं गतः पुष्पकः ॥ १४ ॥ सर्वानन्दमये शुभे च नगरे 'कालीयकत्ता'ऽभिधे, यत्राष्टादशशतस्य फाश्च शतका जैना मताः श्रावकाः । चातुरमास्यकृत्वं महच्च सुखतो श्राद्धा मुनेः सेवकाः, यत्रास्ते कलिकत्तपत्तनवरा वीथी सु 'पोलोक' की ॥ १५ ॥ सन्ति स्थानकवासिनश्च बहवः श्वेताम्बराः श्रावकाः, ये कुर्वंति समाजकार्यमथवा वत्साधिपाः प्रेमिणः । संहृतं[२०] मुनिर्नेत्र-

* शिक्षा वर्जुमिति शेषः । † 'चलकरी' इति भाषा ।

संमिततरं श्रेष्ठा महान्तो मुहुर्जैनाराध्यमुनिष्वपि व्रतधरेष्वेवं गुणाः सन्ति च ॥ १६ ॥ जैनाः संघसुकार्यकारिणी सभा यत्रास्ति नित्यं मुहुः । सभ्याःश्रावककेऽपि सन्ति सततं नेत्रेन्दुसख्या गुणाः ॥ अत्रैवं मुनयः त्रयो नव मिते मासे निवासोऽभवत् । एवं चेन्मनुजो नैव वितते गर्भे मुहुर्जायते ॥ १७ ॥ सम्प्रदायस्य वादस्य पक्षपातस्य बन्धनम् । त्रोटयित्वा स्वयं जातः, स्वतन्त्रश्च सदा मुनिः ॥ १८ ॥ ज्ञातपुत्रमहावीरजैनसंघे व्यवस्थितः । नीरक्षीरविभागार्हः, स्वयं तन्मयतां ययौ ॥ १९ ॥ महावीरस्य च प्रभोः, स्तुतेष्टीका कृता वरा । दिवसे दीपमालायां, याता पूर्णा च सवति ॥ २० ॥ कलिकाताख्यनगरे, वेदांकनवचेन्द्रके । श्रीपुष्पचन्द्रमुनिना, शिवाक्षिरसांगुष्ठतः ॥ २१ ॥ मुनिभिः प्रार्थ्यते शश्वन्महावीरस्य शासने । स्वयं तन्मुनिचर्यायां, मौनमाश्रित्य तिष्ठति । भवान् परिग्रहत्यागी, यद्यस्ति कथमीदृशः ॥ २२ ॥ सम्प्रदायप्रवादस्य, परिग्रहरतः कथम् । सम्प्रदायप्रवादस्य, पक्षं कृत्वा पुनः पुनः ॥ २३ ॥ भवन्तः स्वसमाजेन सह यान्ति रसातलम् । भवन्तोऽनन्तससारपापवृद्धिं कृता कथम् ? वर्धयित्वा च स्वस्यैव पतनं कथमिच्छतः ॥ २४ ॥

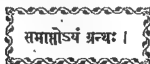
भुजङ्गप्रयातच्छन्दः ।

यदा जीवहिंसापरित्यागिनश्चेद्भवन्तस्तदा सम्प्रदायस्य जाले ।
जनान् सर्वतश्चात्र घोरे निबध्य, कथं कुर्वते ज्ञानचारित्रनाशम् ॥२५॥
अनेनाथ देहेष्वनन्तानुबन्धि-कषायस्य बन्धं कृतं तत्र नूनम् ।
दृढं शृंखलाबद्धजीवा भवन्तः, पतिष्यन्ति चैवं द्रुतं शर्करादौ ॥२६॥
विपक्षानुरोधे महामोह एव, समानः स्त्रिया सर्वथा त्यागयोग्यः ।
सदा सेवनेनास्य नाशं व्रजन्ति, भवद्ब्रह्मचर्यादिकं शश्वदत्र ॥ २७ ॥

विपक्षाख्यवेश्याऽनुरागोऽपहेयः, सदा ब्रह्मचर्यानुरक्तैर्भवद्भिः ।
महावीरदेवस्य नाम्ना स्वकीयं, मुदा जैनसंघं सृजन्त्वत्र जैनाः ॥ २८ ॥
यतो बन्धनान्मुक्तभावं भजन्तु, भवाद्दुस्तराज्जन्मतो वापि दुःखात् ।
यदास्य प्रसङ्गं भवन्तश्च जैना, न जातु त्यजन्ति ब्रुवन्ति भवस्थाः ॥२९॥
जनो ब्रह्मचारी न कोऽप्यस्ति लोके, नितान्तं व्यभिचारवन्तं न रम्यं ।
महावीरतत्त्वोपदेशस्य सारमनेकान्तवादं बुधाश्चानमन्ति ॥ ३० ॥
भवन्तः सदेकान्तवादे प्रवृत्ताः, स्वतश्चेतरेषां न द्वात्रिंशदाख्यम् ।
स्वकं सम्प्रदायं विशुद्धं वदन्ति, तथाऽन्यं च निंदां हि कुर्वन्ति नित्यम् ॥
यतो वर्धमानस्य वाचो भवन्तो, विलुपन्ति मिथ्यैव किं सत्यमेतत् ? ।
तदेवं भवन्तं हि जानन्ति सिद्धा, महाऽसत्यपापानुरागेऽनुरक्तम् ॥३२॥
ब्रुवन्तीह पक्षानुरागं विदोषमहं चामुके सम्प्रदाये प्रवृत्तम् ।
सदा चेदृशं भावरोगं त्यजन्तु, न हि स्याच्च कल्याणभावं कदापि ॥३३॥
परित्यज्य भेदात्मकीं बुद्धिमुग्रां, तदा वर्धमानस्य सिद्धान्तमानम् ।
विजानन्तु श्राद्धाश्च वीरं भजन्तु, सदाक्षेपवन्तो भवन्तो भवन्तु ॥३४॥

गुरुर्वो दीक्षायां ग्रहणसमये स्तेयकरणं, परित्याज्यं चेत्थं कथयति भवत्क्षेममनिशम् । परिहरथयूयं प्रतिपदविवादं च कुरुथ, तदेवास्तेयाख्यं व्रतमपि प्रणष्टं प्रतिदिनम् ॥ ३५ ॥ ततो धर्मे नाशं व्रजति भवतां वृत्तिरखिला, अतस्त्वच्चौरो न हि भुवि कश्चिन्मुनिवर ! अतोऽनित्यं साधो ! परिहर मतालम्बनमहो ! न हि स्यात्कल्याणं कश्चिदपि विशेषं व्रतधर ! ॥ ३६ ॥ राग-द्वेषवियुक्तानां, समताभावमागताः । वीतरागाः प्रवर्तन्ते, साधवो न हि चेतरे ॥३७॥ त्वय्यस्ति यदि रागश्च, द्वेषभावस्तथापरः । देहभावोऽप्यहंभावोमोहभावस्तथैव च ॥ ३८ ॥ नो गतो यदि वो देहान्मुधैव वेषधा-

रणम् । तथोज्वलतरो वेषो, धूर्तत्वं प्रतिभावयेत् ॥ ३९ ॥ कैतवं समनुप्राप्य, पापकृन्मुनिराडयम् । वीतरागा न केऽपीह, प्रवदन्तीति योगिनः ॥ ४० ॥ अद्यप्रभृतिमुनिभिर्ह्रीयितां पदवी मुहुः । मानापमानयोर्बुद्धिस्तुल्यैव परिधार्यताम् ॥ ४१ ॥ सर्वदा भिक्षुवर्य्यैश्च, समदर्शिभिरेव च । शासनं जिनराजस्य, वर्धनीयं विशेषतः ॥ ४२ ॥ ज्ञातव्यं मुनिभिस्तत्वं, मानवधर्ममाचर ! वीरशासनसेवायां, प्रवृत्ताश्चेतसा यदि ॥ ४३ ॥ पदवीधारणं मिथ्या, प्रवृत्तिस्तत्र निष्फला । नाग्रहस्तत्र कर्तव्य, इति चित्ते समाश्रय ॥ ४४ ॥ जगति *बहुलेशस्य, मान्यता च सनातने (धर्मे) । तथैव जैनधर्मेषु, (मुनिवर्य्येषु) बह्वाचार्यस्य मान्यता । इति रोगसमृद्धिः स्याद्विपरीतं कथं भवेत् ॥ ४५ ॥ स्वयं वैद्यश्च रोगार्तो, नान्येषां दुःसहो भवेत् । आचार्य्याणां बहुत्वस्य, प्रथा हेया मनीषिभिः ॥ ४६ ॥ अखिलजैनसंघस्य ह्येकश्चाचार्य एव च । कर्तव्यः सर्वथा विद्वन् ! न पुनस्तं विलोपयेत् ॥ ४७ ॥ समाजं कुष्ठवन्नित्यं, क्लिश्यतीति विभावय । कथनेन च किं तद्वच्छ्रवणेन च किं बहु ॥ ४८ ॥ समाजोऽद्य प्रयागस्य तीर्थवत्क्रियतां मुदा । धारात्रयं मिलित्वैव स्वच्छा स्याद्भावरूपिणी ॥४९॥ गंगेवेयं च ज्ञातव्यं, मुनिभिः सुधिभिः सदा । इत्येवं प्रार्थना शश्वत्पुष्पेन्दोर्भिक्षुकस्य च ॥ ५० ॥



* बहुलः ईशस्येति पदच्छेदः ।

परिशिष्ट नं० १ वीरस्तुति–गुर्जरगायन

कडखाकी–चाल

तार हो तार प्रभु मुझ सेवक भणी,
जगत्मां एटलुं सुजश लीजे ।
दास अवगुण भर्यो जाणी पोता तणो,
दयानिधि दीनपर दया कीजे ॥ १ ॥

भावार्थ—किसी समय श्रीजिनागमके अभ्यास द्वारा संसार भ्रमण करते हुए, ज्ञानावरणादि आवरणोंसे ढंके जानेपर भी अपनी अनन्त शक्तिको जान कर अनादि परभावानुषंगताके दोषसे उद्विग्न आत्मा अपनी साधक शक्तिको न देखकर परम निर्यामकके समान २४वें तीर्थंकर श्रीज्ञातृपुत्र-महावीर भगवान्के नामका शरण निर्धारित करता है, और श्रीवीरपरमात्माको अन्तरमें अनुभूत करके प्रार्थना सहित विनति करता है और अपनेको प्रभुका दास निश्चित रूपमें समझकर मानो पुकार पुकार कर कहता है कि–हे नाथ! हे दीनदयालो! हे प्रभो! मुझसा निर्बल तत्वसाधक आपकी आज्ञाओंके पालन करनेमें कहां समर्थ है, मुझे तो मात्र नामका सेवक समझ कर तार? तार? इस गुण-रोधकरूप दुःखसे निस्तार! ओह प्रभो! तुम से प्रभुको छोडकर और किसे कहूं! यह इतनासा सुयश आपही लीजिए और मुझे भवजलधिसे पार कीजिए! भगवन्! मुझे यह भी ज्ञात है कि–प्रभुको तो सुयशकी कुछ भी अभिलाषा नहीं है। परन्तु उपचारसे भक्तिवश आपके नाममें आतुर होकर यह सब कुछ कहकर मैं ही अपनी अज्ञानताका परिचय दे रहा हूं; यद्यपि मैं अपनेको आपका दास समझता हूं; मगर यह दास तो रागद्वेष-असयम-अनुष्ठानाशंसादि दोष-एकान्ततादोष-अनादर आदि दोषरूप अवगुणसे भरा हुआ है। तो भी मैं तेरा ही कहलाता हूं। अत एव हे दयानिधे! भावकरुणासमुद्र! मैं दीन-रंक-अशरण-दुःखित-तत्वशून्य-सम्यग्ज्ञानादिसे-शून्य भावदरिद्र, तत्वमार्गका विराधक-असंयमचारी-महाविकारशील-आपकी आज्ञासे विमुख-अनादिकालका उद्धत, आदि २ अनेक दुर्गुणोंसे पूर्ण हूं। इसी लिए मुझ दीन-हीन पर दया कीजिए। तेरी कृपा ही त्राण-शरणके योग्य हो जायगी। यद्यपि 'अर्हन्' प्रभु सदा कृपावान्

ही होते हैं तब उन्हें और नवीन कृपा क्या करनी है? तथापि अर्थीको घर-गांठका विचार नहीं होता, इसलिए यह वचन मुझसे 'अर्थी' का ही है, और जो दयावान् होता है उसकी विशेषता इसी प्रकार वर्णन की जाती है। अतः देव! तुम कृपाके भंडार हो, तुम्हारा अवलम्बन लेकर ही पार हो सकूँगा, यह सत्य और निस्सन्देह है।

राग-द्वेषे भर्यो मोह-वैरी नड्यो,
लोकनी रीतमां घणुंए रातो।
क्रोध वश धमधम्यो, शुद्धगुण नवि रम्यो,
भम्यो भवमांहे हुं विषय मातो ॥ २ ॥

भावार्थ—हां तो भगवन्! यह दास कैसा है? सुनिए, यह राग-द्वेषके कीचडमें फँसा हुआ है, जगत्-सागरमें डूबा पड़ा है, गुणी जनोंसे ईर्ष्या करता है, मोहके नशेमें बेसुध है, तत्वकी बातोंमें बिल्कुल अज्ञात है, विपर्यासका कुछ ठिकाना ही नहीं है। मोह वैरीने भारी झपट मारी है जिसके कारण अपने उस मोहभावसे स्वयं उसके नीचे दब गया है। तथा लोककी रीतिभांति, चाल-ढाल, अन्धश्रद्धा, उलटी टेढी रूढी आदिमें खूब ही मस्त है, लोकोंकी गतानुगतिकता भेड़चालमें ही सदा मग्न है, अपनी गांठकी अकलसे कुछ भी नहीं विचारता, लोकोंको प्रसन्न करनेकी बडी चाह लगी रहती है। लोकोंसे डरता भी खूब है इसी कारण गुप्त अनाचार सेवन करता है, तब लोकोंने भी बुगला-भक्तकी ही उपाधि दी है। क्रोधसे पारा गर्म हो जाता है, चंडपरिणाममें धमधमायमान है। जिस प्रकार धौंकनीकी प्रेरणासे अग्नि तप उठता है इसी तरह क्या बल्के इससे भी अधिक क्रोधके द्वारा तप जाता हूं। शुद्ध गुण जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-परमशुद्ध चारित्र-क्षमा-मार्दव-आर्जव आदि आत्मगुण हैं, उनमें कभी रमण नहीं करता, न कभी मैं उनमें तन्मय ही होता हूं, अपने स्वरूपका ग्रहण भी कभी नहीं किया, सदैव तुसके समान निस्सार परभाव या विभावको ही स्वीकार किया है, नरक-तिर्यंच-मनुष्य-देव आदि चार गति रूप संसारचक्रमें इसी कारण मारा मारा फिरता हूं। तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप संसृतिमें, पांच इन्द्रियोंके विषय-स्वादमें उन्मत्त और उन्मग्न हो रहा हूं। विषयग्रस्त होकर इस भांति विश्वचक्रका कडुवा अनुभव ले रहा हूं, मैं वही अधमदास हूं;

अतः मुझे तार, तार! हे नाथ! दीनबन्धो! निष्कारण दयालो! मुझे तार भव दुःखसे बचा, बचा ॥ २ ॥

आदर्यो आचरण लोक उपचारथी,
शास्त्र-अभ्यास पण कोई कीधो।
शुद्ध श्रद्धान वळी आत्म-अवलम्ब विन,
तेहवो कार्य तेणे को न सीधो ॥ ३ ॥

भावार्थ—शायद कभी कोई यह कहे कि–आवश्यक करणादि आचरण बहुतवार स्वीकार किया है, मगर उस चारित्रको तो लोकोपचारसे ही किया था जिससे फिर वह आत्मामें विष तथा गरलके समान परिणत हुआ, क्योंकि अन्यान्य अनुष्ठानसे क्या हो सकता है, यदि भावधर्म नहीं हो तो उसके विना सब कुछ वृथा है, और उसे उपचार-गतानुगतिकतासे अंगीकृत किया समझा जाता है। इसके उपरान्त कोई यह भी कहेगा कि–उच्चगोत्र-यशोनामकर्म आदिके विपाकसे ज्ञानावरणीयके क्षयोपशमके योगसे शास्त्रोंका पूर्ण अभ्यास भी तो किया है, शास्त्रोंका पठन-पाठन किया है, शास्त्रके गर्भमेंसे यथार्थ अर्थको निकाल कर जगत्में उसका दिव्य प्रसार किया है। तथा अध्यात्म-भावनासे स्पर्शज्ञानानुभावके विना उस श्रुतका अभ्यास किया गया परन्तु शुद्ध और यथार्थ स्याद्वादउपेत-भावधर्मके विना शेष भावधर्मकी रुचिसे दान दयादिक जो पुरुषार्थ किया गया है उन सबको कारण समझना चाहिए परन्तु मूल धर्म नहीं। धर्म तो वस्तुकी सत्ता है, और वह आत्माके अन्तर्गत-स्वरूपसत्तासे पारिणामिकताकी दशामें स्थित है। उसमें से जो धर्म प्रकट होता है, वह शुद्ध-श्रद्धान, शुद्धप्रतीति, तथा पुनः आत्माके स्वरूपको प्रकट करानेवाली रुचि तथा आत्माके स्वगुण-सम्बन्धी अवलम्बनके विना जो आचरण किया जाता है तथा ज्ञानाभ्याससे यदि वह कार्य किया जाता है, जिस कार्यसे आत्माका सम्यक् साधन होता है, उसे किसीने निर्मित नहीं किया प्रगट नहीं किया। जिसके कारण जो आत्मगुण प्रकट हो सकता था वह नहीं हुआ। अतः हे परमेश्वर! इस अधमाधम दासको तेरी ही कृपा पार कर सकती है इसलिए तार, तार, दास समझकर तार, अपना दास समझकर तार ॥ ३ ॥

स्वामी दर्शन समो निमित लही निर्मलो,
जो उपादान ए शुचि न थासे ।
दोषको वस्तुनो अहवा उद्यम तणो,
स्वामी सेवा सही निकट लासे ॥ ४ ॥

भावार्थ—स्वामी श्रीवीतराग हैं, जो अन्यके कार्यके अकर्ता हैं, पर-भावादिके अभोक्ता हैं, इच्छा लीला चपलता कौतुहल आदिसे सर्वथा रहित हैं, क्योंकि इच्छा तो ऊनतावान् अर्थात् न्यूनतावालेमें होती है, और परमेश्वरतो पूर्ण आनन्दी सहजानन्दी है, इसीलिए स्वामी इच्छा रहित हैं, और लीला भी सुखकी लालसावालेको ही होती है, और लालचीपना सुखकी ऊनतासे होता है, इसीकारण प्रभुमें लालचीपना भी नहीं है । ऐसे निजानन्द-विहारी स्वामीके दर्शनके समान निर्मल निमित्तको प्राप्त करके, आत्माका उपादान-मूलपरिणति यदि शुद्ध न होगी तो जानना चाहिए कि यातो वस्तुका दोष (जीव अवगुणावृत) है, या शायद जीवका दल ही अयोग्य है, कहना न होगा कि इस जीवकी सत्ता किस ढंगकी है ? अथवा क्या अपने उद्यममें कुछ कमी है ? क्योंकि कठोर प्रयत्न और सतत उद्यम करनेपर तो आत्माका सुधार अवश्य होना ही चाहिए था मगर अबतक कुछ न हुआ । इससे स्पष्टसिद्ध है कि-यह जीव अपनी ऊनताके कारण अपने आत्मीय गुणोंका स्मरण नहीं करता, इसलिए अब क्या करना चाहिए ? और कोई उपाय भी तो नहीं सूझता । यही समझ कर श्रीअर्हन् भगवान् महावीर प्रभुकी सेवाको ही मैंने आत्म स्मरणके लिए अमोघ शस्त्र (साधन) समझा है । प्रभुसेवा ही प्रभुकी समीपताको दिलायगी । क्योंकि बहिरात्मभाव तो इस अवस्थामें अत्यन्त दुष्ट है । परन्तु जिनराजकी सेवनासे यह दुष्टता छूटजायगी ॥ ४ ॥

स्वामी गुण ओळखी स्वामीने जे भजे,
दर्शन शुद्धता तेह पामे ।
ज्ञान चारित्र तप वीर्य उल्लासथी,
कर्म जीपी वसे मुक्ति धामे ॥ ५ ॥

भावार्थ—स्वामी अर्थात् शासनपति, अर्हन् प्रभु, श्रीमहावीर भगवान्के गुणोंको पहचान कर जो प्राणी अरिहंतको भजता है उनकी सेवा करताहै, वह दर्शन अर्थात् सावरण केवलज्ञान सम्यक्त्व स्वस्वरूपकी झांकी अवश्य प्राप्त करता है। उसे दर्शनकी निर्मलता होती है, यथार्थ आत्म ज्ञान भासता है, चरित्र स्वस्वरूपमें रमण करता है, तप तत्वकी एकाग्रताको प्राप्त करता है, वीर्य आत्मसामर्थ्यका उद्भव करता है, उसके उल्लाससे ज्ञानावरणादि कर्मोंको जीत (क्षय कर) ता हुआ मोक्ष–निरावरण रूप सम्पूर्णसिद्धतारूप अपुनरावृत्ति धाममें जाकर निवास करता है ॥ ५ ॥

जगद् वत्सल महावीर जिनवर सुणी,
चित्त प्रभु चरणने शरण वास्यो ।
तारजो बापजी ! विरुद निज राखवा,
दासनी सेवना रखे जोशो ॥ ६ ॥

भावार्थ—जगत् त्रय वत्सल (हितकारी) चौबीसवें महावीर जिनवरके गुणोंको सुनकर मेरा मन प्रभुके चरण (चरित्र) रूपी शरण (भवन) में बस गया है, अतः हे प्रभो ! भो परमेश्वर ! मेरा आत्मा पलटा खाकर आत्मका समस्तसाधन करे, ऐसी शक्तिका उद्भव तो मुझमें नहीं दीख पड़ता, इसीलिए सरल भक्तिका आश्रय लेकर कहता हूं कि बापू ! मुझ दासको आप ही पारकरना, और आप अपनी तारकताका विरुद सुरक्षित रखनेके लिए इस दासकी सेवना (भक्ति) के सामने मत देखना, जो आपकी आज्ञानुसार भक्ति करता है वह निस्सन्देह पार होता है, परन्तु जगतारक !. मेरे लिए यह सब कुछ होना दुर्लभ है, लेकिन जिसप्रकार काठकी संगतिसे लोह और पत्थरभी पार हो जाते हैं इसी प्रकार आपके संयोगसे पार हो जाऊंगा, और मुझे अब नियमरूपसे यही एक अन्तिम आधार प्रकटरूपमें दीख रहा है ॥६॥

विनति मानजो शक्ति ए आपजो,
भाव स्याद्वादता शुद्ध भासे ।
साधि साधकदशा सिद्धता अनुभवी,
"देवचन्द्र" विमल प्रभुता प्रकाशे ॥ ७ ॥

भावार्थ—प्रभो! मेरी इतनी विनय तो अवश्य मानलेना, और मेरा यह वचन भी सरल भक्तिकी प्रेरणासे निकला है। हां वह बात मानना कि मुझे एक वार आत्मसामर्थ्य अर्पण करना, और ऐसा भाव भी प्रदान करना कि-जिसभावसे वस्तुधर्म यानी स्याद्वादकी कसौटीसे नित्य-एक-अनेक-अस्ति-नास्ति-भेद-अभेदद्वारा छहों द्रव्योंके अनन्तशुद्ध धर्म, शंकादि दूषण रहित भासने लगें। साधकदशाकी साधना करके वे भेदरत्नत्रयी, सिद्धता, निष्पक्षता, वास्तविकताका अनुभव करके उसे भोगने लगें। समस्त देवोंमें चन्द्रमा के समान सिद्ध भगवान्की विमल-निर्मल प्रभुताको प्रगट करे, अर्थात् स्याद्वाद ज्ञानके द्वारा साधकता प्रगट होती है, और उस साधकतासे सिद्धता प्रगट होती है, यही एक विलक्षण सार पद्धति है ॥ ७ ॥

गुजराती भावार्थ—कोइक अवसरे श्रीजिनागमना अभ्यासे करीने संसार भ्रमण निमित्त जे ज्ञानावरणादि आवरणे आवृत पोतानी अनन्त आत्म शक्ति जाणीने अनादि परभावानुषंगता दोषने दुःखे उद्विग्न आत्मा ते पोतानी साधकता शक्ति अणदेखतो परमनिर्यामक समान चौवीसमा श्रीवीरभगवान्नां चरण शरण निर्धारीने, श्रीमहावीरप्रभुनी आगल प्रार्थना सहित विनति करे छे जे-हे नाथ! हे दीनदयाळ! हे प्रभुजी! मुझ सरीखो जे तत्वसाधक तथा आज्ञानिर्वाह मां असमर्थ, तेने मात्र नामथी सेवक जाणी तार, तार। ए गुण-रोधक रूप दुःखथी निस्तार, तुज सरीखा प्रभु विना बीजा कोने कहुं? जगत्मां एटलुं सुजश लीजे, यद्यपि प्रभु तो सुजशना कामी नथी, परन्तु उपचारे भक्ति आतुरताए कहे जे मुज सरीखो दास ते यद्यपि राग द्वेष असंयम अनुष्ठानाशंसादिदोष, एकतादोष अनादरादिदोषरूप अवगुणे करी भर्यो छे, तो पण ताहरो कहेवाय छे। ते माटे हे दयानिधि! भाव करुणाना निधान! दीन जे हुं रंक, अशरण-दुःखित-तत्वशून्य-ज्ञानादिसम्पदारहित-भावदरिद्री-मार्गनो विराधक-असंयमसंचारी-महाविकारी-तमारी आज्ञाथी विमुख-अनादिनो उद्धत एहवा मुझ उपर कृपा करीजे, ताहरी कृपा तेहीज त्राण (शरण) थशे। यद्यपि अरिहंत तो कृपावंतज तो नथी. कृपा श्री करवी छे, तो पण अर्थी विचारे नहीं, माटे अर्थीनुं ए वचन छे, जे दयावंतनेज एम कहेवाय छे, जे हे देव! तमे दयाना भंडार छो, तमनेज अवलंबे तरीश। ए सत्य ज छे ॥ १ ॥

दास केहवो छे, राग द्वेषे भर्यो, जगतमां पड्यो, गुणथी ईर्ष्या करे छे, मोह जे मुंझितपणुं ते तत्वनी अजाणता-विपर्यासता, हेतुयें मोहवेरी नड्यो, तेथी दबाणो छे, तथा लोकनी जे रीत केतां चाल ते मांहे घणोज मातो छे, लोकनी चाल (गतानुगतिकता) मांहे मग्न छे, लोकरंजननो अर्थी छे, क्रोध जे ताता चण्डपरिणाम तेहने विषे धमधमी रह्यो छे, जेम धमण धमतां अग्नि तपे, तेम तपी रह्यो छे, शुद्धगुण जे सम्यग्दर्शन-सम्यक्ज्ञान-शुद्धचरित्र-क्षमा-दया-मार्दव-आर्जवादि आत्मगुण, तेने विषे रम्यो नहीं, तन्मयी न थयो । ते रूप न मल्युं, वली भम्यो=चतुर्गतिरूप भवचक्रमांहे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप संसार तेने विषे हुं विषय=जे पांच इन्द्रियना स्वाद, ते मांहे मातो=केतां मग्न थयो थको एम संसारचक्र अनुभव्युं ते हवे प्रभु मुझने तार, तार, हे नाथ! दीनबन्धु! निष्कारण दयाल! मुजने तार, भव दुःखथी उगार ॥ २ ॥

कदाचित् कोई कहेशे जे आवश्यककरणादिक आचरण आदर्युं=अंगीकार कर्युं, परन्तु ते सर्व लोकोपचारथी एटले विष तथा गरल तथा अन्यान्यानुष्ठानथी भावना धर्म विना उपचारे अंगीकार कर्युं, तथा कोई कहेशे के उच्चगोत्र यशोनाम कर्मादिकना विपाके ज्ञानावरणीय क्षयोपशमना योगे शास्त्राभ्यास पण कीधो, शास्त्र भण्या, शास्त्रना यथार्थ अर्थ पण जाण्या, तथा अध्यात्मनी भावनाए, स्पर्शज्ञानानुभावविना श्रुताभ्यास कीधो, परन्तु शुद्ध अने यथार्थ स्याद्वादोपेत भावधर्म, विना शेष भावधर्मनी रुचिये जे दान-दयादिक प्रवर्तन करे छे ते सर्व कारण समजवां, परन्तु मूलधर्म नथी, धर्म ते वस्तुनी सत्ता, आत्माने विषे स्व-स्वरूपपणे परिणामकताए रह्यो छे । ते मांहे जे प्रगट्यो ते धर्म, एहवुं शुद्ध श्रद्धान-शुद्धप्रतीति-तथा वली आत्मानी स्वरूप प्रगट करवारूप रुचि तथा आत्माना स्वगुणने आलंबन विना जे आचरण तेणें आचरणे तथा श्रुताभ्यासे तेहवुं कार्य-जे कार्यथी आत्मानुं साधन थाय, ते कोई नीपन्युं नहि, जे थकी आत्मगुण कोई प्रगटे ते थयुं नहि, ते माटे अहो परमेश्वर! ताहरीज कृपा पार उतारशो, निस्तारशो, ते माटे तार! तार! ॥ ३ ॥

स्वामी श्रीवीतराग जे परकार्यना अकर्ता, परभावादिना अभोक्ता, इच्छा-लीला-चपलता रहित, एटले जे इच्छा होय छे ते तो ऊणतावंतने [illegible], ते माटे ——ेत छे, वली लीला पण सुखनुं अलच करनारने होय छे, अने लालची-पणानी ऊनताए थाय छे । ते माटे प्रभुमां लालचीपणुं नथी, एहवा दर्शन (मत) समान निर्मल निमित्त लहीने जो ए आत्मानुं उपा-

दान=मूल परिणति पवित्र नहि थशे तो जाणवुं जोईये जे वस्तु=जीवनो ज दोष=अवगुण छे, एटले रखे ए जीवनो दल अयोग्य होय। ए जीवनी सत्ता केवी रीतनी छे? अथवा पोताना उद्यमनी खामी छे? केमके आकरे प्रयत्ने=उद्यम करीने तो आत्माने समरवो जोइये, तो ए जीव पोतानी ऊणाशने लीधे आत्मा समरतो नथी। ते माटे हवे शुं करवुं? जे बीजो उपाय कोई नथी, तो श्रीअरिहंतनी सेवा वेहीज निश्चे निकट केतां नजीकता लहशे, केतां पमाडशे, एटले आ आत्मा तो हवे दुष्ट जेवो थइ रह्यो छे, परन्तु श्रीजिनराजनी सेवनाथी दुष्टता तजी देशे ॥ ४ ॥

स्वामी जे श्रीअरिहंत तेहना गुणने ओळखीने जे प्राणी श्रीअरिहंतने भजे=सेवे छे, ते दर्शन=सम्यक्त्वरूप गुणने पामे छे, दर्शननी निर्मलता पाम्या पछी, ज्ञान=यथार्थ भासन, चारित्र=स्व-स्वरूपमा रमण तप=तत्त्वमां एकाग्रता-वीर्य=आत्म-सामर्थ्य, तेहना उल्लासथी ज्ञानावरणादि कर्मोने जीपीने मुक्ति=निरावरणरूप सम्पूर्ण सिद्धतारूप धाम=स्थानकमां जइने ते वसे छे ॥ ५ ॥

जगत्रयवत्सल=त्रण जगतना हितकारी, एहवा महावीर भगवान् चोवीशमा जिनवर, तेहना गुण सांभळीने मारो मन प्रभुने चरणने शरणे वसाव्यो छे। ते माटे हे प्रभो! परमेश्वर! माहरो आत्मा तो पलटीने सर्वसाधन करे, एहवी शक्ति देखाती नथी, माटे भद्रक भक्तिए कहुं छुं जे हे तात! हे दीनबन्धो! मुज दासने तमे तारजो, तमारुं तारकताउं विरुद राखवा माटे दासनी सेवना भक्ति साम्हु जोशो मा, जे ए आज्ञा प्रमाणे भक्ति करे तो तरे, ए वात तो स्वामिन्! माहरामां थवी दुर्लभ छे, पण तमारे संयोगे तरीये, एहीज नियमा आधार छे ॥ ६ ॥"

"माहरी एटली विनति मानजो, ए पण भद्रिकपणाथी भक्तिनुं वचन छे, जे शक्ति=एवी सामर्थ्य आपजो, ते कहे छे, जे भाव=वस्तुधर्म, ते स्याद्वादरीते नित्य-एक-अनेक-अस्ति-नास्ति-भेद-अभेदपणे छ द्रव्यना अनंताधर्म शुद्ध, शंकादि दूषणरहित भासे,=जाणपणामां आवे, ते साधि=निपजावीने साधकदशा वे भेद रत्नत्रयी-सिद्धता-निष्पन्नता-अनुभवे=भोगवे, सर्वदेवमाहे चन्द्रमा समान, सिद्धभगवान् तेहनी विमल=निर्मळ जे प्रभुता, ते प्रकाशे=प्रगट करे, एटलेस्याद्वाद ज्ञाने साधकता प्रगटे, साधकताथी सिद्धता प्रगटे छे, एहीज सार पद्धति छे ॥७॥

देवचन्द्र—

वीरस्तुति—

वीर जिनेश्वर चरणे लगुं, वीरपणुं ते मागुं रे ।
मिथ्यामोह तिमिर भय भागुं, जीत नगारुं वाग्युं रे ॥ १ ॥

शब्दार्थ—वीर जिनेश्वर=चौवीसवें वीर प्रभुको, चरणे लागुं=नमस्कार करताहूं, (और) वीरपणुं ते=उनके समान, वीरपणुं=शूरवीर भाव, मागुं रे=में उनके पाससे याचना द्वारा मांग लेता हूं; (उनका वीरत्व ऐसाहै कि–जिनके सन्मुख) मिथ्यामोह=मिथ्यात्व मोहनीय रूप, तिमिर भय=अन्धकारका भय, भागुं=दूर भाग खड़ा हुआ है, और–जीत नगारुं,=जयका नगारा, वाग्युं=रे=बज रहा है ।

भावार्थ—में चौवीसवें जिनेश्वर श्रीमहावीरस्वामीको भाव वन्दना करता हूं, और कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेके लिए उनमें जो योद्धापन अथवा जैसा श्रीवीर भगवान्में वीरत्व है, में भी अपनेलिए वैसाही चाहता हूं, और जिनमें मिथ्यात्व मोहनीय कर्मरूप अंधकारका भय नष्ट होगयाहै, और फिर जीतका डंका बजगया है ।

परमार्थ—में श्रीवीरभगवान्की भावोंसे वन्दना करके अपने लिए वीरत्व पानेकी मांग पेश करता हूं, श्रीवीरभगवान् कैसे हैं, ? जिनका कि–मिथ्यात्वादि मोह दूर होगया है, तथा कर्मरूपी शत्रुओंको पराजय करनेसे जिनका जयपटह बजने लगा है, ऐसे श्रीभगवान्को नमस्कार करके में वीरता मागता हूं ॥ १ ॥

छउमत्थ वीरज लेश्या संगे, अभिसंधिज मति अगे रे,
सूक्ष्म थूल क्रियाने रंगे, योगी थयो उमंगे रे, वी० ॥ २ ॥

शब्दार्थ—छउमत्थ=छद्मस्थ अवस्थाकी, वीरज लेश्या=क्षायोपशमिक वीर्यवाली, लेश्या–आत्म परिणामकी एक दशा, (उसके) संगे=संयोगके द्वारा (तथा) अभिसंधिज=अभिसंधि जनित-योगाभिसन्धिजनित-योगको ग्रहण-करनेकी–अपने आप ही होनेवाली इच्छासे उत्पन्न-मति=बुद्धि, (उसके) अगेरे=उसकी छायाके कारण (तथा) सूक्ष्म=आत्मिक, (और) थूल=व्यावहारिक, क्रियाने रंगे=क्रियाका समाचरण करनेके उत्साहसे (वीरभगवान्) योगी थयो=योगी बनगए, उमंगेरे=उमंगके साथ–न कि जबरदस्तीसे,

भावार्थ—छद्मस्थ अवस्थाकी क्षायोपशमिक वीर्यवाली आत्मपरिणतिके योगसे, और योगको ग्रहण करनेकी अपनी निजी इच्छासे उत्पन्न होनेवाली बुद्धिसे, *आत्मिक और व्यावहारिक क्रिया करनेके उत्साह द्वारा* श्रीवीर भगवान् बड़ी भारी उमंगके साथ योगी हुए हैं ।

परमार्थ—इस गाथाका भावार्थ भलि प्रकार समझमें नहीं आता, अतः गुरुगम्यतासे इसका अर्थ समझना चाहिए । तथापि यथा मति लिखा गया है, छद्मस्थ अवस्थामें आत्माको क्षायोपशमिक वीर्यका उद्गम जब प्राप्त होता है और उस समय उसके साथ जैसी ही शुभ लेश्या मिलजाती है, अतः फिर अन्वयरूप वीर्यकेद्वारा कर्मग्रहण करता है, इस कर्मग्रहण करने की दशाको अभिसंधिज कहते हैं, और तब फिर मति उपर्युक्त वीर्यको ग्रहण करती है ।

देहकम्पनरूप सूक्ष्म-क्रिया, और शरीरसंकुचनरूप, एवं उसका प्रसरणकरणरूप, प्रसारणकी क्रियाको स्थूल क्रिया कहते हैं, इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म क्रियाके ढंगसे सब आत्मा बड़ी उमंगसे योगी होवे हैं । अर्थात् वे मन-वचन- और कायके योगको प्राप्त होवे है ॥ २ ॥

असंख्य प्रदेशे वीर्य असंखो, योग असंखित कंखेरे,
पुद्गल गण तेणे लेशु विशेषे, यथाशक्ति मति लेखेरे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—असंख्य प्रदेशे=आत्माके असंख्य प्रदेश हैं, (अतः उन उन प्रदेशोंका वीर्य एकत्र करने पर) वीर्य असंखो=असंख्य–जो गिना न जाय इतना *आत्म-बल है*, (इसीसे आत्मा) *योग असंखित=असंख्य योग-मन-वचन-काय के व्यापार*, (उनकी) कंखेरे=अभिलषित अर्थको पूर्ण करनेमें समर्थ होता है, [और] पुद्गल गण=पुद्गलकी विविध वर्गणाओंको, तेणे=इसी कारण, लेशु विशेषे=लेश्या विशेषसे-भिन्न भिन्न लेश्याओंसे, यथाशक्ति=शक्तिके अनुसार, मति=बुद्धि, अनुभवांकित रहती है, एकके पश्चात् एकको *ग्रहण करके माप करती रहती है* ।

परमार्थ—आत्माके असंख्य प्रदेश हैं, और उन एक एक प्रदेशमें असंख्य वीर्य-शक्ति है, इससे असंख्य योगकी आकांक्षा उत्पन्न होती है, और योग सामर्थ्यके अनुसार आत्मा कर्म-वर्गणाके पुद्गलोंको यथाशक्ति ग्रहण करता है ॥ ३ ॥

उत्कृष्टे वीरजने वेसे, योग क्रिया नवी पेसे रे,
योग तणी ध्रुवताने लेसे, आतमशक्ति न खेसे रे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—(लेकिन) उत्कृष्टे वीरजने वेसे=उत्कृष्ट, कार्यके आवेशमें-जब कि सबसे अधिक वीर्य-उल्लास होता है तब, योगक्रिया=मन-वचन-कायरूपी योगका व्यापार, नवी पेसेरे=प्रवेश ही नहीं करता, होता ही नहीं, (क्योंकि उस समय) योगतणी=योगकी, ध्रुवताको=अचलताको, लेसे=लवलेशमात्र भी, आत्मशक्ति=आत्मबल, न खेसेरे=डिगाता नहीं,—योग स्थिर हो जानेके कारण।

भावार्थ—जब आत्मामें सबसे अधिक वीर्य प्रगट होता है तब मन-वचन और कायका कर्म बंधनरूप कार्य प्रवेश ही नहीं करता, कारण यह है कि–उस समय आत्मबल है, वह योगके अचलत्वको लवलेश मात्र भी डिगा नहीं सकता, ॥ ५ ॥

परमार्थ—उपरोक्त कथनानुसार आत्मा योगकी शक्तिके अनुसार कर्म पुद्गलको ग्रहण करता है, परन्तु यदि आत्मामें उत्कृष्ट वीर्य प्रगट होगया हो तो फिर मन-वचन-कायके योग लगभग बंद हो जाते हैं, और कर्मबन्धन-रूप क्रियासे फिर आत्मामें कर्म-बंध नहीं होता।

योगकी ध्रुवताका लेश सब आत्माओंमें होता है, और उस लेशमात्रसे भी आत्माके आठ रुचक प्रदेश कर्मबन्धसे विरक्त (अलग) रहते हैं। यह दृष्टान्त है। अत एव ज्यों ज्यों आत्मामें उत्कृष्ट वीर्य प्रगट होता रहता है, त्यों त्यों कर्मबन्ध भी कम हो जाते हैं, और अन्तमें सम्पूर्ण वीर्यत्व प्रगट होने पर वीरभगवान्‌की तरह समस्त कर्मबंधका नाश हो जाता है और शुद्ध चैतन्यत्व प्राप्त होता है, अतः हे भगवान्! मुझे वीरता अर्पण करो ! ॥ ४ ॥

काम वीर्य वशे जेम भोगी, तेम आत्मा थयो भोगीरे,
सूरपणे आतम उपयोगी, थाय तेह अयोगी रे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कामवीर्य वशे=स्त्री संगकी इच्छा होने पर, वीर्य बलसे, जेम=जिस प्रकार भोगी=भोग कर्ता होता है, तेम=इसी तरह, आतम थयो भोगीरे=आत्मा, (अपने वीर्योल्लास द्वारा अपने गुणोंका) भोगी बनता है,

(और) शूर पणे=शौर्य गुणके बलसे, आतम-उपयोगी=अपने भावमें उपयोगवान् रहकर, थाय तेह अयोगीरे=वह आत्मा उसी समय अयोगी गुणस्थान पर आरूढ होता है।

भावार्थ—स्त्रीसंगकी इच्छा होने पर वीर्य अर्थात् धातुके उल्लाससे जिस प्रकार जीव भोगकर्ता सिद्ध होता है, इसीप्रकार आत्मा अपने वीर्य उल्लाससे अपने गुणोंका भोगी बनता है, और शौर्यगुणके बलसे निजभावमें उपयोगवान् रहकर वह आत्मा तुरत अयोगी-गुणस्थानारूढ होता है।

परमार्थ—जिसप्रकार कामी पुरुषमें वीर्यकी अधिकता होनेके कारण उसे प्रबल कामेच्छा होती है, इसीकारण पुरुष स्त्री की, और स्त्री पुरुष की इच्छा करती है, अथवा काम अर्थात् इच्छा, वह द्रव्यादिककी इच्छावाला जिस प्रकार द्रव्यकी इच्छा करता है, और पर-भावकी वाञ्छा करता है, इसी तरह आत्मा भी स्व-स्वरूपको न जाननेके कारण पर-पौद्गलादिक भोगोंकी वाञ्छा करता है।

परन्तु जब आत्मामें शूरवीरताका सचार होनेपर वीरभाव प्रगट होता है, तब कर्मोंका क्षय होने पर अपने स्वरूपको जानता है। इससे उसे पर वस्तुओंपर अभाव-(अप्रीति) होता है, आत्मा निजगुणमें रमण करता है, मन-वचन और कायके योगको स्थिर करता हुआ नवीन कर्मोंको नहीं बांधता। और अन्तमें अयोगी हो जाता है। इस लिए वीरत्व प्राप्त होने पर आत्माका कार्य सिद्ध होने वाला समझ कर भगवान्‌के पास वीरता ही मांगी है ॥ ५ ॥

वीरपणुं ते आतम ठाणे, जाण्युं तुमची वाणे रे,
ध्यान विनाणे शक्ति प्रमाणे, निज ध्रुव पद पहिचाणे रे, वी० ॥६॥

शब्दार्थ—वीरपणुं=शूरवीरता, (उसे,) ते आतम ठाणे=वह आत्मगुणस्थानपर चढता हुआ, [परिपूर्ण होना चाहिए इस प्रकार] जाण्युं=में जान सकाहूं, [किसके द्वारा जान सकाहूं ?] तुमची=आपकी, वाणे रे=वाणी द्वारा-आपके प्रतिपादन किए हुए आगम द्वारा, (तथा) ध्यान विनाणे शक्ति

प्रमाणे=अपनी शक्तिके प्रमाणसे ध्यान और विज्ञानसे, निज=अपना, ध्रुवपद=(परिणामकी स्थिरताको पाकर) शांतिरूप अचल पद, पहिचाणे=पह चानने से।

भावार्थ—आत्मगुणस्थानपर चढतेसमय परिपूर्ण शूरवीरता होनी चाहिए जिसे मैं अब जान सका हूं, किसलिए? आपकी वाणी द्वारा, अर्थात् आपके उपदेशसे, पुनः मेरी निजी शक्ति के अनुसार ध्यान और विज्ञानके साहाय्यसे भी कुछ जाना है, यानी ध्यान और विज्ञानका जितना बल होता है, उतना ही, अथवा उसी प्रमाणमें अपनी वीरताका स्थिरपद जीव इन निमित्तोंसे पहचान लेता है।

परमार्थ—भगवान्‌के पाससे वीरताकी यांचा का विचार करते समय भगवान्‌के प्रतिपादन किए हुए उपदेशका स्मरण हुआ, इससे स्वयं ही प्रसन्न होकर कहता है कि प्रभो! मेरी जो जो भूल हुई हैं उनका मुझे भान हुआ, अब तक मैं आपसे यही विनति करता रहा था कि-मुझे वीरता अर्पण करें, परन्तु मांगसे पहिले आपने फर्माया है कि-समस्तआत्माएँ मेरे समान हैं। अतः जो वीरतामैं पहले आपसे मांग रहा था, वही वीरता मुझमें भी है। परन्तु खेद है कि इस बातकी मुझे जरासी भी खबर न थी, परन्तु आपकी वाणीसे-आपके तत्वपूर्ण उपदेशसे मुझे विश्वास हुआ है कि यह वीरता मुझमें भी पर्य्याप्त और अखंड है।

तब यह प्रश्न होता है कि-जब आपके समान वीरता अपनेमें भी है तब तुम उसे क्यों नहीं जानते थे? और भगवान्‌ने कहा है कि-इसके अतिरिक्त वीरता अपने आत्मामें है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है, इसी प्रकार गुरु परम्परासे यदि विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ हो तो उससे भी अनुभव हो सकता है, जिस प्रकार ध्यान और ज्ञानकी विशेषता है, इसी प्रकार आत्मानुभवकी भी विशेषता जाननी चाहिए। मुमुक्षुओंको ज्ञान और ध्यान को गुरुगमतासे जान कर आत्मानुभव करनेमें प्रवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि इस स्तवनका आशय यही है, और हमारी धारणा भी यही है ॥ ६ ॥

आलम्बन साधन जे त्यागे, पर परिणतिने भागे रे,
अक्षय दर्शन ज्ञान वैरागे, 'आनन्दघन' प्रभु जागे रे, ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—[पूर्ण वीर्योल्लाससे शूरवीर बन कर] आलंबन=असमर्थ दशामें लियाहुआ आश्रय, (तथा) साधन=समस्त साधन-उपकरण, (उनको) जो=जो महात्मा, त्यागे=छोड देते हैं, पर परिणति=आत्मासे अन्य-पुद्गलादिका स्वभाव (उससे), भागेरे=दूर होजाता है, (वह) अक्षय=जिसका क्षय न हो, ऐसे शाश्वत, दर्शनज्ञान वैरागे=ज्ञान-दर्शन और चरित्रके द्वारा, आनन्दघन=आनन्दसे भरपूर, प्रभु=परम समर्थ-परमात्मा-ईश्वर, (होकर) जागेरे=(सदैव) ज्ञानसे जाग्रत रहता है।

भावार्थ-सम्पूर्ण वीर्योल्लाससे शूर वीर होकर जो पुरुष असमर्थ दशामें पहले लिए हुए आलंबनों को और समस्त (अनावश्यक) उपकरणोंको भी छोड देताहै, उस आत्मासे पर जो पुद्गलादिका विभाव है वह दूर होजाता है, पुनः वह महात्मा पुरुष जिसका कभी क्षय न होने पावे, ऐसे शाश्वत ज्ञान-दर्शन और चरित्रसे, आनन्दघनसे भरपूर परमात्मारूप होकर सदैव ज्ञानपूर्वक जागता रहता है, अथवा 'आनन्दघन' कवि कहते हैं, कि-प्रभु-आत्मा जाग जाता है, यानी अनादिकी ऊंघमेंसे आत्मा जाग्रत हो जाता है अर्थात् विभावदशाको त्याग कर स्वयं परमानन्दरूपमें मग्न हो जाता है।

परमार्थ—आत्मा अनादिकालके पुद्गल सम्बन्धी आधारसे अपना कार्यकरना त्यागदेता है, तब आत्माका अखंड-शुद्ध-चैतन्यत्व सम्यग् ज्ञान-दर्शन और चरित्रद्वारा प्राप्त करता है। और अनादि-कालसे आत्मा जिस पुद्गलके संगमें पडा ऊंघ रहा है, उसीसमय जग कर स्वयं अपने स्वरूपको प्राप्त करता है अथवा 'आनन्दघन' कवि कहते हैं कि-यह आत्मा पर वस्तुका संग छोडदे और अपना निजी अवलम्ब रक्खे, तथा परानुयायीपन छोडदे तो उस रत्नत्रय के आराधनसे यह आत्मा तुरन्त मोक्षको प्राप्त होता है, ॥ ७ ॥

गुजराती भावार्थ—चोवीसमां जिनेश्वर श्री महावीर स्वामीना चरणोमा हुं वन्दन करुं छुं अने कर्मरूपी शत्रुओने हणवामां जे योद्धापणुं, अथवा जेवुं श्रीवीर भगवान्नुं वीरपणुं छे, तेवुं वीरपणुं हुं मागुं छुं, वळी जे प्रभुनो मोहनीय कर्मरूपी अन्धकार-भय नष्ट थयो छे, अने कर्मरूप शत्रुओनो पराजय करवाथी जेमनो जयपटह वाग्यो छे, एवा श्रीवीरभगवान्ने पगे लागीने हुं वीरपणुं मागुं छुं, ॥ १ ॥

आ गाथानो भावार्थ मने बराबर समजायो नथी, माटे गुरुगमथी धारवो, तो पण यथामति लख्यो छे, छद्मस्थावस्थामां आत्मानुं क्षायोपशमिक वीर्य होय छे, अने तेनी साथे तेवीज लेश्या मळे छे, एटले जोडायेलं वीर्ये कर्म-ग्रहण करे छे, आ कर्म ग्रहण करवानी दशाने अभिसंधिज कहे छे, अने मति उपर्युक्त वीर्यने ग्रहण करे छे।

देहकम्पनरूप सूक्ष्म क्रिया अने शरीर सकोचवा रूप तेमज तेनो प्रसार करवारूप प्रसारणनी क्रियाने स्थूल क्रिया कहे छे, एटले ते मन-वचन अने कायना योगने पामे छे। ॥ २ ॥

जेनी संख्या न आवे ते असख्य कहेवाय. आत्माना अथवा बीजा द्रव्योना सूक्ष्ममां सूक्ष्म आकाशना विभागमां रहेलो जे भाग ते प्रदेश कहेवाय छे। आत्माना आवा असख्य प्रदेशो छे, अने ते एके एक प्रदेशमां असख्य वीर्य छे, तेथीज आत्मा मन-वचन-अने कायना असंख्य योगनी काक्षा-अभिलाषा थाय छे, अर्थात् ते योगो साध्य-प्रगट करवाने समर्थ छे, अने ते हेतुथी पुद्गलनी जुदी जुदी वर्गणाओने विविध प्रकारनी लेश्याओथी शक्तिमुजब बुद्धि-लेखी रहे छे, अर्थात् एक पछी एक ग्रहण करीने मापती रहे छे ॥ ३ ॥

आत्मा योगनी शक्तिने अनुसारे कर्मपुद्गल ग्रहण करे छे। पण जो आत्मामा उत्कृष्ट वीर्य प्रगट थयुं होय तो पछी मन-वचन-कायना योग लग भग बंध थाय छे, अने कर्मबांधवा रूप क्रिया थी आत्मामां कर्मबंध थतो नथी।

योगनी ध्रुवतानो लेश बधा आत्मामां होय छे, अने ते लेशमात्रथी पण आत्माना आठ रुचक प्रदेश कर्म बंधथी विरक्त रहे छे, ए दृष्टान्त छे। माटे जेम जेम आत्मामां उत्कृष्ट वीर्य प्रगट थाय, तेम तेम कर्मबंध कमती थाय, अने छेवटे सम्पूर्ण वीर्यपणुं प्रगट थतां वीर भगवान्नी पेठे समस्त कर्म-बन्धनो नाश थाय, अने शुद्ध चैतन्यपणुं प्रगट थाय तेवुं छे। माटे हे भगवान्! मने वीरपणुं आपो। ॥ ४ ॥

जेम कामी पुरुषमां वीर्यनो वधारो थतां तेने प्रबल कामेच्छा थाय छे, तेथी पुरुष स्त्रीनी अने स्त्री पुरुषनी इच्छा करे छे। अथवा काम एटले इच्छा, ते द्रव्यादिकनी इच्छावाळो जेम द्रव्यनी इच्छा करे छे, अने परभावने वांछे

छे, तेम आत्मा पण स्व–स्वरूपना अजाणपणाथी पर जे पुद्गलादिक तेना भोगनी वाञ्छा करे छे ।

पण ज्यारे आत्मामां शूरापणुं अथवा वीरपणुं प्रगट थाय छे, त्यारे कर्मोनो क्षय थतां ते पोतानुं स्वरूप जाणे छे, तेथी पर वस्तुपरथी तेने अभाव थाय छे, आत्मा पोतामां रमण करे छे, मन वचन अने कायना योगने स्थिर करी नवां कर्मो बांधतो नथी, अने छेवटे अयोगी पण थाय छे । तेथी वीर्यपणुं प्राप्त थतां आत्मानुं कार्य थवानुं जाणी प्रभु पासे वीरपणुं माग्युं छे । ॥ ५ ॥

भगवान् पासे वीरपणु मागवानुं विचार करतां भगवाने करेला उपदेशनुं स्मरण थयुं । तेथी पोतेज खुशीथइने कहे छे के हे प्रभो ! मारी जे भूल छे, ते मने जणाई,अत्यार सुधी में आपने विनंति करी के मने वीरपणुं आपो, पण मारी मागणी पहला आपे कहेलुं छे के समान आत्मा मारा जेवा छे, एटले जे वीर-पणुं हुं आपनी पासे मागुं छुं, ते वीरपणुं मारामांज छे, पण ते वातनी मने खबर न होती, परन्तु आपनी वाणी थी एटले आपना उपदेशथी मारी खात्री थइ छे के ते वीरपणुं मारामां छे ।

त्यारे प्रश्न थाय छे के ज्यारे वीरपणुं तमारामां छे तो तमे केम न होता जाणता ? अने भगवाने कह्युं छे के ते सिवाय वीरपणुं पोताना आत्मामां छे । ते जाणवाने बीजुं साधन छे के केम ? तेनो उत्तर कहे छे के ध्यान करवाथी वीरपणुं पोतामां उद्भव थाय छे, अने तेनो प्रत्यक्ष अनुभव थई शके छे तेमज गुरुपरम्पराथी विशेष ज्ञान प्राप्त थयुं होय तो तेथी पण अनुभव थई शके छे, ज्ञान अने ध्याननी जेम विशेषता थाय छे तेम आत्म अनुभवनी पण विशेषता जाणवी, मुमुक्षुओए ज्ञान अने ध्यानने गुरुगमथी जाणी आत्मअनुभव करवामां प्रवृत्ति करवी ए आ स्तवननुं रहस्य छे एम हुं धारुं छुं ।

आत्मा पुद्गलना आधारथी पोतानुं कार्य करवानुं त्यागे, अने पुद्गलनुं आलम्बन जो छोडी दे तो अखंड शुद्ध चैतन्यपणुं सम्यग्ज्ञान–दर्शन अने चारित्रवडे प्राप्त करे, अने अनादिकालथी आत्मा जे पुद्गलना संगमां ऊंघतो पडेलो छे, ते जागीने पोतानुं स्वरूप प्राप्त करे छे, अथवा आनन्दघन कवि कहे छे के आत्मा पर–वस्तुनो संग छोडे, पोतानुं अवलम्बन राखे, अने परानु-यायी पणुं तजे तो रत्नत्रयीना आराधनथी मोक्ष पामे ।

[आनन्दघन]

वीरस्तुति–

धन धन जनक 'सिद्धारथ' राजा, धन त्रिशला देवी मात रे प्राणी ।
ज्यां सुत जायो गोद खिलायो, वर्धमान विख्यात रे प्राणी,
श्रीमहावीर नमो 'वर णाणी,' शासन जेहनो जाण रे प्राणी,
प्रवचन सार विचार हिए में, कीजे अर्थ प्रमाण रे प्राणी, २
सूत्र–विनय–आचार–तपस्या–चार प्रकार समाधि रे प्राणी,
ते करिये भवसागर तरिये, आतम भाव आराधि रे प्राणी, ३
ज्यों कंचन तिहुं काल कहीजे, भूषण नाम अनेक रे प्राणी,
त्यों जगजीव चराचर योनि, है चेतन गुण एक रे प्राणी, ४
अपणो आप विषे थिर आतम, सोऽहं हंस कहाय रे प्राणी,
केवल ब्रह्म पदारथ परिचय, पुद्गल भरम मिटाय रे प्राणी, ५
शब्द-रूप-रस गंध-न जामे, नहीं स्पर्श-तप-छांह रे प्राणी,
तिमिर-उद्योत-प्रभा-कछु नाहीं, आतम अनुभव मांहि रे प्राणी, ६
सुख-दुःख जीवन मरण अवस्था, ए दशप्राण संगात रे प्राणी,
इणथी भिन्न विनयचंद रहिये, ज्यों जलमें जलजात रे प्राणी, ७

भावार्थ—'सिद्धार्थ' राजा और 'त्रिशला' देवी राणीको धन्यवाद है, जहां 'वर्धमान' जैसे पुत्र उत्पन्न हुए, उन्होंने अपने अंकमें उसको खिला रमा कर अपनी हौंस पूरी की, और वर्धमान नामसे तो तीनों लोकमें विख्यात हुए, अपर नाम महावीर भगवन् । जो श्रेष्ठ और निर्मल केवलज्ञान युक्त हैं, जिनका इस समय शासन काल प्रचलित हो रहा है, और भावी कालमें भी १८५०० वर्ष तक चलेगा, उन्हें मेरा योग और करणकी शुद्धिसे नमस्कार है, जिनके प्रवचनका सार आत्मभाव और परमात्म विचार है । यदि उसका मनन और निदिध्यासन किया जाय तो यह आत्मा मोक्षकी पूर्ति शीघ्र ही कर सकता है ।

ज्ञात-नन्दन महावीरप्रभुने 'सूत्र' 'विनय' 'आचार' और 'तपस्या' ये चार प्रकारकी समाधि भव्य प्राणियोंके कल्याणके अर्थ प्रतिपादन की हैं,

जो जितेन्द्रिय संयमी सदैव अपने आत्माका विनयसमाधि-श्रुतसमाधि-तपः समाधि और आचारसमाधिमें रमण करते हैं वास्तवमें वे सच्चे पण्डित होते हैं.

विनय समाधिके चार प्रकार—विनय समाधिके चार भेद इस प्रकार हैं जिस गुरुके पाससे शिक्षण प्राप्त किया है, उस गुरुको महा उपकारी समझकर उसकी सेवा करे, उसके समीपमें रहकर विनयका समाचरण करे। गुरुके वचनका यथार्थ रूपमें पालन करे। और विनयी होनेपर अहंकारी न बने। मोक्षार्थी साधक सदा हितशिक्षाकी इच्छा रखता है, उपकारी गुरुकी सेवा करताहै, गुरुके समीपमें रह कर उनके वचनका पालन करता है, और अभिमानसें मदसे गर्विष्ठ नहीं बनता। वही विनय समाधिका आराधक समझा जाता है।

श्रुत समाधिके चार प्रकार—"अभ्यास करनेसे मुझे सूत्र सिद्धान्तका परिपक्व ज्ञान होगा" यह समझ कर अभ्यास करता है, "अभ्यास करनेसे मेरे मनकी एकाग्रता होगी" यह जानकर श्रुतका अभ्यास करता है। "अपने आत्माको उत्तम और सद्धर्ममें परिपूर्णतया स्थिर करूंगा" यह मान कर अभ्यास करता है, यदिमैं समता पूर्वक धर्ममें स्थिर रहूंगा तो औरोंको भी धर्ममें स्थापन करसकूंगा। श्रुतसमाधिमें अनुरक्त रहनेवाला साधु सूत्रोंको पढकर ज्ञानकी, एकाग्र चित्तकी, धर्मस्थिरताकी तथा औरोंको धर्ममें स्थिर करनेकी शक्तिका सम्पादन करता है, अतः साधकको श्रुतसमाधिमें तल्लीन रहना चाहिए।

तपः समाधिके चार प्रकार—सच्चा साधक इस लोकके स्वार्थ-सुखके लिए तप नहीं करता, परलोक स्वर्ग सुखके लिए तप नहीं करता; कीर्ति, वर्णन (श्लाघा) के लिए भी तप नहीं करता, और पाप कर्मोंको बखेरनेवाली निर्जराके अतिरिक्त किसी भी अन्यकारणसे तप नहीं करता, वही तपसमाधिके योग्य होता है। तपसमाधिमें सदैव लगारहनेवाला साधक भिन्न-भिन्न प्रकारके सद्गुणोंके भण्डाररूप तपमें सदैव तन्मय होता है। किसी भी प्रकारकी आशा रक्खे बिना कर्मक्षीण करानेवाली निर्जरा भावनाके लिए प्रयत्न करे तो तपकेद्वारा वह पुराने पापकर्मोंको दूर कर सकता है।

आचार समाधिके चार प्रकार—कोई भी साधक इस लोकके स्वार्थकी पूर्तिके अर्थ श्रमणके सदाचारोंका सेवन नहीं करता, पारलौकिक

स्वार्थके लिए भी सदाचारों का सेवन नहीं करता। कीर्ति-वर्ण-शब्दके लिए भी साधुके आचारोंका पालन नहीं करता। (अर्थात्) अर्हन्‌देवके फर्मानके मुजब निर्जराके हेतुको छोड़ कर किसी भी स्वार्थके लिए आचारका पालन न करके मात्र निर्जरार्थ ही आचार पालन करता है। जो साधक दमितेन्द्रिय है, सच्चरित्रसे आत्मसमाधिका अनुभव करता है, महावीरके वचनोंमें अपनेको अर्पण कर शुद्ध है, वाद-विवादसे विरत और सम्पूर्ण क्षायिकभावको पाकर जिसका आत्मा मुक्तिके निकट हो जाता है। वह साधक इन चार समाधियोंसे आत्माका आराधक होकर-सुविशुद्ध होकर चित्तकी सुसमाधिकी साधमें लगकर परमहितकारी और अपना, एकान्त सुखकारक कल्याणस्थान खुद ही प्राप्त करता है। समाधिसे जन्म और मरणके चक्रसे मुक्त होकर शाश्वत सिद्ध होता है। यदि थोड़े बहुत कर्म बाकी रहगए हों तो महान् ऋद्धियुक्त उच्च और सर्वोत्तम् कोटिका 'देव' होता है ॥ ३ ॥

आत्मा सुवर्णकी तरह है, आभूषणोंकी तरह वह पर्यायी है, चराचर जगत् और चौरासीलाख जीवयोनि चारगति इसके पर्याय हैं। परन्तु चेतना गुण सबका एक है, समान है, किसीका किसीप्रकारसे अन्तर नहीं है।"

'अपने आत्माको निजस्वभावमें स्थापन कर, तब सोहं का भास होगा, इस अनुभवके पश्चात् (हंसः) परमात्मरूप (स्वच्छ) हो जायगा, परभावको छुडाने वाला केवल-अध्यात्मपदार्थका परिचय पुद्गलपरिणतिका भरम मिटा देगा। इसीका अभ्यास चरित्र-आत्म रमणता है, जो कर्मरजको छानकर आत्मद्रव्यको पृथक् प्रगट करदेता है।"

"इस आत्मामें शब्द-रूप-रस-गंध-स्पर्श-आतप-छाया-अन्धकार-उद्योत-प्रभा-आदि कुछ भी नहीं है, और आत्म-अनुभव होनेपर बाह्य पदार्थोंका मोह और ये दृश्य जड वस्तुएँ आत्माके पास कभी फटक ही नहीं सकतीं।"

"तथा सुख-दुःख जीवन-मरण-सम्बन्धी अवस्थाएँ इन १० बाह्य प्राणोंके साथ हैं, इनका पवित्र और स्थायी-प्राणोंके साथ कोई संबन्ध नहीं, विनयधर्मकी साधनामें चन्द्रमाके समान उच्च और पवित्र महावीर प्रभु उनसे इस प्रकार भिन्न हैं जिस प्रकार प्रखर कीचड़ और गंभीर जलसे उत्पन्न होकर कमलदल पानी और कीचड़से अलग रहता है।"

विनयचंद (कुंभट)

महावीर थुई नो गुजराती काव्यानुवाद

आज सुधर्मा केहेता प्यारा जंबुने, ' वीरप्रभुना पंचम गणधर धीरजो,
संयमसागर शिष्य बडा ते जंबुजी, पूछे गुरुने अम भांगो गंभीर जो।
कहो गुरु आ भवसिंधु उतारवा, कोणे आप्यो उत्तम अमने धर्म जो,
साधु संघने अन्य पंथना सज्जनो, पूछे आवी धर्म तणो सौ मर्म जो।
अनन्य मंगल धर्म दीधो जे व्यक्तिए, ते समजावो टळवा सौ अनर्थ जो,
गुरु ज्ञानी छो आप महा आ विश्वमां, तेथी पूछुं प्रश्न तणो हुं अर्थ जो १
कहो स्वामी ते ज्ञान धरे कइ जातना, कइ पंक्तिना तेना दर्शन शील जो,
श्रवण कर्युं के जोयुं जे आपे प्रभु, बोलो! खोली दिलना द्वार अखिल जो २
मधुर वाणी आ सुणी सुधर्मा बोलीया, जाणे चाली सुधा शब्दनी धारजो,
विश्वसकळनो दुःख जाणतो नाथ जे, वीरप्रभु ते आव्या आ संसार जो।
कर्मरिपु संहार करी ते पामीआ, अनन्त दर्शन-ज्ञान तणो भंडार जो,
सूक्ष्म विषये दृष्टि तेनी स्थिर छे, कुशल प्रभु ते दीप्या जग मोझार जो ३
सर्व दिशामां वसता जे त्रस स्थावरो, मान्या तेने 'नित्य' अने 'अनित्य' जो
द्रव्य थकी तो मानी तेनी नित्यता, पर्याये तो मान्या छे अनित्य जो।
घोर तिमिर जे विश्व मही व्यापी रह्युं, अनन्य दीपक तेहना छे भगवान् जो
सर्व जीवोपर राखीने समभावने, अर्पण कर्तो धर्म तणुं तो पान जो ४
सर्वदर्शी सर्व विषयने जाणता, जीत्या चारे मति-श्रुत आदि ज्ञान जो,
केवळज्ञानी निज आत्मामां स्थिरते, शुद्धचरित्रनां गातां जन गुणगान जो
सर्वपुरुषमां पुरुषोत्तम ते ज्ञानी छे, परिग्रह केरो संग नहीं तलभार जो,
लोक तणा तो भय तेने नहि पामता, जन्ममर्णनो स्पर्श नहीं लगार जो ५
प्रज्ञा तो बहु तीव्र हती भगवान्नी, बन्धन विण ते करता सदा विहार जो,
भवसिन्धुनी पार गया छे स्वामी ते, पाम्या ते श्री अनन्त ज्ञान भंडार जो।

वृक्ष मांहि तो शाल्मलीने जाणवुं, काननमां नहिं नन्दनवननी जोडजो,
शाल्मलीने नन्दनवनना आशरे, सुपर्ण सरखा देव करे प्रमोद जो
शाल्मलीने नन्दनवन तो क्यां मळे, अद्वितीय स्थानो लोक महिं पंकायजो,
शाल्मलीने नंदनजेवा जंबूजी, वीर बुद्धिने ज्ञान चरित अंकाय जो १८
शब्दमहीं तो मेघशब्द क्यांथी मळे? मेघतणुं तो गंभीरगर्जन होय जो,
ग्रहोमहीं तो चंद्र सम छे ग्रह नहि, मनहर जेनी शीतळता प्रसराय जो;
सुगन्धिओमां मलयजसम छे वासक्यां! लोकमहीं ए चंदन श्रेष्ठ गणायजो,
मेघ चंद्रने मलयज जेवा जाणवा, मुनिवर्गमां वीरना विरक्त भाव जो १९
सिंधु महीं तो स्वयंभू रमण जाणवो, क्रीडा करता देवो ज्यां सहर्ष जो,
भवनवासीमां भव्य नागकुमार छे, भव्यरूपथी मनपामे उत्कर्ष जो;
सर्व रसोमां ईक्षुरसने जाणवो, मधुरताथी मनडुं शीतल थाय जो,
ईक्षु-स्वयंभू-देवनाग सम वीरला, वीरप्रभुना प्रधान तप जप होय जो २०
हस्ती महिं ऐरावत सम छे हस्ती नहि, पशु महीं तो सिंहकेसरी एक जो,
निर्मळ जळमां गंगाजळने जाणवुं, विहंगोमां गरुड एक निशंक जो;
ऐरावत मनगमतीलक्ष्मी लावतो, लाव्या लक्ष्मी त्रिशला घर वीर जोध जो,
गरुड-गंगा-ऐरावतने हस्ती सम, मोक्षवादीमां वीरना मुक्ति बोध जो २१
योद्धाओमां वासुदेव मशहुर छे, प्रिय पुष्पमां पंकज सम नव कोय जो,
क्षत्रीओमां चक्रवर्ती प्रधान छे, विरल गुणना विरलां स्थानो होय जो;
वासु तणुं बळ अष्टापद वीशलाखनुं, पंकजने छे नवली मीठी वास जो
वासु-कमळने चक्रवर्ती सम जाणवा, ऋषिवर्गमां वीर महर्षिखास जो २२
दान महीं तो अभयदानने जाणवुं, सत्य महीं तो 'निर्वद्य' निश्चित जो,
सर्व तपो मां ब्रह्मचर्य विशिष्ट छे, आत्मबळनी जागे तेथी ज्योत जो,
अभयदानथी दूर जती हिंसा सहु, निरवद्यथी परपीडा नवी थाय जो,

ब्रह्मचर्यथी उत्तमवळ तो आवतुं, लोक महीं एम उत्तम वीर मनाय जो २३
सुरपदोमां सर्वार्थसिद्धि श्रेष्ठ छे, सुधर्म केरी सभा अनुपम थाय जो,
सर्वधर्म तो श्रेष्ठ मुक्तिने मानता, जीव मात्रनो परम हेतु ते होय जो;
सर्वार्थसिद्धिना सुखनी तो वातशी, सौधर्म केरी सभा अनेरी होय जो,
रतिमुक्तिनी वाणी तो नहिं कहीशके,प्रभुसमा उत्तमज्ञानी नवकोयजो२४
परिपहो तो धरे पृथ्वी सम नाथ ते, पृथ्वीवत् ते सौनो छे आधार जो,
अष्ट कर्मने नष्ट कर्या ते स्वामी ए, कर्यो गृद्धीने अभिलाप संहार जो;
पाम्या छे ते ज्ञान महा उपयोगनुं, प्रयास विण ते जाणे वस्तु रूप जो,
अनन्तभवने तरी गया छे वीर ते, अनन्तचक्षु नित्य अभयस्वरूप जो २५
महारिपुजे आत्मदोप संसारना, क्रोध मानने मोह लोभ पर्याय जो,
दूर करीने अर्हत् पदने पामीआ, करे करावे पाप नहीं ऋपिराय जो २६
विध विध पंथो लोक महीं चाली रह्या, क्रियावादीके अक्रियवादी कोय जो
रमे कोई अज्ञानवाद के विनय मां सर्व पंथना ज्ञान वीरने होय जो;
क्रियावादीनी मुक्ति क्रिया मां रही, अक्रियवादी समजे मुक्ति ज्ञान जो
विनयवादितो विनय एज मुक्ति गणे, अज्ञानी तो मुक्ति गणे अज्ञान जो;
सर्व पंथने समजीने आ स्वामीए, विकसाव्यो छे लोक महीं जैन धर्म जो,
ज्ञानक्रियामां मोक्ष मानता वीर ते, लीधोसंयम समजाववा सद्धर्म जो २७
मोक्ष तणो मार्ग कह्यो आरीति थी, करी बताव्यो जगने देवा बोध जो,
सकल पापने भस्म करीने स्वामीए, रोक्यो वहेतो कर्मरिपुनो धोध जो;
मनुष्य केरा के नरकादिक लोकनां, वीरप्रभुए जाण्या पूर्ण स्वरूप जो,
स्वरूपजाणी लोक अने परलोकनां सर्वलोकने छोड्या छे तद्रुप जो २८
धर्म परूप्यो अर्हते आ प्रेमथी, अर्थ पदोमां केवळ जे निर्दोप जो,
सुणी तत्व आ श्रद्धाथी जन पामता,इन्द्र सुखके मोक्ष लक्ष्मी सतोष जो२९

———

परिशिष्ट नं० २–प्राकृतस्तोत्रविभागे

(षड्भाषामयं वीरस्तोत्रम्)

विद्यानां जन्मकन्दस्त्रिभुवनभवनालोकनप्रत्यलोऽपि,
प्राप्तो दाक्षिण्यसिन्धुः पितृवचनवशात्सोत्सवं लेखशालाम् ।
जैनेन्द्रीं शब्दविद्यां पुरत उपदिशन् स्वामिनो देवतानां,
शब्दब्रह्मप्यमोघं स दिशतु भगवान् कौशलं त्रैशलेयः ॥१॥ (संस्कृतम्)

जो जोईसरपुंगवेहि हियए निच्चंपि ज्झाइज्जए,
जो सव्वेसु पुराणवेयपभिइग्गंथेसु गीइज्जए ।
जो हत्थट्ठियआमलं व सयलं लोकत्तयं जाणए,
तं वंदे तिजयग्गुरुं जिणवरं सिद्धत्थरायंगयं ॥ २ ॥ (प्राकृतम्)

देविंदाणवि वंदणिज्जचलणा सव्वेवि सव्वण्णुणो,
संजादा किर गोतमा अवि तधा जस्सप्पसादा दुते ।
सो सिद्धत्थभिहाणनूवदिसदो जोगिंदचूडामणी,
भव्वाणं भवदुक्खलक्खदलणो दिज्जा सुहं सासदं ॥३॥ (शौरसेनी)

दुस्टे संगमके शुले भयकले घोलोवसग्गावलिं,
कुव्वंतेवि न क्षोदापोशकलुसं येणं कदं माणसं;
इंदे भत्तिपले ण णेह बहुलं योगीशलग्गामणी,
शे वीले पलमेशले दिशदु मे नेडन्तपुस्तवणं ॥ ४ ॥ (मागधी)

कंपंतक्खितिमंडलं सडहडप्फुट्टंतवंभंडयं,
उच्छल्लंतमहण्णवं कडयडत्तुट्टंतसेलग्गयं ।
पातग्गेन सुमेरुकंपनकरं बालत्तनीलाथलं,
वीरस्स पहुणो जिनान जयतु क्खोनीतले पायडं ॥५॥ (पैशाची)

इंहो वेदणरेसि जासु महया हल्लोहलेणागओ,
जज्झाई मुणिहंसओ हियडए अक्खे निरुंभेविणु,
साहु ञोप्पिणु जासु कोइ महिमा नो तीरए माणवो,
पाए वीरजिणेसरस्सु नमहुं सीसलडे-अम्हहे ॥ ६ ॥ (अपभ्रंशः)

आसाढे धवलाइ छट्ठि चवणं चित्तस्स तेरस्सिए,
सुद्धाए जणणं सुकिण्हदसमी दिक्खायमग्गरस्सिरे ।
जस्सासी वइसाहसुद्धदसमी नाणं जणाणंदणं,
मुक्खो कत्ति अमावसाइ तमहं वंदामि वीरं जिणं ॥

कणयसमसरीरं मोहमल्लेगवीरं, दुरियरयसमीरं पावदावग्गिनीरं;
सुगहियभवतीरं लोअलंकारहीरं, पणमह सिरिवीरं, मेरुसेलेसधीरं ॥

जय जय जय जणवच्छल ! नवजलहरपवणवणयसमणयण नयणमणपमयवद्धण ! धणकणयलक्खणयसमण ! ॥ १ ॥ समणमणभसलजलसय ! सयत्थसत्थत्थपयडणसमत्थ ! मत्थयनमंतनर वर ! वरवरयवरंग गयसंग ! ॥ २ ॥ संगरगररससयगय ! गयमच्छर ! रयणमयणदढजलण जलणजलसप्पभयहर ! हरहसधवलयरजसपसर ! ॥३॥ सरणपवण्णसरन्नय नयसयगमरम्मसम्मयसमय ! मयमयगलनहपहरण ! रणरणयभयब्भमसवच ! ॥ ४ ॥ वचसयवचगहवर ! वरकलसलसंतसंखचक्कंक ! कंकफलसरलनयण ! नयपमय असत्तअपमत्त ! ॥ ५ ॥ मत्तगयगमण ! गयमण भणगयसंसयसहस्सतमतवण तवणप्पहपहयर ! हयतमपरमपयनयरस्स ॥६॥ इय पढमसरनिबद्धं घणक्खरं गहिय मुक्कपयहुं भत्तीए संथवणं रइयं मुणिचंदमुणिणा ॥७॥

(वीरस्य चतुस्त्रिंशदतिशयस्तवनम्)

थोस्सामि जिणवरिंदे, अब्भुअभूएहिं अइसयगुणेहिं, ते तिविहा साहाविय, कम्मक्खइया सुरकया य ॥ १ ॥ देहे विमलसुगंधं, आमयपासेहिं वज्जिअं अरअं, रुहिरं गोक्खीराभं, निव्विस्सं पंडुरं मंसं ॥ २ ॥ आहारा नीहारा, अद्दिस्सा मंसचक्खुणो, सययं नीसासो अ सुगंधो, जम्मप्पभिई गुणा एए ॥ ३ ॥ खित्ते जोयणमित्ते, जं जियकोडीसहस्साओ माणं, सव्वसमासाणुगयं, वयणं धम्मावबोहकरं ॥ ४ ॥ पुव्वुप्पन्ना रोगा, पसमंती ईयवयरमारीओ, अइवुट्ठी-अणावुट्ठी, न होइ दुब्भिक्खडमरं वा ॥ ५ ॥ देहाणुमग्गलग्गं दीसइ, भामंडलं दिणयराभं, एए कम्मक्खइया, सुरभत्तिकया इमे अन्ने ॥ ६ ॥ चक्कं छत्तं रयणज्झओ अ, सेयवरचामरा पउमा, चउमुहपायारतियं सीहासण दुंदुही असोगो ॥ ७ ॥ कंटय हिट्ठा हुत्ता, ठायंति अवट्ठियं च नहरोमं, पंचेव इंदियत्था, मणोरमा हुंति छप्पिरिऊ ॥ ८ ॥ गंधोदगं च वासं, वासं कुसुमाण पंचवण्णाणं, सउणा पयाहिणगई, पवणणुकूलो नमंति दुमा ॥ ९ ॥ भवणवइ-वाणमंतर-जोइसवासी-विमाणवासी-अ, चिट्ठंति समोसरणे, जहण्णयं कोडिमित्तं तु ॥ १० ॥ इतेहिं जंतेहिं, बोहिनिमित्तं संसयरथीहिं, अविरहियं देवेहि जिणपयमूलं सयाकालं ॥ ११ ॥ चउद्दा जम्मप्पभिइ, इक्कारस कम्मसंखए जाए, नव दस य देव जणिए चउतिसं अइएस वंदे ॥ १२ ॥ चउतीसजिणाइसया एए मे वण्णिआ समासेणं, दिंतु मम जिणवसभा सुअनाणं बोहिलाभं च ॥ १३ ॥

(पञ्चत्रिंशज्जिनवाणीगुणस्तवनम्)

जोअणगमद्धमागह सव्वभासाणुवाइणि वाणि, पणतीसपवरगुणकिण्णेण थुणिमो जिणंदाणं ॥ १ ॥ मेहमणोहरसुगुहिरनिग्घोसं १ वंस-

धंससोहिलं, २ मुहुमुहुरमालओसियपमुहरायरायं भवविरायं ३ ॥ २ ॥ सक्कयपमुहसलक्खण, सकारजुअप्पुडक्खरपयाई, गामाण......चउवचारपरं ४ उदात्तसरं ५ ॥ ३ ॥ पडिरवपूरिअगयणं ६ सरलणुकूलत्तओ सुदक्खिवण्णं ७ इअ सत्त सद्दअइसय........सामि जिणवयणं ॥ ४ ॥ तह अत्थासय अडवीसअइसयं अप्पगंथसुमहत्थं ९ अव्वाहयाभिधेयं पुव्वावरचक्क अविरोहा ॥ ५ ॥ सिद्धत्थसूइसिट्ठं सिट्ठं व..........उत्तमाविक्खं ३ परदूसणाविसयओ अवहरिमुचराइसया ४ ॥ ६ ॥ संसय असंभवेणा संदिद्धं ५ सोअजणमणाइहरं ६ देसद्धाइ पत्थावुचिअं ७ उदिअत्थतत्तपरं ८ ॥ ७ ॥ अविकिण्णपसरिअमसंदिद्ध धिकारातिवित्थरविओगा वरसबंधपसरणा ९ मिहपद्दवकाइ सकंखं १० ॥ ८ ॥ अइमिद्धमहुरिमगुणं सुहियं सव्वेसिं घयगुडाइव ११ नियविसए कयसोआरलोअवित्थिण्णअच्छरिअं ॥ ९ ॥ जमगाइगुणविसेसो अतुच्छ अभिधेअओ वुदारत्थं अप्पयपरभूमि अणुसारि वेसणाइहिं अभिजायं ॥ १० ॥ तिहुअणपरसंसणिज्जं परममावेहयं च अविलंबं, १७ सधुइपरनिंदरहिअं १८ धम्मत्थडभासपडिबद्धं ॥११॥ लिंगवयणकालतिए परुक्खपच्चक्खवकारगाज्झत्थो, उवणयवयणचउक्के अविपरीअत्थं अतुरिअं च ॥१२॥ पत्थिअवत्थिसरूवा वण्णणाणेगजाइ सुविचित्तं २२ चत्तपयवण्णवक्कं २३ वयणंतरओ विसेसजुअं ॥१३॥ अभिधेएमणमंती अविरुभमोणादरो अविक्खेवो, किलिकिंचिय मिच्छाभय रोसायसुजुगवमसइकरणं च ॥ १४ ॥ इअ विब्भमाइमणदोसविरहिअं सत्तसाहसोवेअं आ अत्थसिद्धिमच्छिन्नहेउमायासरहिअं २६ च ॥ १५ ॥ इअ सव्ववयणपणतीसइसयसाहिअवओ जिणो थुणिओ, सद्धम्मकित्तिविज्जाणंदयरं..............हेउगिरं ॥ १६ ॥

जियमोहमहावीरो चरमो 'तित्थंकरो' 'महावीरो' ।
असमसमो असमसमो निरंतरं कुणउ कल्लाणं ॥ १ ॥

श्रीवीरसप्तविंशतिभवस्तोत्रम्

तिसलासिद्धत्थसुअंसीहंकं सत्तहत्थ कणयनिहं, भवसत्तावीसकहणेणं, वद्धमाणं थुणामि जिणं ॥ नयसारो गुग्गामे पढमे १ बीए भवे पढु ! सुहम्मे २ । तइए मरिइ तिदंडी ३, विणिआइ चउत्थए बंभे ४ ॥ कुल्लागि कोसिअदिओ, पंचमि ५ संसारचउरछठ्ठभवे ६ । थूणाइ पूसमित्तो सत्तमि ७ सोहम्मि अट्ठमए ८ ॥ नवमे अग्गिज्जोओ, चेइअगामम्मि ९ दसमि ईसाणे १० । इगदसमि अग्गिभूइ, मंदिरि ११ बारसमि सणकुमारो १२ ॥ तेरसमे १३ सेअविआ, भारद्दाओ महिंद चउदसमे १४ ॥ रायगिहि थावरदिओ, पनरसमे १५, सोलसे बंभे १६ ॥ रायगिहि विस्सभूई, सत्तरसि १७ अट्ठारसे महासुक्को १८ । गुणवीसे पोअणपुरि, तिविट्ठु १९ वीसे तमतमाए २० ॥ पहु ! इगवीसे सीहो, २१ पंकाइ दुवीसमम्मि २२ तेवीसे । मूआपुरि पिअमित्तो चक्की २३, सोहम्मि चउवीसे २४ ॥ पणवीसे छत्तगाइ, नंदणो २५ पाणयम्मि छवीसे २६ । खत्तियकुंडग्गामे, सत्तावीसे महावीरो २७ ॥ मगसिरवइदसमि वयं कत्तिअमावसि सिवं सिआसाढे, छट्ठि चुइ विसाहदसमी नाणु भवो चित्ततेरसिए । इअसिरिवीरजिणंदो थुणिओ भत्तिब्भरनमिरदेविंदो, वरधम्मकित्तिविद्धि विज्जाणं देउ मह सिद्धिं ॥

श्रीमहावीरस्तोत्रम्

जइज्जा समणो भयवं, महावीरे जिणुत्तमे । लोगनाथे सयंबुद्धे, लोगंतिअविबोहिए ॥ १ ॥ वच्छरं दिण्णदाणोहे संपूरियजिणासए । नाणत्तयसमाउत्ते, पुत्ते सिद्धत्थराइणो ॥ २ ॥ निच्चा रज्जं च रट्ठं च,

पुरं अंतेउरं तहा । निक्खमित्ता अगाराओ, पवइए अणगारियं ॥३॥ परीसहाण नो भीए, भेरवाण खमाखमे । पंचहा समिए गुत्ते, बंभयारी अकिंचणे ॥ ४ ॥ निम्ममे निरहंकारे, अकोहे माणवज्जिए । अमाए लोभनिम्मुक्को, पसंते छिन्नबंधणे ॥ ५ ॥ पुक्खरं व अलेवे अ, संखो इव निरंजणे । जीवे वा अप्पडिग्घाए, गयणं व निरासए ॥ ६ ॥ वाएवा अपडिबद्धे, कुम्मो वा गुत्तइंदिए । विप्पमुक्को विहंगुव, खग्गिसिंगवएगगे ॥ ७ ॥ भारंडे वाऽपमत्ते य, वसहेवा जायथामए । कुंजरो इव सोंडीरे, सिंहो वा दुद्धरिस्सए ॥ ८ ॥ सागरो इव गंभीरे, चंदो वा सोमलेसए । सूरो वा दित्ततेउल्ले, हेमं वा जायरूवए ॥ ९ ॥ सव्वंसहे धरित्ति घ, सायरिंदुव सच्छहे । सुद्धु हुअहुआसव, जलमाणे य तेयसा ॥ १० ॥ वासी चंदणकप्पे य, समाणे लेट्ठुकंचणे । समे पूयावमाणेसु, समे मुक्खे भवे तहा ॥ ११ ॥ नाणेणं दंसणेणं च, चरित्तेणयणुत्तरे । आलएणं विहारेणं, मद्दवेणज्जवेण य ॥ १२ ॥ लाघवेणं च खंतीए, गुत्तीमुत्ती अणुत्तरे । संजमेण तवेणं च, संवरेण मणुत्तरे ॥ १३ ॥ अणेगगुणमयाइण्णे, धम्मसुक्काण झायए । घाइ-क्खएण संजाए, अणंतवरकेवली ॥ १४ ॥ वीयराएय निग्गंथे, सवन्नू सघदंसणे । देविंददाणविंदेहिं, निघचियमहामहे ॥ १५ ॥ सवभा-साणुगाए य, भासाए सव्वसंसए । जुगवं सव्वजीवाणं, छिंदिउं भिंचगोयरे ॥ १६ ॥ हिए सुहे अ निस्सेसकारए पावपाणिणं । महव्वयाणि पंचेव, पण्णविचा समावणे ॥ १७ ॥ संसारसायरे वुड्डजंतुसंताणतारए । जाणव देसियं तित्थं, संपत्ते पंचमिं गइं ॥ १८ ॥ सेसिवे आलये निच्चे, अरुये अयरामरे । कम्मप्पवंचनिम्मुक्के, जए वीरे जए जिणे ॥ १९ ॥ से जिणे वद्धमाणे य, महावीरे महायसे । असंखदुक्ख-

खिण्णाणं, अम्हाणं देउ निव्वुइं ॥ २० ॥ इअ परमपमोआ संथुओ वीरनाहो, परमपसमदाणा देउ तुल्लत्तणं मे । असमसुहदुहेसुं सग्गसिद्धिभवेसुं, कणयकयवरेसुं सत्तुमित्तेसु वा वि ॥ २१ ॥

पयडीव सइ पहाणं, सीसेहिं जिणेसराण सुगुरूणं ।
वीरजिणथुयं एवं, पढउ कयं अभयसूरीहिं ॥ २२ ॥

परिशिष्ट नं० ३—वीरस्तुतिः—संस्कृतस्तोत्रविभागे

नमदमरशिरोरुहस्रस्तसामोदनिर्निद्रमन्दारमालारजोरञ्जिताङ्घे धरित्रीकृतावन वरतम संगमो दारतारोदितानङ्गनार्यावलीलापदेहेक्षितामोहिताक्षो भवान् । मम वितरतु वीर निर्वाणशर्माणि जातावतारो धराधीशसिद्धार्थधाम्नि क्षमालंकृता,—वनवरतमसङ्गमोदारतारोदितानङ्गनार्य्याव लीलापदे हे क्षितामो हिताक्षो भवान् ॥१॥ समवसरणमत्र यस्याः स्फुरत्केतुचक्रानकानेकपद्मेन्दुरुक्चामरोत्सर्पिसालत्रयी, सदवनमदशोकपृथ्वीक्षणप्रायशोभातपत्रप्रभागुर्वराराद् परेताहितारोचितम् । भवितरतु समीहितं सार्हतां संहतिर्भक्तिभाजां भवाम्भोधिसम्भ्रान्तभव्यावली सेविता—सदवनमदशोकपृथ्वीक्षणप्रा यशोभातपत्रप्रभागुर्वराराद्परेताहितारोचितम् ॥ २ ॥ परमततिमिरोग्रभानुप्रभा भूरिभंगैर्गभीरा भृशं विश्ववर्य्ये निकाय्ये वितीर्य्यात्तरा, महति मतिमते हि ते शस्यमानस्य वासं सदा सन्वतीतापदानन्दधानस्य सामानिनः । जननमृतितरङ्गनिष्पारसंसारनीराकरान्तर्निमज्जज्जनोत्तारनौर्भारतीतीर्थकृत्, महति मतिमतेहितेशस्य मानस्य वा ससदातन्वती तापदानं दधानस्य सा मानि नः ॥ ३ ॥ सरभसनतनाकिनारीजनोरोजपीठीलुठत्तारहारस्फुरद्रश्मिसारक्रमाम्भोजहे, परमवसुतरङ्गजा रावसत्राशितारातिभाराजिते भासिनी हारतारा

वलक्षेमदा । क्षणरुचिरुचिरोरुचञ्चत्सटासकटोत्कटकण्ठोद्धटे सस्थिते भव्यलोक त्वमम्बाम्बिके, परमव सुतरा गत्रारावसन्ना शितारातिभा राजिते भासिनीहारतारावलक्षेऽमदा ॥ ४ ॥

वीरस्तव

त्रिजगदीक्षण ! केसरिलक्षण ! क्षणमपि प्रभुवीर ! मनोगिरौ ।
गुणगणान्मम मास विरज्यतामुदयिता दयितादयि तावकात् ॥१॥
भृशमदभ्रमदभ्रमदभ्रमप्रथमन सुमन सुमन स्तुत,
अमुमत सुमत सुमतोऽवदातपरम परमश्वरमो जिन ॥ १ ॥
चलनकोटिविघट्टनचञ्चलीकृतसुराचल ! वीर ! जगद्गुरो !
त्रिभुवनाशिवनाशविधौ जिनप्रभवते भवते भगवन् ! नम ॥ १ ॥
जयति य सुरसङ्घममानहृत्, जगति वीरजिनो जगतीसुहृत् ।
भवतु भीतिहरो मम सर्वदा, स शरण शरण गुणसम्पदाम् ॥१॥



महानन्दशुद्धाश्रित देवदेव, महीनाथसिद्धार्थपुत्र पवित्रम् ।
यथाकामित दत्तवार्षिक्यदान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥
चतुष्पष्टीदेवेन्द्रयोगीन्द्रवन्द्य, सुधाशालिसच्छुद्धवाक्य वरेण्यम् ।
दयासागर शुद्धसन्मार्गयान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥
अनन्तोत्तरज्ञानचारित्रलीन, जरारोगसम्मोहसन्तापहीनम् ।
क्षणोद्भूतनिर्मूलमायावितान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥
शमस्वादपाथोधिससर्गसक्त, सदा कर्ममर्मप्रपञ्चप्रमुक्तम् ।
प्रचण्डप्रतापेन भास्वत्समान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥
मनोहारिकल्याणवर्णं विशाल, विदीर्णान्तरारिप्रणालिं कृपालम् ।
गभीर विशालैर्गुणैर्वर्धमान, त्रिकाल स्तुवे श्रीजिन वर्धमानम् ॥

जगज्जीवसन्दोहजीवादिभूतं, भवभ्रान्तिरिक्तं नमच्छक्तिमूलम् ।
लसत्स्वर्गिनिर्वाणलक्ष्मीनिदानं, त्रिकालं स्तुवे श्रीजिनं वर्धमानम् ॥

इत्थं भक्तिवशेन मुग्धमतिना श्रीवर्धमानः स्तुतः, मोघदेहपवित्रकान्तिकलितः श्रीज्ञातपुत्रो जिनः । याचे नैव कलत्रपुत्रविभवं नो कामभोगश्रियं, किन्त्वेकं परमोत्तमं शिवपदं श्रीबालचन्द्रार्चितम् ॥

(वीरजिनस्तवनम्)

विश्वश्रीद ! रजश्छिदे गरिमवत्त्वादर्पनाशे क्षमं,
सद्वाक्यं स्तुवयाभवं परिहरन् क्ष्मासूर्य ! दु सक्षमम् ।
निस्तन्द्रं तपनद्युम्नं दुरितसूदाविक्ष ! वीर ! स्थिरं,
रम्यश्रीविरलोऽसकामनिकृतिं महालयं शङ्करम् ॥ १ ॥

[चतुर्थेनमाङ्कलं चक्रम्]

तनुते यन्मूर्तिं जम्भाजिद्राज्ञी मुदिता द्रुतम्
तं स्तुवे शीतवन्द्राजिमयं भावेन भास्वता ॥ २ ॥ [मुशलम्]

ततयाङ्क्तृणां मुक्त्यै, या नीरुक्तनवे नता ।
तारभोभार तापस स पातोक्षर रक्ष ताः ॥ ३ ॥ [शूलम्]

तुतरुस्थानलीलावल्लीलाब्ज भीवरा रवाः ।
ताररावस्तुतौ वीर स्वोद्वाम सुराव ॥ ४ ॥ [शङ्खः]

तज्ज्ञासदमलेक्ष्वाकुविराजेशुः शर्मिस्तव ।
वरेण्याक्ष विश्वेश, शरणं शुशुस्तेच्छवः ॥ ५ ॥ [श्रीकरी]

तन्वाभीश विशस्त्वाक्षमवदन्त घनारव ।
वभवद्या वन्हिवद्यो, वरिवर्ति वशी नर. ॥ ६ ॥ [चामरम्]

तरणे चिररूढामलमस्तु नरपादरः ।
रसिकस्त्वं सूर्यासि, सेवनेऽनल्पमानतः ॥ ७ ॥ [हलम्]

तत्यजेऽत्र तकाश्चण्डपार्श्वमिन्द्रस्तुताहस ।
सर्वदोषैस्तरक्षयाशां, शान्ताघ ददतो विशाम् ॥ ८ ॥ [मल्लम्]

तरीवाचरसि ज्ञानोदारनि.शेषभूस्पृशाम् ।
शान्तितुष्टिकरापारभवाब्धौ विश्ववन्दित ॥ ९ ॥ [धनुः]

तम्यतिक्रम्यतेऽत्यन्तमोहदुःखमयीशितः ।
तवेन सेवयाऽवश्यं, भवैः स्थिरशिवस्थित. ॥ १० ॥ [शम्यां खड्गः]

तमहं विनमामीतवन्द्य वीर सतां मत ।
तपो यस्त्वं व्यधा विश्वविचं वीतरिपोऽतमः ॥ ११ ॥ [शक्तिः]

तपः शमरमारामतर श गुणसत्तम ।
मम गुप्तश्रिताधीश ! मरणक्लेशहृद्दिश ॥ १२ ॥ [छत्रम्]

तर्विपे लसत्यमोहाशय चारुच्छायशः ।
शक्राली त्वन्नतेर्ज्ञानभासुराऽपपरा सुमी. ॥ १३ ॥ [रथपद्म्]

तवीत्यवीतसाराज्ञा माणिना मास्वमीः शुभा ।
भारानोऽशेषभावारीन् शिवदा तव रंहसा ॥ १४ ॥ [पूर्णकलशा]

तत्वसार तरसा ना त्वयि राज्य दधीरसा ।
साराद्भुतेऽमोहधीरा रुच्यते वीर मोदतः ॥ १५ ॥ [अर्धभ्रमः]

तरसाऽस्तमोहत्वेत त्वेह प्रशमान्वित ।
तन्विमान्यवनीवास ततानीष्टाभ्यसारत ॥ १६ ॥ [कमलम्]

तवाह्री वन्दते साऽनुकम्प यः साऽय भाक्तः ।
तस्य नानागुणस्याऽन्यो, नम्यो नोदितैनसः ॥ १७ ॥ [शर.]

तत्परः सतत शिश्रीयामि त्वां दारितांहसम् ।
सम्पदादाऽपरसंसार, रसाऽसन्तमसं मत ॥ १८ ॥ [त्रिशूलम्]

नमोऽनाश्रितशर्मास्तु, नेहमन्ददयान्वित ।
तथा त्वत्तः सुरेश त्वं, केतुबोधिधियं हितः ॥ १९ ॥ [वज्रम्]
यस्तेऽष्टादशचित्रचक्रविमलं वीर ! स्तवं सथियं,
भक्त्यैवं कुलमण्डनोऽस्तत महाज्ञानात्ततुश्रीशुभ ।
मुकेश्रीयुतचन्द्रशेखरगुरुभ्राज्यप्रसादाद्वसु,
ं तातात वरः ॥ शान्ततम श भासा ततः सन्ततम् ॥ २० ॥
[परिधिकाव्यम्]

चक्राऽयोमुखशूलशंखसहिते सुश्रीकरीचामरे,
सीरं भल्लशरासने असिलता शत्त्रयातपत्रे रथः ।
कुम्भार्धभ्रमपङ्कजानि च शरस्तस्मात् त्रिशूलाशनी,
चित्रैरेभिरभिष्टुतः शुभधियां वीर ! त्वमेधि श्रिये ॥ २१ ॥

इति वीरस्तवः

(अथ वीरस्तवनम्)

चित्रैः स्तोष्ये जिनं वीरं, चित्रकृत् चरितं मुदा ।
प्रतिलोमानुलोमाद्यैः, सन्नाद्यैश्चातिचारुभि ॥ १ ॥
वन्देऽमन्ददमं देवं, यः शमाय यमाश्रय. ।
नायेनध घना येनापाकृता ममताकृपा ॥ २ ॥
[प्रतिलोमानुलोमपाद.]

दासता तव मागारा, न चेयायमतामस ।
समतामययाचेन रागाभावतता सदा ॥ ३ ॥ [अनुलोमप्रतिलोम.]
वरदानवरादिन्व त्वद्दिरावनदारव ।
याज्यदेव भयान्यास सन्याया मवदेज्यया ४॥[अर्धप्रतिलोमानुलोमः]

श्रीद वीर विरेभ त्वं दमिताक्ष गताऽशुभ ।
चीभाक्षमारम्भितारे रक्ष मां सदरं गवि ॥ ५ ॥ [अर्धभ्रमः]
गीरता जनता रन्हे ! धीरताखिरतारसा ।
सारतारश्रुताऽवन्ध्या, सुरताजनतावकी ॥ ६ ॥ [मुरजबन्धः]
ये पश्यन्ति तवेहास्यारविन्दं भक्तिबन्धुराः ।
न पतंति भवे शस्यास्ते विदो भगवन्नराः ॥ ७ ॥ [गोमूत्रिका]
नमामाररसामान भारिताक्षक्षतारिना ।
सातामयायामतासारक्षया म महाक्षरः ॥ ८ ॥ [सर्वतोभद्रः]
तिर्यगूनरसुराकीर्णा भासतेननते समा ।
त्वन्माहात्म्यात्कृताश्चर्यं या श्रिता ततता श्रिया ॥ ९ ॥ [पदम्]
रेगौराङ्गोरुगीर्गङ्गगौरीगुरुररोगरुक् ।
गोरंगागाररागारिरैरीरोरै गुरुं गिरिम् ॥ १० ॥ [द्व्यक्षरः]
लालल्लालोललीलालं ततता तातिता तते ।
ममाममाममम्मुमाऽननानेनोननानन ॥ ११ ॥ [एकाक्षरपादः]
ककिकाकर्ककौकः केकाकोककर्केकिकम् ।
कककाकुककोकैककक्कः कौकककांककाम् ॥ १२ ॥ [एकाक्षरः]
मरुभूमौ तप ऋताविव चारुसरोवरम् ।
कुतः सुकृतहीनानां सुलभं तव शासनम् ॥ १३ ॥ युग्मं [असंयोगाक्षरः]
सारणिः पुण्यवन्याया ज्यायमौक्तिकशुक्तिक (!)
कामधेनुर्नयविदां, वोधोल्लासनसारसा ॥ १४ ॥
सारं स्याद्वादमुद्रायास्त्रिपदी भवतोऽञ्जसा ।
सा मे सुहृदि कान्त्येकास्तिलेन रहितैनसा ॥ १५ ॥ [द्वाभ्यां खड्गः]

श्रीसिद्धार्थकुलव्योमदिवाकर ! निरञ्जन !
न के क्षतैकान्तवादिमतं तीर्थं तव श्रिताः ॥ १६ ॥ [मुशलम्]
का या त्वयि मव्याली धन्या धत्तेस चेतसा।
मता तामरसाकाममकासा गङ्गसागरम् ॥ १७ ॥ [त्रिशूलम्]
त्रिशलाकुक्षिपाथोजराजहंस ! जगद्विभो !
भोगास्तृणमिव त्यक्तास्त्वया मोक्षादिदृक्षया ॥ १८ ॥ [हलम्]
सुरासुरनरास्तुभ्यं, नमस्यन्ति जिनोत्तम !
मनःप्रसादसन्दर्भे (?) दलिताऽशुभवासनाः ॥ १९ ॥ (धनुः)
कथं कर्तुं जनो मोहव्यपोहमहह क्षमः।
मनसा सादरं यस्त्वां, न स्तौति तिमिरापहम् ॥ २० ॥ (शरः)
बाल्ये मेरुशिरः कम्पसम्पत्प्रथितविक्रमः।
मनोजाऽनोकहव्याल ! मम स्वामी भवाऽऽभवम् ॥२१॥ (शक्ति)
मानितायक्रमागार रमामाकन्दमाधव !
वधमार्गे ममाकास सकामा धीः प्रतानिमा ॥२२॥ [अष्टदलकमलम्]
वन्ययान ! घनस्वान ! ध्यानमौनकनद्धन !
ज्ञानस्थान ! जिन ! श्रीन ! धनमेन.'स्नस'नः ॥ २३ ॥
[षोडशदलकमलम्]
जय हेमवपुः श्रीक ! जगन्मोहापहारक !
जराहिवीनसिंहाङ्क ! जन्मनीरधिनाविक ॥ २४ ॥
[स्तुत्यनामगर्भे बीजपूरम्]

तुभ्यं नमोऽतुलनयक्षितिकाय भीतिवन्यासु पावक ! सुरस्तुत ! वीर ! नेतः । मिथ्यात्वविपुलमण्डप ! हेमरूप ! कल्याणवीकरणदक्ष नतेदमीन ॥ २५ ॥ [हारबन्धः]

भग्नाकृत्यपथो जिनेश्वरवरो भव्याब्जमित्रः क्रिया-
दिष्टं तत्वविगानदोषरहितैः सूक्तैः श्रवस्तर्पणः ।
जन्माचिन्त्यसुखप्रदः सुरचितारिष्टक्षयो वः सदा,
दाता शोभनवादिधीः कजदलायामेक्षणः संविदा ॥ २६ ॥
[कविनामगुप्तः]

श्रीमद्धामसमप्रविग्रह मया चित्रस्तवेनाऽमुना,
नूतस्त्वं पुरुहूतपूजित ! विभो ! सद्य प्रसद्यैधि माम् ।
ख्यातज्ञातकुलावतंस ! सकलत्रैलोक्यकूपान्तर-
स्फारक्रूरतरज्वरस्मरतरत्संरब्धरक्षारतः ॥ २७ ॥

वीरस्तवः

मुक्तोमन्दोदयोर्वी शमद कलकलाऽऽसातमोहारिदोऽश्री-
मुक्तोमन्दोदयोर्वीश मदकलकलासाऽस्तमो हारिदोश्रीः ।
नीरागो वर्धमानाऽयमहजयभयासामहीनः सुधीरा-
नीरागो वर्धमानाऽयमहजयभया साम हीनः सुधीरा ॥

प्रवरकुण्डनराधिपनन्दनं, वरमहाव्रतपद्मविकाशकम् ।
कृतसुराधिपमोक्षमहोत्सवं, चरमतीर्थपतिं सुतरां स्तुवे ॥ १ ॥

कणयसमसरीरं मोहमल्लेगवीरं, दुरियरयसमीरं पावदावग्गिनीरम् ।
सुगहियभवतीरं लोअलंकारहीरं, पणमह सिरिवीरं मेरुसेलेसधीरम् ॥

त्रिदशविहतमानं सप्तहस्तांगमानं, दलितमदनमानं सद्गुणैर्वर्धमानम् ।
अनवरतममानं क्रोधमत्स्यस्मानं, जिनवरमसमानं संस्तुवे वर्धमानम् ॥

भक्तितो मतिजुषो भजन्ति यं, वर्धमानमहमानमामि तम् ।
जन्तुजाततमसो निशातनं, वर्धमानमहमानमामितम् ॥

श्रीवर्धमान नतमानमशोध यन्ति, स्वैरं यशांसि भुवन तव शोधयन्ति ।
मुग्धा चकोरनिकरा शतशो धयन्ति, चन्द्र द्युतामपरदेवयशोधयन्ति ॥

मोहादतीतस्य तवेश ! वीर ! सुधीर ! सौभाग्यमुदममायात् ।
मुक्त्यंगनालोमन ! यः स्तुते स, सुधीरसौ भाग्यमुदमसायात् ॥१॥

(वीरस्य सप्तविंशतिभवोत्कीर्तनस्तवनम्)

पूर्वं त्वं नयसारभूपति १ रभूः सौधर्मवृन्दारक २ श्च्युत्वा नाम मरीचि ३ रत्र सुमनाः स्वेपञ्चमे ४ कौशिकः । ५ देवः प्राग्दिवि ६ पुष्पमित्र ७ इति यः सौधर्मकल्पे सुरो ८ ऽग्निद्योत ९ स्त्रिदशो द्वितीयतविषे १० विप्रोऽग्निभूत्याह्वयः ॥ ११ गीर्वाणस्तु सनत्कुमारत्रविषे १२ विप्रामणीर्नामतो, भारद्वाजगृही १३ चतुर्थतविषे लेखो १४ द्विज.स्थावरः । १५ नाकी पञ्चमके सुरालयवरे १६ श्रीविश्वभूतिर्नृपः, १७ शुक्रे निर्जरकुञ्जरो १८ ऽत्र भरते विष्णुस्त्रिपृष्ठोऽभवः १९ ॥ सप्तम्यां भुवि नारको २० मृगपति २१ स्तुर्यावनौ नारकी, २२ चक्री च प्रियमित्रकः २३ सुरवरः शुक्रे २४ नृपो नन्दनः २५ । श्रीपुष्पोत्तरके विमानकवरे श्रीप्राणतस्वर्गेनाकी २६ कीर्तितसप्तविंशतिभवो भूयाः स वीरः ! श्रिये ॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)

(शासनाधीशवर्द्धमानजिनस्तवनम्)

श्रीत्रिशल्य ! श्रितशुद्धजापकलो भवन्तं जिन ! यो जजाप । महाभतिरोपितसर्वपापव्रजो न कोऽपि नरः शशाप ॥ १ ॥ विलसत्कन्दूपस्य

मनस्यपापजनिर्भवान् सीयवचांस्युवाप । यतिभियः क्षितविश्वतापशिलं वचः शीततमं ललाप ॥ २ ॥ शुभा भवद्दृष्टिरितानुतापहेला जनं यं भगवन्नवाप ।. मत्ताशयः कोऽपि न हि प्रलापविपत्तिपचित्तमरिस्ततार ॥ ३ ॥ जज्ञे भवान् धीर ! लसत्कलाप ! यस्याशये प्रीणितसत्कलाप ! कृत्येष्वनैषद्विवदीयलापतिग्मद्युतिस्तं प्रणताचलाप ! ॥ ४ ॥ इति मुदितमनस्को मूर्धगाचार्यनामाऽक्षरकमलनिबन्धैर्बन्धुरैः संस्तुतो यः । कमलविजयसङ्ख्यावद्विनेयाणुरेणौ, स भवतु मयि देवो दत्तदृष्टिः सतुष्टिः ॥ ५ ॥ इति षोडशदलकमलबन्धबन्धुरं श्रीशासनाधीशवर्धमानजिनस्तवनम् ॥

अनवरतममरनरवरशतनतपदकमलयमल ! मलदलन ! अनपशदचरणचयमय ! ततरभरधरणधवल ! जय ॥ १ ॥ जयसरसवचनवशजन ! समधन ! सदवयवसरलकरचरण ! जलजदलनयन ! गतमल ! शशधरवरवदन ! गजगमन ॥२॥ जय सदय ! सनय ! भवदवकवलन [शमन] नवजलदसमयसम ! अचलबल ! सकलभयहर ! शमदमलयभवन ! जगदवन ! ॥ ३ ॥ अदमतमकरणगजगणखरतरखरनलरनखरभवधरण ! अवतमसमसममघमयमपहर मम समयतपनपद ! ॥ ४ ॥ हतसततभवजगमचर भव कर लसदभय दहन · कमनग ! अपनय मम भवरसमरमशरणजनशरण ! गतमरण ! ॥ ५ ॥ असदयवशभवदवकरगतरसदलपटलहरणखरपवन ! मम वचनमनसमहमहरवतर कनकनगवदतरल ॥ ६ ॥ जनमथनमदनधनमदफणधरगरलदरदमनपतगवर ! हतशकलमव मम जननजलगतलवणकणवदमलय ॥७॥ नमदमलनयनकजवनदशशतकरबहलगहनभवदहन ! अकरणगम-

परबलरणजयभट ! जय परमपदसदन ! ॥८॥ इति भक्तिरचित-विमलाक्षरमालया महावीर ! शुभभावदेवसूरिस्तुत ! केवलमक्षरं देहि ॥९॥

त्वया जितान्यदेवर्द्धिर्वर्धमानप्रभावतः । त्वयि देवाधिदेवत्वं वर्द्धमान ! प्रभावतः ॥ १ ॥ जातलक्ष्मीं तमो हर्तुं, वर्द्धमान ! प्रभो ! दयाम् । देहिमद्य विधेहि त्वं वर्द्धमानप्रमोदयाम् ॥ २ ॥ वीरो जिनपतिः पातु, तन्वानः काञ्चनश्रियम् । बिभ्रत्प्रेषु निस्सीमां तन्वा नः काञ्चन श्रियम् ॥ ३ ॥ वरिवस्यति यः श्रीमन्महावीरं महोदयम् । सोऽश्नुते जितसम्मोहमहावीरं महोदयम् ॥ ४ ॥

श्रीवीरजिनस्तवनम्

जय श्रीसर्वसिद्धार्थ ! श्रीवीर ज्ञातनन्दन ! सुमेरुधीर ! गम्भीर ! महावीर ! जिनेश्वर ! ॥ १ ॥ योऽप्रमेयप्रमाणोऽपि, सप्तहस्तप्रमोपितः, पूर्णेन्दुवर्ण्यवर्णोऽपि स्वर्णपर्णसवर्णकः । ॥ २ ॥ सदयं कौशिके भेके, सर्पे च कमसंस्पृशि । पीयूषवृष्टिसदृशा यं, दृशा दिशा विदुर्बुधाः ॥ ३ ॥ विष्टपत्रितयोत्सर्पत्तरङ्गदुत्तुङ्गकीर्तिना, सनाथं येन नाथेन, विश्वं विश्वम्भरातलम् ॥ ४ ॥ यस्मै चक्रे नमः सेवाहेवाकोत्सुकमानसैः । वीराय गतवैराय, मर्त्यामर्त्यासुरेश्वरैः ॥ ५ ॥ यस्माद्द्वेषादयो दोषाः, क्षिप्रं क्षीणाः क्षमासनेः । दोषा पूषमयूखेभ्य, इव हर्यक्षलक्ष्मणात् ॥ ६ ॥ यदेहद्युतिसन्दोहसन्देहितवपुर्वधौ, रविः खद्योतपोतपुल्याडम्बरविडम्बनाम् ॥ ७ ॥ भविनां यत्र चित्तस्थे, स्युर्धीऋद्धिसिद्धयः । तं वर्धमानमानौमि, वर्धमानसुभाजनः ॥ ८ ॥ इति यस्ते वास्तवं पठति वीर ! जिनचन्द्र ! जातरोमाञ्चः । यात्यपवर्गं स द्रुतमरङ्गगर्भारिवर्गजयी ॥९॥

सकलकमलदलकरपदनयन ! प्रहतमदनमद ! भवभयहरण ! सततमम्मरनरनतपदकमल ! जय जय गतमद ! मदकलगमन ! ॥ १ ॥ अमलकनकनगवर ! गतरमण ! क्षतजननमरण ! शमरससदन ! श्रमणकमलवनतपन ! गतभव ! भवभयमपहर मम जनमहन ! ॥ २ ॥ अभयद ! भवदरजलधरपवन ! सबलमदनवनदहनजलधर ! व्यपगतमद ! शशधरवर वदन ! जगदघहर ! जय ततनयसमय ! ॥३॥ तरलकरणहयवरदमनकर ! कनककजनवकगमन ! वरवचः ! प्रथमपरमपदमपदर धवलध्वज ! घनघनवररव ! जनशरण ! ॥ ४ ॥ परमपदरमण ! कमनकजरद ! शशधरकरहरनगधवलयशः परमतकजगज ! सकलजनमनः फलकरलसदमरनग ! रचय शम् ॥ ५ ॥

सिरिवद्धमाण सिरिवद्धमाण सिरिवद्धमाण जिणचंद। परमाणव परमाणव परमाणवर्णसि वेदिज्जा ॥ १ ॥ सुहसायर सुहसायर सुहसायर भवसमूहनिम्महण ! जयणायग जयणायग जयनायगइं निवारिज्जा ॥२॥ रयणायर रयणायर रयणायर नाणदंसणसिरीणं, सुरमोहण सुरमोहण सुरमोहणयं पयं कुज्जा, ॥ ३ ॥ सरणागय सरणागय सराणागयं वज्जपंजरपइट्ठ, कमलासण कमलासण कमलासण सरिसमहहुज्जा ॥ ४ ॥ सव्वविजय सव्वविजय सव्वविजय थुणियगरिठ्ठपहो, महसययं महसययं महसययं सिवपयं नयसु ॥ ५ ॥

परिशिष्ट नं० ४–हिन्दी कविता विभाग

(महावीर प्रभाती)

श्रीमहावीरजी कृपा करो अब, मैं आधीन तुम्हारा ॥टेक॥ सिद्धार्थराजा के नन्दन, त्रिशला अगज प्यारा ! कंचनवरणी काया सोहे, रहे जगत् से न्यारा

आयंबिल उनत्तीस उदार ॥ ६ ॥ नित भोजन वीरजीए नहीं करयो, न लियो चौथो आहार। थोडो तप वेलो कियो, सगलो तप चौविहार ॥ ७ ॥ मनुष्य पशु देवे जे दिया, सह्या परिसह ते आप, दोय घडी उपरांत नींद नवी लही, पट् दोय वेरे पाख ॥ ८ ॥ वीरजी कीधा तीनसे पारणा, अने वली उनपंचास, इण वले स्वामी केवल पामियो, विचरया देश मंझार ॥ ९ ॥ बारा परिषद नर नारी सांभले, वीर तणो समास, शूरवीरोए तप कियो, पट् ऋतु मन हुलास ॥ १० ॥ गणधर ग्यारा जाणिए, चवदा सहस्र अणगार, सहस छत्तीस वीरजी रे साध्वियां, ते प्रणमूं सुखकार ॥ ११ ॥ लाख श्रावक पडिमाधरें, ऊपर उनसठ हजार, तीन लाख तेहनी श्राविका, अडपुनी सहस अठार ॥ १२ ॥ धन्य त्रिशलादेवी मातने, धन्य सिद्धार्थ राय, ज्ञातनन्दन धन्य जन्मियां, नाम लियां जाय पाप ॥ १३ ॥ गौतम आदिक सातसो केवली, अजियां चउदासो सार, निजकर दीक्षित एटला पहुचां मुक्ति मंझार ॥ १४ ॥ (कलश) इम वीर जिनवर सकल सुखकर, एवा दुक्कर तपकरी। संयम पाली कर्म गाली स्वामी शिवरमणी वरी। सेवक यूं जंपे वीर जिनवर! चरण सेऊं तुम तणां। संसार सागर पडत राखो, टालो स्वामिन्! दुरमनां ॥ १५ ॥

(दीवाली)

पूर्व दिशामें हुई पावापुरी, धन्य धान्य ऋद्धि समृद्धिं भरी, हस्तीपाल वसे तिहां भूपाली, वीर मुक्ति विराजे दिन दिवाली ॥ गौतमने सेवाकी मनमानी, एक रातमें हुए केवल ज्ञानी, चौदाराजु रह्या भाली ॥ वीर० ॥ १ ॥ अठारह राय हुआ भखा, दोय दोय पोसा कीना लगता। वीर सन्मुख रह्या निहाली ॥ वीर० ॥ २ ॥ दिन दोयरो संथारो लीझो, सोल्य पहर लगे उपदेश दीधो। प्रभु मुक्ति गया कर्मने बाली ॥ वीर० ॥ ३ ॥ सातसे चेला ने चवदासो चेली, जाने मुक्ति महलमें दिया मेली, ज्यांरा कर्मांरा बीज दिया बाली, वीर० ॥ ४ ॥ प्रभु तीसवर्षवये संयम लीधो, निज आत्म कार्यने सिद्धकीधो, वर्ष बयालिस दीक्षा पाली, वीर० ॥ ५ ॥ एक राणी वरी हुई एक बेटी, जिके मुक्तिगयां दुख दिया मेटी, जामाता हुओ ज्यांरो जमाली, वीर० ॥ ६ ॥ प्रभुने एक बहन अने एक भाई, जिके खर्गे गया समकित पाई। श्रावकना

मव शुद्ध पाळी, वीर० ॥ ७ ॥ ऋषभदत्तने देवानन्दा माता, नयणां निरखी पावें साता, दोऊ मुक्तिमए दुःख दिया टाळी, वीर० ॥ ८ ॥ सिद्धार्थराज त्रिशला राणी, साथे संथारो कियो समता आणी, १२ वें देवलोके उपज्या चाळी, वीर० ॥ ९ ॥ जिण रातमें वीरे मुक्ति पामी, केवलज्ञान लियो गोतमस्वामी, ज्यारों जापजपो नवकरवाळी, वीर० ॥ १० ॥ सुधर्मा. स्वामी हुआ पाट धणी, ज्यांरी यशकीर्तिने महिमा घणी, जिनमार्ग दियो उजवाळी, वीर० ॥ ११ ॥ ज्यांरे पाटे जंबू वैरागी, आठराणी परणीने प्रभाते त्यागी। सोल्ह वर्षमें काटी कर्म जाळी, वीर० ॥ १२ ॥ आठों भामिनी वैरागे भीनी, मातः पितासाथे दीक्षालीनी, माता . पिताने संयम पण लियो झाळी, वीर० ॥ १३ ॥ प्रभव पण राजानो बेटो, जिणरो जंबू कवँर से हुओ भेटो, पांचसे सुं वैराग्य पाया तत्काळी, वीर० ॥ १४ ॥ वीश जिन सम्मेदशिखर सीझा, अष्टपद गिरनार दोय सीझा, वासुपूज्य सीझा चम्पा चाळी, वीर० ॥ १५ ॥ महावीर गए मुक्ति पावापुरी, कार्तिक वदी अमावस्याने मुक्तिवरी, सुनतां भणतां मंगल माळी, वीर० ॥ १६ ॥ दिन दिवाळीरोपायो टाणो, रात्रि भोजन पण नहीं खाणो, ज्यांरो जापजपो शीलव्रतपाली, वीर० ॥ १७ ॥ गुरुचेलारी जोडी सूर्यवासी, ऋषि रायचंद्र कहें मारे मनमेंवसी, मुक्तिसे जोड जोडी टंकसाली, वीर० ॥ १८ ॥

(दिवालीका दिन बडा)

दोहा—भजन करो भगवान् का, गणधर गोतम स्वामी, जग प्रगटे तारन तरन, नित उठ करो प्रणामि ॥ १ ॥ दीवाली दिन आवियो, रास्तो धर्ममें धीर, गौतम केवल पामियो, मुक्ति गये महावीर ॥ २ ॥ दीवाली का दिन बडा, मत कर मोटे पाप, निन्दा विकथा परहरो, करो जिनजीरो जाप ॥ ३ ॥ दीवाली दिन आवियो ॥ टेक ॥ सामायिक पोषध करो, पडिकमणो दोकाल, इम आतम उजवालजो, हृदय मत करो ख्याल ॥ ४ ॥ नव मल्लीने नवलच्छी, देस अठारांना राय, वीर समीपे आविने, दीधा पोषध ठाय ॥ ५ ॥ कार्तिक वदी अमावस्या, टाल्या आतम दोष, भव जीवांने तारने, वीर पहुंचा मोक्ष ॥ ६ ॥ देवदेवी घणा आविया, लागी जगमग ज्योति। अचरज एक थयो तिहां, रत्नां तणो उद्योत ॥ ७ ॥ मोह कर्मने टालने, ध्यायो शुक्ल ध्यान। अनिल

पणो भायो इस्यो, पाम्यो केवल ज्ञान ॥ ८ ॥ मोक्ष नगर का दायका, भगवान् श्रीमहावीर, तेहना मुख आगल हुवा, गौतम स्वामी वजीर ॥ ९ ॥ मोटा जिन शासन धनी, पहोंचा शिवपुर ठाम । गौतम लब्धि तणा धणी, जगमें व्याप्यो नाम ॥ १० ॥ तिन कारण मंगलीक दिन, नाम जपो मनवीर । आरंभ समारंभ छोडिने, निर्मल पालो शील ॥ ११ ॥ वार २ मानुष देही, पामशो नहीं रे गवाँर, डोरा डांडा राखडी, मंत्र यंत्र निवार ॥ १२ ॥ झाडा झपटा मत करो, मत करो षट् काय घात, चार जाप जपो भला, मोटी दिवाली की रात ॥ १३ ॥ काया रूपी देहरो, ज्ञान रूप जिन देव, सत्त सज्झाय झांझझरी, कर सेवा नितमेव ॥ १४ ॥ दया रूपी दिवलो करो, संवर रूपी वात, समकित ज्योति उजाली ने, ज्यों मिथ्या तम नश जात ॥ १५ ॥ संवर रूप करो कांकणो, ज्ञान रूपी करो तेल, आठ कर्म प्रज्वलित करो, घोर अंधेरो ठेल ॥१६॥ काया हाट तेल जालणो, ज्ञान वस्तु महिं सार, क्षरण करो जिनराजनो वाणिज्य परउपकार ॥ १७ ॥ धीरज मन घर धूपणो, तप कर भगरज खेय, दशधाधूप ज्ञान जल थकी, इम सेवा नितदेव ॥ १८ ॥ सीमंधर आदि देहने, जघन्य जिनेश्वर वीश, अढाई द्वीपमें परगड्या, उत्कृष्ट एकसो विवेर ॥ १९ ॥ भजन करो भगवान् को, ज्यूं थारो सुधरे काज, काल अनन्त गयो वृथा, अवसर आव्यो हाथ ॥ २० ॥ हिंसा से देव राजी हुए, भोला ! यह मत भूल, सांचोमन नवकारनो, एम चढावो फूल ॥ २१ ॥ दुःख कोईने देणो नहीं, प्रवचन सामो निहार, जिनवरना गुण गूंथिने, ऐसी चढाओ माल ॥ २२ ॥ दानशील तप भावना, मनवच काय शुध्याय, ज्ञान दर्शन चरित्रना, यह तू अक्षत चढाय ॥ २३ ॥ करण करावण अनुमोदना, हणवो जीव न होय, नव तत्व धारो निर्मला, एहवो नैवेद्य होय ॥ २४ ॥ अवली मत संसारनी, धन लक्ष्मी के काज । टिचकारा करतां थकां, पीठा कूटे छाज ॥ २५ ॥ टिचकारा करता थकां, दाव पाछा फीरे जाय, लक्ष्मी इम करतां थकां, किम पैसे घर मांय॥ २६ ॥ लीपणो दोलणो मांडणो, करो जीवांरो जतन, भव भव मांहि दोहिलो, मानव भव रतन ॥ २७ ॥ वाणी श्री जिन देवकी, मुख उघाडे मत गाय, यत्ना करजो जुगत स्युं, ज्यों शिव मंगल थाय ॥ २८ ॥ भाख्यो दिवाली दिन मोटको, बांधे पापना पूर । इम करतां रे प्राणियां, शिवपुर करे दूर ॥ २९ ॥ ज्ञान रूपी दिवलो करो, तपसा कर उज्वाल, नियम व्रत कर

मंडणां, विनय विवेक घी घाल ॥ ३० ॥ क्षमारूपी खाजला करो, वैराग्य घृत भरपूर, उपशम मोण घालने, शुद्धमन मोतीचूर ॥ ३१ ॥ भाव दिवाली इम करो, उतरो भवजल पार, जप तप सेवा भावसुं, लाहो ल्यो तुमलार ॥ ३२ ॥ दीवाली दिन जाणिने, धन्य निजघर माहीं, धर्मध्यान मनआदरो, अजर अमर पद पाही ॥ ३३ ॥ पूजे दिवाली ने दिने, बही लेखनी मषीपात, एम ज्ञानने पिण पूजजो; साधे पुण्यना ठाठ ॥ ३४ ॥ पर्व दिवाली जाणिने, उजलावे घर हाट, इम तुम मत उज्वालजो, दीपे अधिकी बात ॥ ३५ ॥ घर कुटुंब धन वालहा, जिम वाल्हा लागे तोय, तैसो नेह करो धर्मसुं, ज्यों मुक्ति सुख होय ॥ ३६ ॥ आग्या धर्म खुदका करे, तो बोलो मतिराव, जो अयंयति जागसी, करसी छ कायानीघात ॥ ३७ ॥ ध्यान स्वाध्याय भली करो, सुणो बोल ने चाल, आजनो दिनछे मोटको, दीवालो मत घाल ॥ ३८ ॥ पर्व दिवाली जाणने, सार पाशा मत भूल, धर्मध्यान ध्याओ सदा, नफो धर्म नो मूल ॥ ३९ ॥ चैत्र सुदी तेरस दिने, जनम्या श्री वर्धमान, कार्तिक वदी अमावस्या, पाम्या मोक्ष निदान ॥ ४० ॥ मनुष्य जन्म छे दोहिलो, पाम्यो आरज खेत जोग मिल्यो साधां तणो, चेत सके तो चेत ॥ ४१ ॥ सेवाकरो सुगुरु तणी, साम्भो ज्ञान मन घेर, दोय घड़ी शुद्ध भावसुं, नवकरवाली फेर ॥ ४२ ॥ अंग उपांगने छदमें, जीव दया व्रत पाल। तातें ऋषि जयमल कहे, इसी दिवालीने मान ॥ ४३ ॥

(महावीर स्तवन)

वीर जिनेन्द्र शासन धणी, जिन त्रिभुवनस्वामी। ज्यारे चरण कमल चित लित धरूं, प्रणमूं शिरनामी। सुर स्थिति नगरी पिता मात चिन्ह अवगाहना, वर्ण आयु पुनी कुमर पद तपका परमाना। चारित्र बल प्रभु गुण घणा है छद्मस्थ केवल ज्ञान, तीर्थ गणधर केवली जिन शासन परमाण ॥ १ ॥ देवलोक दशवें बीस सागर पूर्णस्थिति पाए, कुन्डनपुर नगरी में चवी श्री जिनवर आए। पिता सिद्धार्थ पुत्र, मात त्रिशलादेवी नन्दा, जननी कुक्षिमें अवतरे श्रीवीर जिनन्दा। ज्यारे चरण लक्षण सिंहनोए अवगाहना कर सात, तन कंचन करी शोभता, ते प्रणमूं जगनाथ, ॥ २ ॥ बहुत्तेर वर्षनो आऊखो पायों सुखकारी, तीसवर्षकेवलपदे रह्या अभिग्रह धारी। उपसर्ग परिषह सहन करत पुनी शमरस भीनो, अनन्तबली भगवन्त जान वीर नाम सुदीनो,

ज्यांरा मातपितां स्वर्गति लह्याए, पुनी लियो संयम भार। तपसा कीधी आकरी, साढा बारह वर्ष मझार, ॥ ३ ॥ नव चौमासी तप कियो, इक कियो छमासी। पांच दिन ऊणां अभिग्रह। षद्द मास विमासी। एक एक मासी तप कियो, प्रभु द्वादश विरियां। बहत्तर पक्ष दोय २ मास छविरिया करियां। दोय अढाई दिन दोय ए वली डोढमासी दोय। भद्र-महाभद्र शिवभद्र तप करी, इम सोलह दिन होय, ॥ ४ ॥ भिक्खुनी पडिमा अठ भजिनी द्वादश कीनी। दोयसे ने गुणतीस छठम तप गिनती लीनी। ग्यारह वर्ष छमास पचिस दिन तपसा केरा। ग्यारह मास उगणीस दिवस पारणा भलेरा। इन विधि स्वामी तप कियोए पछी उपज्यो केवलज्ञान। तीस वर्ष ऊणां विचरिया, ते प्रणमूं वर्धमान, ॥ ५ ॥ प्रथम 'अस्थि' बीजो 'चम्पा' दो कहिए, 'वैशाला' ने 'वाणिज्य' दो मिल। द्वादश लहिए। चतुर्दश 'नालंदे' पाडे 'मिथिला' छभणिया, 'भद्दलपुरमें' दोय, सबे मिल अडतिस गिणिया। एक 'आलंभिका' एक 'सावत्थी', एक अनार्य में जाण, चरमचौमासो 'पावापुरी' जहां पहुंचे निर्वाण ॥ ६ ॥ मुनिवर चवदे सहस, सहस छतीस आर्यिका, इकलख गुणसठ सहसश्रावक, तीनलाखश्राविका, अधिक अठारह सहस ग्यारह गणधर की माला, गोतमस्वामी शिष्य बडा, सती चन्दनबाला। ज्यारे केवलज्ञानी सातसो, प्रभु पहोंचे निर्वाण। शासन वर्ते स्वामीनो, अब्द इकिस सहस्र प्रमाण ॥ ७ ॥ पूर्वी तीनसो धार, तेरासो अवधि ज्ञानी, मन पर्यव पांचसे जान, सातसो केवलज्ञानी ॥ विक्रिया लब्धिधरा जान, सातसो मुनिवर कहिए। वादी चारसो बडे, भिन्न भिन्न चरचा लहिए ॥ एकाकी चारित्र लियो, एकाकी निर्वाण। चोसठ वर्ष तक चालियो, दर्शन-केवल ज्ञान ॥ ५ ॥ बारह नरबल वृषभ, वृषभ दश ज्यों ए हय ना, बारह हय एक महिष, महिष पांचसो मुं गयवर। पांचसें गज हरि एक, सहस हरि इक अष्टापद, दश लख अष्टापद एक राम, दोय राम एक वासुदेव। दोय वासुदेव एकचक्री, क्रोड चक्री इक सुर लियो, कोडी सुरां इक इंद अनन्तामुं नहीं नमे, चिट्ठी अगुठी अग्र जिनेंद्र ॥ ९ ॥ आप तणां प्रभु गुण अनन्त, कोई पार न पावे, लब्धि प्रभावे कोडि, च्यार कोडी सीस बनावे। सिर २ कोडा कोडी वदन, कोड कोड जिभ्यानी, जिभ्या २ मुं कोड २ गुण करे गुणानी। कोडा कोडी सागर लगेए, करे ज्ञान गुण गार। आपतणां प्रभु गुण अनन्त, कोई कहत न आवे वी पार ॥ १० ॥

चवदे राजु लोक भरे बाउरा कनियो, सर्व जीवनी रोमराय नहीं भावे शिषिया । एक बाहु तप करे, गुण गण करे अत्यन्त, पूज्य प्रसाद ऋषि बालचंद कहे नहीं आवे अन्त । संवत् १८६२ एमास शु मृगशिर चंद ।- रतनपुरे गुणगाविया, धन २ वीर जिणंद ॥ ११ ॥

वीरस्तुति-परिशिष्ट नं० ५

शान्तरसपूर्ण शान्तिप्रकाशः

प्रार्थनाष्टकम्-

प्रेमसहित वन्दौं प्रथम, जिनपद कमल अनूप ।
जाके सुमरत अधमनर, होवत शांत सरूप ॥ १ ॥
पूर्वं नमामि सस्नेहं, जिनाङ्घ्रिकमलं शुभम् ।
यत्स्मृत्वा नरा नीचा, जायन्ते शान्तिरूपकाः ॥ १ ॥
तुम शरणे आयो प्रभु, राख लेऊ निज टेक ।
निर्विकल्प मम सिद्धजी, देयो विमल विवेक ॥ २ ॥
शरणं ते प्रभो ! प्राप्तः, रक्षस्व निजभावुकः ।
कल्पनातीतसिद्धेश ! बोधं वितर निर्मलम् ॥ २ ॥
करूं वंदना भावयुत, त्रिविध योग थिर धार ।
रतन ! रतन सम देय मुझ, ज्ञान अयाहर सार ॥ ३ ॥
कृत्वा स्थैर्यं त्रियोगेण, प्रभावं प्रणमाम्यहम् ।
देहि मे रत्न ! विज्ञानं, रत्नतुल्यं शुभं परम् ॥ ३ ॥
उपाध्याय अध्ययन श्रुति, निशिदिन करत अभ्यास ।
दीनबन्धु मुझ दीजिए, शम दम ज्ञानविलास ॥ ४ ॥
श्रुताध्ययनसन्निष्ठा, नित्यमभ्यासितत्पराः ।
उपाध्यायाः प्रदद्यातु, ज्ञानं शान्ति दमं वरम् ॥ ४ ॥
सो साधु बाधा हरो, कर्मशत्रु रणजीत ।
निपुण जौहरी ज्यों लख्यो, आतम रतन पुनीत ॥ ५ ॥
कर्मशत्रुं रणे जित्वा, दक्षजौहरिवत्प्रभुः [?] ।
आत्मरत्नं शुभं वेत्तु, वीक्षितं साधवो [?] ॥
साधवः कृपया ह्यद्य, मम बाधां हरन्तु ते ॥ ५ ॥

अधिक प्रिय नव रसनमें, है रस शान्ति विशेष ।
स्थायी भाव निर्वेदसे, मेटो सकल कलेश ॥ ६ ॥
नवस्वपि रसेष्वत्र, श्रेष्ठः शान्तो विशेषतः ।
निर्वेदात्स्थैर्य्यमायातः, कृत्स्नं क्लेशं हरत्वयम् ॥ ६ ॥

विकलमति अभिलाष अति, कपटक्रिया गुणचोर ।
मैं चाहत कछु शान्त रस, तुमसे करी निहोर ॥ ७ ॥
महेच्छुर्विमतिः स्वामिन्! निर्गुणो दम्भसंयुतः ।
त्वां प्रणिपत्य याचेऽहं, किञ्चिच्छान्तं रसं प्रियम् ॥ ७ ॥

कापे जाचुं जायकर, तुम सम नहीं दातार ।
करुणानिधि करुणा करी, दीजे शान्त विचार ॥ ८ ॥
गत्वाऽहमत्र कं याचे, त्वत्समो नहि दायकः ।
दयानिधे! दयां कृत्वा, शान्तिं मे यच्छ सुस्थिराम् ॥ ८ ॥

मैं गुलाम हों रावरो, मेरो विगरत काज ।
ताहि सुधारे बनि रहे, मेरी तेरी लाज ॥ ९ ॥
दासोऽस्मि ते प्रभोऽहं वै, कार्यं नश्यति मेऽधुना ।
साफल्ये तस्य मे ते वै, लज्जा स्थास्यत्यसंशयम् ॥ ९ ॥

शान्ति छवि निरखत रहूं, जाचूं नहीं कछु और ।
अरजी हुकम चढाय द्यो, पड्यो रहूं तुम पौर ॥ १० ॥
नान्यत्किमप्यहं याचे, याचेऽहं केवलं विभो!
लोकेऽस्मिन्वीक्षणं युष्माः, शान्तेरस्तु सदा मम ॥
आवेदने मयाऽऽदेशस्त्वया देयः प्रभो! ह्ययम् ।
भूत्वा चैवं कृतार्थोऽहं, द्वारे तिष्ठामि ते सदा ॥ १० ॥

जिहिं गुणतें खुश होहु तुम, सो गुण नहिं लवलेश ।
तुम चर्णन आश्रित रहूं, सो बुध देहु जिनेश ॥ ११ ॥
प्रसादस्ते गुणेन स्याद्येन स्वल्पोऽपि मे स न ।
मतिर्जिनेश! सा देया, यया स्यां चरणाश्रितः ॥ ११ ॥

तडफत दुःखिया मैं अति, पलक परत नहिं चैन ।
अब सुदृष्टि करि निरखिए, ढीले रहे बने न ॥ १२ ॥

विकलोऽस्मीव दुःखेन, सुखं प्राप्नोमि न क्षणम् ।
अधुनेक्ष्यः सुदृष्ट्याऽहं, स्थिर्दिनोऽपि क्षणे कृते: ॥ १२ ॥

यह सम्बन्ध भलो बन्यो, हम तुमसौं सर्वज्ञ !
त्यागे ताहि न संग रखे, पिता पुत्र लखि अज्ञ ॥ १३ ॥
मया त्वया च सर्वज्ञ ! जातः सङ्गः सुशोभनः ।
नो त्याज्यश्च सदा रक्ष्यः, पित्राऽज्ञोऽपि पुत्रकः ॥ १३ ॥

मेटहु कठिन कलेश तुम, परमातम परमेश !
दीन जानिकर बकसिये, दिन दिन ज्ञान विशेष ॥ १४ ॥
परमात्मन् ! परेश ! त्वं, क्लिष्टं क्लेशं विनाशय ।
दीनं ज्ञात्वा च देहि त्वं, नित्यं ज्ञानं शुभं मम ॥ १४ ॥

कृपा करो निर्बुद्धि पै, लखुं जुं अनुभय रीति ।
अशुभ और शुभ देखके, करूं न कबहुं प्रीति ॥ १५ ॥
कुरु कृपां च निर्बुद्धौ, येनेक्षेऽनुभयक्रमम् ।
वीक्ष्याऽशुभं शुभं चैव, कुर्य्यां नो तत्र संरतिम् ॥ १५ ॥

सब प्रकार धनवन्त हो, सुनहु गरीब निवाज !
आरत-रुद्र कुध्यानतें, बकसि बकसि महाराज ॥ १६ ॥
शृणु त्वं दीनबन्धोऽसि, सर्व्वैश्वर्य्यसंयुतः ।
आर्तरौद्रात्कुध्यानाच्च, सदा वारय मां प्रभो ! ॥ १६ ॥

धर्म शुक्ल ध्यावत रहूं, दोय ध्यान सुखकार ।
या जग ममता उदधि तें, दीजे पार उतार ॥ १७ ॥
ध्यायामि सुखदं ध्यानं, धर्म्यं शुक्लं च नित्यशः ।
निस्तारय विभो ! मां तु, लोकसम्मोहसागरात् ॥ १७ ॥

करुणा करिके मेटिये, विषय वासना रोग ।
मैं कुपथी वेदन प्रबल, लखि मत जोग अजोग ॥ १८ ॥
दयां विधाय देव ! त्वं, विषयेच्छामयं हर ।
ममोन्मार्गस्य सम्बाधो, योग्यायोग्यं न पश्य भो ॥ १८ ॥

मैं गरजी अरजी करूं, सुनिहो जग प्रतिपाल !
चाह सतावे दास कौं, यह दुःख दीजे टाल ॥ १९ ॥

निवेदयाम्यहं हर्षा, शृणु ! त्वं लोकपालक ! ।
तपस्तु बाधते दासं, दुःखमेतद्विनाशय ॥ १९ ॥

प्रभु तव सन्मुख हो रहूं, जगकूं देऊं पूठ ।
कृपादृष्टि अस करहु तुम, ज्युं भव जावे छूट ॥ २० ॥

लोकं तु पृष्ठतः कृत्वा, त्वत्समक्षः प्रभो ह्यहम् ।
स्वामेवं तु कृपादृष्टिः, कर्तव्या भवमोचनात् ॥ २० ॥

मैंने जे कुकरम किये, दीसत हैं सब तोय ।
महर करो ज्यूं दीन पें, फेर न दुःख दें मोय ॥ २१ ॥

मया कृतानि पापानि, सर्व्वाणि देव ! पश्यसि ।
तथा दीने कृपा कार्य्या, बाधन्तां नो यथा पुनः ॥ २१ ॥

बिपति रही मो घेरके, सुनी न अजहु पुकार ।
मेरी बिरियां नाथ तुम, कहां लगाई बार ॥ २२ ॥

नाधुनाप्यशृणोर्लर्यं, विपन्मां परितः स्थिता ।
मम वारे त्वया नाथ ! विलम्बं क्रियते कथम् ॥ २२ ॥

ऐसी बिरियां में किधौं, टरि गये दीनदयाल ।
बिना कह्यां कैसे रहूं, अब तो करि प्रतिपाल ॥ २३ ॥

ईदृश्या किल वेलायां, दीनबन्धो ! कुतस्त्वगाः ।
उक्त्या विना कथं स्थेयामधुना रक्ष मां विभो ॥ २३ ॥

जो कहलाऊं और पे, न मिटे मम उर झार ।
मेरी तेरे सामने, मिटसी मनकी रार ॥ २४ ॥

अन्येनोक्तौ न शान्तः स्याच्चित्तोद्वेगः कथंचन ।
समक्ष एव चातस्ते, मनोवादो* विनङ्क्ष्यति ॥ २४ ॥

दुष्ट अनेक उधार के, थकि रहे किधौं दयाल ।
धीरे धीरे तारिये, मेरो भी लखि हाल ॥ २५ ॥

गतिं ममाऽपि संवीक्ष्य, शनैः सन्तारय प्रभो !
उद्धार्य्योऽनेकदुष्टान्वा, जातः श्रान्तो दयानिधे ! ॥ २५ ॥

॥ इति प्रार्थनाष्टम् ॥

---

* मनका झगडा ।

॥ अथ रागनिवारणाङ्गम् ॥

अरे जीव भव वन विषे, तेरा कवण सहाय ।
जाके कारण पचि रह्यो, ते सब तेरे नाय ॥ २६ ॥
भवारण्येऽत्र रे जिव ! सहायः कोऽस्ति ते वद ।
यदर्थं खिद्यसे नित्यं, तव ते सन्ति नो भुवि ॥ २६ ॥
संसारी को देखले, सुखी न एक लिगार ।
अब तो पीछा छोडदे, मत धर सिर पर भार ॥ २७ ॥
पश्य संसारिणं जीवं, न कोऽपि सुखभाग्भुवि ।
अनुरुध्यति त्यजेदानीं, शीर्षे मा धर भारकम् ॥ २७ ॥
झूंठे जगके कारणे, तू मत कर्म बंधाय ।
तू तो रीता ही रहे, धन पेला ही खाय ॥ २८ ॥
मिथ्यासंसारशुद्धिस्य, कर्मबन्धं तु मा कुरु ।
रिक्तो यास्यसि जीव ! त्वं, भोक्ष्यन्ते हीतरे धनम् ॥ २८ ॥
तन धन संपद् पायके, मगन न हो मन मांय ।
कैसे सुखिया होयगा, सोवत *लाय लगाय ॥ २९ ॥
तनुं वित्तं विभूतिं च, लब्ध्वा हृष्टस्तु मा भव ।
वह्निं प्रज्वाल्य शेषे किं, स्वास्यसि त्वं कथं सुखी ॥ २९ ॥
ठाठ देख भूले मति, यह पुद्गल पर्याय ।
देखत देखत ढाहसे, जासी थिर न रहाय ॥ ३० ॥
भूतिं दृष्ट्वा भ्रमाय त्वं, मेवं जाला तु पुद्गलैः ।
नंक्ष्यति पश्यतस्ते वा, न स्थिरेयं कदापि च ॥ ३० ॥
लूटेंगे ज्ञानादि धन, ठगसम यह संसार ।
मीठे वचन उचारिके, †मोह फांसी गल डार ॥ ३१ ॥
प्रियं प्रोच्य गले मोहपाशं क्षिप्त्वा त्विमे जनाः ।
ज्ञानादिधनहर्तारं ते, करिष्यन्ति प्रवञ्चकाः ॥ ३१ ॥
कियौं मूत तोकों लग्यो, करे न तनक विचार ।
ना माने तो परखले, मतलबको संसार ॥ ३२ ॥

---

* पृष्ठतो गमनम् । † आग ।

कैसे गाफिल हो रहा, नेडा आत करार ।
निपजी खेती देय क्यों, चाटी सटे गवाँर ॥ ३९ ॥
अमत्तोऽसि कथं आतरायात्याश्रुतमन्तिकम् ।
प्रतियच्छसि रौप्यार्थं *कथं सञ्जातशस्यकम् ॥ ३९ ॥
धर्मविहार कियो नहीं, कीन्हो विषय विहार ।
गांठ खाय रीते चले, आके जग हटवार ॥ ४० ॥
धर्माचारः कृतो नाऽत्र, विहारो विषये कृतः ।
लोकापणे समागत्य, मूलघ्नी †रिक्तको गतः ॥ ४० ॥
काज करत पर घरनके, अपनो काज विगार ।
सीत निवारे जगत्का, अपनी झौंपरी वार ॥ ४१ ॥
विनाश्य त्वं स्वकं कार्य्यं, कुरुषे परकार्यकम् ।
कुटीं निजां तु सञ्ज्वाल्य, लोकशीतं व्यपोहसि ॥ ४१ ॥
नहिं विचार तैंने किया, करना था क्या काज ।
उदय होयगा कर्मफल, तब उपजेगी लाज ॥ ४२ ॥
आसीत्किं तव कर्त्तव्यं, कृता नाऽस्य विचारणा ।
कर्मविपाककाले च, व्रीडां यास्यसि वै सखे ! ॥ ४२ ॥
झूँठी संसारीनकी, छूटेगी जब लाज ।
तब सुखिया तू होयगा, इनते अलगा भाज ॥ ४३ ॥
असत्संसारिभोगानां, यदा नंक्ष्यति वै रुचिः ।
एतेभ्यस्तु पृथग्भूत्वा, तदा सौख्यमवाप्स्यसि ॥ ४३ ॥
अपनी पूंजी सौं करो, निश्चल कार विहार ।
बांध्या सोही भोगले, मत कर और उधार ॥ ४४ ॥
आत्मीयेनैव वित्तेन, कार्यमाचर निश्चलम् ।
बद्धमेव हि भुंक्ष्व, ऋणमन्यत्तु मा कुरु ॥ ४४ ॥
नया कर्म ऋण काढके, करसी कार विहार ।
देणा पडसी पारका, किम होसी छुटकार ॥ ४५ ॥
कर्मर्णं नूतनं कृत्वा, यदि कार्यं विधास्यसि ।
उद्धारस्तु कथं भावी, दातव्यं स्यात्परस्य यत् ॥ ४५ ॥

---

* करपद्धिकार्थमिति भावः । † मूलद्रव्यं भुक्त्वा ।

विषय भोग किम्पाक सम, लखि दुःख फल परिणाम।
अब विरक्त तू होयगा, तब सुधरेगा काम ॥ ४६ ॥
भोगः किम्पाकतुल्योऽस्ति, तदन्ते वीक्ष्य सङ्कटम्।
विरक्तस्तु यदा भावी, तदा कार्य्यं तु सेत्स्यति ॥ ४६ ॥

अरे! मन मेरे पथिक, तू न जाव वहँ ठोर।
बटमारा पांचों जहां, करें साहकों चोर ॥ ४७ ॥
मम पाथ मनस्त्वं रे! गच्छ मा तत्र कर्हिचित्।
दस्यवो यत्र पञ्चापि, साधुं चौरं प्रकुर्व्वते ॥ ४७ ॥

आरम्भ विषय कषायकों, कीनी बहुतिक बार।
कारज कछु सरिया नहीं, उलटा हुवा स्वार ॥ ४८ ॥
भोगारम्भकषायास्तु, बहुशो विहितास्त्वया।
कार्यसिद्धिस्तु नो जाता, जातः प्रत्युत लज्जितः ॥ ४८ ॥

चारों संज्ञामें सदा, सुते निपुण चित्त लाग।
गुरु समझावें कठिनसों, उपजे तउ न विराग ॥ ४९ ॥
प्रबोधयति सञ्ज्ञाभिर्गुरुश्चतसृभिर्ध्रुवम्।
ज्ञानाच चित्तवैराग्यं, जायते ते तथापि नो ॥ ४९ ॥

खैर हुआ जो कुछ हुआ, अब करनो नहिं जोग।
बिना विचारे तैं किया, ताका ही फल भोग ॥ ५० ॥
अस्तु जातं तु यज्जातं, प्रमादं माधुना कुरु।
असमीक्ष्य कृतं यत्तु, भुंक्ष्व तस्य फलं ध्रुवम् ॥ ५० ॥

इति रागनिवारणाङ्गम्

अथ द्वेषनिवारणाङ्गं कथ्यते

बुरो कहे कोऊ तो भलीं, तो तू भला जु मान।
बूरा मीठा होतहे, सब बनिहै पकवान ॥ ५१ ॥
अप्रियं *वक्ति यस्तुभ्यं, त्वं तु जानीहि तत्प्रियम्।
†बूरा ‡मिष्टं भवत्यत्र, पक्वान्नं तेन जायते ॥ ५१ ॥

* 'बुरा' इति भाषायाम्। † 'भला इति भाषायाम्। ‡ 'बुरा'। इति
छन्दस दीर्घोकारत्वेन प्रयोगस्तदा भाषाया शर्करापर्यायः।

कटु तीक्षण अति विषभरी, गाली शस्त्र समान।
अशुभकर्म गुम्मड भिदो, यों जिय सुलटी जान ॥ ५२ ॥
कटुस्तीक्ष्णा विषोपेता, शस्त्रतुल्या हि गालिका ।
शुभेति तां विजानीहि, स्फोटो भिन्नः कुकर्मजः ॥ ५२ ॥

कटुक वचन कोऊ कह दिया, लगे जु दिलमें तीर।
समदृष्टि यों समझले, मोय जान्यो अतिवीर ॥ ५३ ॥
कटूक्तिः परसम्प्रोक्ता, बाणवद्भिनत्ति सा ।
समदर्शिर्विजानीयाज्ज्ञातोऽहं वीरसुस्तवकः ॥ ५३ ॥

वैरी होता तो कवहु, नहीं कहता कटु बात।
सज्जन दीसत माहरो, रुज लखि कटुक खवात ॥ ५४ ॥
अभविष्यद्दयं शत्रुर्नावदिष्यत्तदा कटुः ।
सज्जनो दृश्यते मेऽयं, कटुवाशयति रोगहृत् ॥ ५४ ॥

अवगुण सुनिके आपणां, रे मन! सुलटी धार।
मो गरीयकों जानिके, लीना बोझ उतार ॥ ५५ ॥
आत्मनो दोषमाकर्ण्य, सत्यं धारय हे मनः ।
ज्ञात्वाऽनेन तु मां दीनं, शीर्षाद्भारोऽवतारितः ॥ ५५ ॥

में भूल्यो शुभ राहकों, इननें दई बताय।
दुर्जन जानि पेरे नहीं, सज्जन सो दर्शाय ॥ ५६ ॥
सुमार्गो विस्मृतो नूनं, मया चायं न्यबोधयत्।
ज्ञायते दुर्जनो नायं, सज्जनस्तु विलक्ष्यते ॥ ५६ ॥

ज्ञान अस्त सूरज हुआ, में भूल्यो निजराह।
निन्दा रूप मसालले, इने दिखाइ राह ॥ ५७ ॥
अस्तं गते हि बोधार्के, जातोऽहं विस्मृताध्वकः ।
निन्दाप्रदीपमादाय, जातोऽयं मार्गदर्शकः ॥ ५७ ॥

सुनि निन्दकके वचनकों, चित मति करे उचाट।
यह दुर्गन्धित पवन अति, वहती कूं मति डाट ॥ ५८ ॥
निन्दकोक्ति समाकर्ण्य, ग्लानिं मा कुरु मानसे ।
रुन्धि मा त्वं सखे! पूतिगन्धं वातं समीरणम् ॥ ५८ ॥

कुवचन शर क्या कर सके, तू होजा पाषाण ।
तेरा कुछ बिगरे नहीं, वाका ही अपमान ॥ ५९ ॥
सखे ! पाषाणवद्भूयाः कूक्तिपुः किं करिष्यति ।
न स्याते कापि वा हानिर्ह्यपमानस्तु तस्य च ॥ ५९ ॥
कुवचन गोलीके लगे, जो ले मनको मार ।
आपही ठंढी होयगी, होजा शीतल गार ॥ ६० ॥
कूक्तिगोलीसमाघाते, मनः शान्तं करोति यः ।
भविता सा स्वयं शीता, शान्तस्त्वं भव हे सखे ! ॥ ६० ॥
तैंने ऊपरसौं कही, मैंने समझी ठेठ ।
खटका सबही मिटगया, एक रह गयो पेट ॥ ६१ ॥
उपरिष्टात्त्वया प्रोक्तं, तत्त्वं बुद्धं मया किल ।
चिन्ता कृत्स्ना विनष्टा मेऽवशिष्टा समता खलु ॥ ६१ ॥
रे चेतन सुलटी समझ, तेरा सुधरा काज ।
कुवचन घर घर ताहरी, इणने सौंपी आज ॥ ६२ ॥
सम्यक् चेतन ! बुध्यस्व, सिद्धं कार्यं तवाद्य वै ।
तावकः कूक्तिनिक्षेपोऽनेनेदानीं समर्पितः ॥ ६२ ॥
होगी सोई नीसरे, वस्तु भरी जिहि माहिं ।
याका गाहक मत बने, तेरे लायक नाहिं ॥ ६३ ॥
यस्मिन् वस्तु यदेवास्ति, निस्सरिष्यति तत्किल ।
नोचितं ते समस्तेऽग्राहकस्त्वस्य मा भव ॥ ६३ ॥
अपणा अवगुण सुणकरी, मत माने जिय रीस ।
मनमें तू यों समझले, मुझको देत असीस ॥ ६४ ॥
आत्मदोषं समाकर्ण्य, चित्ते खेदं तु मा कृथाः ।
आशिषं मे ददात्येष, कार्या चैवा विचारणा ॥ ६४ ॥
क्रोध अगन दिल मत लगा, सुनि अयथारथ बोल ।
क्षमारूप जल छिडकिए, नेक न लागे मोल ॥ ६५ ॥
असदुक्तं वचः श्रुत्वा, क्रोधाग्नौ क्षिप मा मनः ।
सिञ्च वारि क्षमारूपं, भवेत्तापो न कश्चन ॥ ६५ ॥

दुर्जन चुप हो है नहीं, तू तो छिन चुप साध ।
तृण विन परिहै अगनि कहुं, आपहि होय समाध ॥६६॥
न तूष्णीं दुर्जनः स्याता, त्वं तु तूष्णीं भव क्षणम् ।
निस्तृणे पतितो वन्हिः स्वयमेवोपशाम्यति ॥ ६६ ॥

तू तृण सम कटु वचन सुन, क्रोध अगन मत दाझ ।
उपल नीर सम करहु मन, तब मिलिहै शिवराज ॥६७॥
श्रुत्वा तृणनिभां कृक्तिं, कुदग्निं मा प्रदीपय ।
कुरु नीरसमं स्वान्तं, मुक्तिराज्यं तदैष्यति ॥ ६७ ॥

आई गई कर गालियाँ, क्रोध चंडाल समान ।
न तर पिछानि चंडालिनी, पट्टो पकरे आन ॥ ६८ ॥
उपेक्षस्व सखे ! गालिं, त्यज कोपं श्वपाकवत् ।
श्वपाक्यनुगता नोचेद्धृहीता वस्त्रसम्दशाः ॥ ६८ ॥

प्रभु सहाय नहीं होयँगे, रे जिय सांची जान ।
क्रोध करी ज्युं होगयो, साधु रजक समान ॥ ६९ ॥
ईशोऽपि नो सहायः स्यात्सत्यं मन्यस्व चित्त ! हृ ।
पश्य कोपं विधायैवं, साधू रजकतां गतः ॥ ६९ ॥

आतम वस्त्र मेला लखी, इणने दीना धोय ।
कटुक वचन साबुन करी, निबल जानिके मोय ॥ ७० ॥
निर्बलं वीक्ष्य मामेष, आत्मवस्त्रं मलीमसम् ।
कटूक्तिक्षाफेनेनाऽऽशु, तदधावद्यादकः ॥ ७० ॥

औदरी व्हैके मति करे, कुंजडी के संग रार ।
रतन विखरसी ताहरा, भाजी सटै गवाँर ॥ ७१ ॥
विवादं शाकविक्रेत्र्या, राशिकस्त्वं हि मा चर ।
भविता रत्नविक्षेपो, शाकार्थं मूढ ! सत्वरम् ॥ ७१ ॥

सालाकी गाली दई, यह विचार चित ठार ।
भगिनी सम इनकी त्रिया, मोय समझ्यो भरतार ॥७२॥
श्रुत्वा श्यालकगालिं तु, चित्ते चिन्तय तत्क्षणम् ।
भार्यास्वसनदसेति, सम्यग्बुद्धं मतं मम ॥ ७२ ॥

किरतघनी वननो न ह्याँ, दइ गारि इण मोहि,
अस आतम शीतल करौं, मम उधार तव होहि ॥ ७३ ॥
दत्ता मम गालिरेतेन, कृतघ्नो भविष्यसि नो ।
एवं कुर्यां यदा शीतं *स्वं तदोद्धारमाप्नुयाम् ॥ ७३ ॥
गाली एक ही होत है, बोलत होत अनेक ।
रे जिय! तू बोले नहीं, तो वही एक की एक ॥ ७४ ॥
गालिरेका प्रतीवादेऽनैका सैव विजायते ।
विचार्य्यैवं तु मा ब्रूहि, सा स्यादेकैव चित्त! ह ॥ ७४ ॥
अनन्तकाल पहले प्रभु, देख रखे यह भाव ।
परिहैं कटु वच श्रवणमें, ते किम टाल्यो जाय ॥ ७५ ॥
प्रागेवानन्तकालार्हं, जिनो भावं निरैक्षत ।
कटुक्तिपतनं श्रोत्रे, शक्यं वारयितुं कथम् ॥ ७५ ॥
इति द्वेषनिवारणाङ्कम्

अथ धैर्य्यधारणाङ्कम्

अब दिल चाहे परमपद, उर धीरज गुण धार ।
निन्दा स्तुति रिपु प्रिय, एक हि दृष्टि निहार ॥ ७६ ॥
निर्व्वाणेच्छामनस्ते चेत्तदा धैर्य्यं गुणं धर ।
निन्दास्तुति रिपुप्रीतौ, समदृष्ट्या विलोकय ॥ ७६ ॥
धीरज धर भ्रमको तजो, यह पुद्गलको ख्याल ।
पर परछांही पर रही, तू तो चेतन लाल ॥ ७७ ॥
धैर्य्यं धृत्वा त्यज भ्रान्तिमेतत्पुद्गलनाट्यकम् ।
चेतनोऽसि प्रिय! त्वं तु, त्वयि निम्बं परं गतम् ॥ ७७ ॥
चञ्चलताको छोडिदे, धीरजकी कर हाट ।
कर विहार गुण माल को, ज्यूं होवे बहु ठाट ॥ ७८ ॥
त्यक्त्वा स्थैर्य्यं विधेहि त्वं, धैर्यहट्टं सखे! मम ।
आद्रियस्व गुणग्रामं, येन सर्व्वं सुखं भवेत् ॥ ७८ ॥

---

* आत्मानम् ।

चाह किए कछु ना मिले, करिके जहँ तहँ देख।
चाह छांडि धीरज धरहु, पद पद मिलत विशेष ॥ ८६ ॥
इच्छयाऽऽप्नोति नो किंचित्पश्य कृत्वा तु मानव!
विहायेच्छां कुरु धैर्य, विशेषाप्तिः पदे पदे ॥ ८६ ॥
सुनि उछले मति रे जिया! कर विचार चुप साध।
यही अमोलिक औषधि, मेटे भव दुःख व्याध ॥ ८७ ॥
श्रुत्वोत्पत मनो मा त्वं, मौनं धृत्वा विचारय।
अमूल्यमौषधं ह्येतद्भवतापाऽऽमयाऽपहम् ॥ ८७ ॥
रे चेतन! संसार लखि, दृढ कर नेक विचार।
जैसी दे तैसी मिले, कूपकी गुंजार ॥ ८८ ॥
चेतन! वीक्ष्य संसारं, कुरु धृत्वा विचारणाम्।
लभ्यतेऽत्र यथादत्तं, कूपप्रतिध्वनिर्यदा ॥ ८८ ॥
चञ्चलताकों छांडीके, काट मोह गल फांश।
सम दम यम दृढता किये, निज गुण होय प्रकाश ॥८९॥
त्यक्त्वा चापल्यमाच्छिन्धि, गलपाशं च मोहजम्।
शमे दमे यमे दार्ढ्ये, कृते स्वगुणभासनम् ॥ ८९ ॥
अभिलाषाकों त्यागिके, मनकों रख मजबूत।
तब कुछ सूझे अगमकी, यह सांची करतूत ॥ ९० ॥
अभिलाषं परित्यज्य, मानसं कुरु निश्चलम्।
तदायत्याशुकर्तव्यं, दृश्यते च यथार्थतः ॥ ९० ॥
जो तो ढ्यां ही वस्तु है, जाकी तेरे चाय।
क्षण इक धीरज धारले, सहजे ही मिलजाय ॥ ९१ ॥
अभिलाषोऽस्ति ते यस्य, तद्वस्त्वत्रैव विद्यते।
क्षणं धैर्यं कुरु स्वान्ते, बिनाऽऽयासेन लप्स्यते ॥ ९१ ॥
मतकर परगुणमें रमण, ज्यौं न लगे गल तोष।
निश्चल रह निज गुणनमें, आपही होगी मोक्ष ॥ ९२ ॥
रमस्वाऽन्यगुणे मा त्वं, येन दोषो भवेन्नहि।
निश्चलः स्वगुणे भूयाः, स्वतो निर्वाणमेष्यसि ॥ ९२ ॥

निश्चलतासुं होयगा, रे जिय ! ब्रह्म समान ।
तृण का ही घृत होत है, गाय चरे पय पान ॥ ९३ ॥
स्थैर्य्येण भविता जीव ! ब्रह्मतुल्यो ह्यसंशयम् ।
सर्पिस्तेन तृणं स्याद्गौश्चरति जलेन च ॥ ९३ ॥

जो तू चाहे अमर पद, करि दृढता अखत्यार ।
बाल न बांका होयगा, जीवत ही मनमार ॥ ९४ ॥
यद्यमरपदेच्छा ते, धैर्य्यमङ्गीकुरुष्व वै ।
जहि मनस्तु जीवन्, नैवं केशस्य वक्रता ॥ ९४ ॥

धीरज गुण धारण किये, सब ही दुःख कट जाय ।
जैसे ठंडे लोहसे, तत्ता लोह कटाय ॥ ९५ ॥
धृतधैर्य्यगुणे सर्वं, दुःखं नश्यति सत्वरम् ।
यथा शीतेन लोहेन, तप्ताऽयश्छिद्यते ध्रुवम् ॥ ९५ ॥

जल जिम निर्मल मधुर मृदु, करत तपको अन्त ।
इम धीरज गुण धार लखि, करो ग्रहण बुधवन्त ॥९६॥
निर्मलं मधुरं वारि, मृदुस्तापविनाशनम् ।
एवं चतुर्गुणं धैर्य्यं, वीक्ष्य गृह्णीत वै बुधाः ॥ ९६ ॥

कला घटत अरु बढत है, नहीं शशिमण्डल आन ।
जन्म मरण गति देहकी, यों लखि धीरज ठान ॥ ९७ ॥
हानिवृद्धी कलायाश्च, नहीन्दुमण्डलस्य वा ।
देहस्यैवं गति जन्म, मृत्युं वीक्ष्य धृतिं धर ॥ ९७ ॥

सुखदुःख दोनों एकसे, है समझणको फेर ।
एक शब्द दो अर्थ ज्यों, लाख टकेकी सेर ॥ ९८ ॥
सुखदुःखे समे वै तु, बोधभेदस्तु लक्ष्यते ।
लोके '*लाख टकाकी सेरेदं द्व्यर्थकवाक्यकम् ॥ ९८ ॥

---

* "लाख टका की सेर" इदं वाक्यं लोके द्व्यर्थकमस्ति, तद्यथा—पणद्वयेन लाक्षा प्रस्थमिता मिलतीति प्रथमोऽर्थः । लक्षसंख्याकपणयुग्मैः किञ्चिज्ज्ञानवस्तुप्रस्थपरिमितं मिलति, इति च द्वितीयोऽर्थः ।

सुखदुःख दोऊ वेदे मति, वेदे तो सम भाव ।
जैसे मकरी जालकों, पूरे अरु खा जाय ॥ ९९ ॥
सुखदुःखानुभूतिं मा, कुरु भो चेतसमानतः ।
लूताजालं यथा पूर्णं, कुरुतेऽश्नाति तच्च वा ॥ ९९ ॥
समताको धारण किये, क्यों न डटे मन लहर ।
भरणी सुण-२ कर मिटे, स्यांपां हुंदा जहर ॥ १०० ॥
समताधारणे किं वा, मानसोर्मिर्न शाम्यति ।
पश्य सर्पविषं श्रुत्वा, गारुडीं नश्यति ध्रुवम् ॥ १०० ॥

इति धैर्याङ्गम्

अथानुभवविचारज्ञानाङ्गम्

क्रूकस विषय विकार सम, मति भखि मूढ गवाँर ।
अनुभवरस तू चाखिले, गुरु मुख करि निर्धार ॥ १०१ ॥
मूढ ! ग्रामीण ! मा भुङ्क्ष्व, भोगान्कूर्चकसन्निभान् ।
गुरोर्मुखात्तु सम्प्राप्य, ह्यनुभूतिरसं पिब ॥ १०१ ॥
किये पाठ अनुभव विना, न मिटे भीतर पाप ।
बाहर शीशी धोयके, करी चहै तू साफ ॥ १०२ ॥
अनुभूत्या विना पाठात्पापं नश्यति नान्तरम् ।
काचकूपीं बहिर्धौत्वाभिर्मलां कर्तुमिच्छसि ॥ १०२ ॥
अल्पभार पाषाणको, जिमलायत जल माहिं ।
तिमि अनुभव विच कर्मको, बहुबन्धन है नाहिं ॥१०३॥
अल्प एवाश्मनो भारो, यथा तोये प्रतीयते ।
अनुभूत्या तथा कर्मबन्धो भूरिर्न जायते ॥ १०३ ॥
मन वच-तन थिरतें भयो, जो सुख अनुभवमाहिं ।
इन्द नरिन्द फनीन्दके, ता समान सुख नाहिं ॥ १०४ ॥
स्थैर्ये देहमनोवाचामनुभवे तु यत्सुखम् ।
तादृक् सुखं न शक्रस्य, मानवेन्द्रफणीन्द्रयोः ॥ १०४ ॥
अनुभवसों प्रभु मिलतहै, अनुभव सुखको मूल ।
अनुभव चिन्तामणि तजि, मति भटके कहुं भूल १०५

अनुभूत्याः प्रभोः प्राप्तिः, सैव मूलं सुखस्य च ।
त्यक्त्वा चिन्तामणिं मूढाऽनुभूतिं क्वापि मा भ्रम ॥ १०५ ॥

अति अगाध संसार नद, विषय नीर गम्भीर ।
अनुभव विन पार न लहत, कोटि करहु तदवीर ॥१०६॥

भवो नदोऽस्त्यगाधोऽत्र, विषया बहु वारिवत् ।
कोट्युपायेऽपि पारं नो, यात्यनुभूतिमन्तरा ॥ १०६ ॥

जिहिं विचारतैं पाय है, मनकौं थिर सुखठौर ।
ताकौं अनुभव जानिये, अनुभव नहिं कुछ और ॥१०७॥

मनःस्थैर्ये सुखस्थानं, येनाऽऽप्नोति विचारतः ।
बुध्यस्वानुभवं तं च, परन्त्वनुभवो न हि ॥ १०७ ॥

विना विचारे ज्ञानके, तू जङ्गलको रोझ ।
मिथ्या यों ही पचत है, क्यों न करे अब खोज ॥ १०८ ॥

विना ज्ञानविचारेण, आरण्यगवयो ननु ।
व्यर्थं खेदमवाप्नोषि, कुरुषे किं न विचारणाम् ॥ १०८ ॥

मन मतङ्ग वश करनकौं, ज्ञानाङ्कुश चित धार ।
क्षमार्थम्भसे बांधकर, लज्जा शृंखल डार ॥ १०९ ॥

मनो गजं वशं कर्तुं, चित्ते ज्ञानसृणिं धर ।
क्षमा स्तम्भेन बध्वा च, क्षिप लज्जां सुशृङ्खलाम् ॥ १०९ ॥

भ्रमतो मन रवि आटिले, ज्ञान मुकुरके म्यान ।
विंदु सुभ उपयोगसे, कर्म तूलकी हान ॥ ११० ॥

भ्रमन्मनो रविं रुन्धि, ज्ञानदर्पणके सखे ।
विन्दुना सूपयोगेन, कर्मतूलविनाशनम् ॥ ११० ॥

सीसा सम संसार है, गुरु कृपा आदित्य ।
ज्ञान नैत्र विन किम लखे, आपनपो सुपवित्र ॥ १११ ॥

संसारो दर्पणाभस्तु, भास्करोऽस्ति गुरोः कृपा ।
विशुद्धात्मत्वबोधस्तु, ज्ञाननेत्रं विना न हि ॥ १११ ॥

विषय-वासना करत जो, आवे ज्ञान जगीश ।
त्रेशठका उन समयमें, छिनमें होय छत्तीस ॥ ११२ ॥

भोगानां वासनायां चेज्ज्ञानमुद्द्योतते सखे।
सद्यश्चिपटितद्धायाः, पद्नित्य जायते ध्रुवम् ॥ ११२ ॥

जो तू चाहे ज्ञान सुख, तो विषियन मनफेर।
और ठौर भटके मती, अपने ही में हेर ॥ ११३ ॥

व्यावर्तय मनो भोगाद्बोधसौख्यं यदीच्छसि।
रे रे! त्वं भ्राम्य माऽन्यत्र, तदाऽऽत्मनि च मार्गय ॥ ११३ ॥

ज्ञानरूप दीपक कने, न बचे कर्म पतङ्ग।
जो रहे तो दोनोनमें, झूठो एक प्रसङ्ग ॥ ११४ ॥

अन्तिके ज्ञानदीपस्य, नो कर्मशलभः स्थिरः।
तिष्ठतो यदि तौ द्वौ वा, मृषैकस्तु प्रसङ्गकः ॥ ११४ ॥

ज्ञान सञ्चरे जिहि समैं, न रहे कर्म समाज।
और न पंछी उड़ सकैं, जहां बसेरा बाज ॥ ११५ ॥

यदा सञ्चरति ज्ञानं, कर्मजालं तु नो तदा।
श्येनवासो भवेद्यत्र, तत्र तिष्ठन्ति नो खगाः ॥ ११५ ॥

घर नहिं छूट्यो एकसौं, छूट्यो कर्म कुटंब।
ज्ञान तणे सत्सङ्गथी, देखो ठाणायंग ॥ ११६ ॥

गृहं त्यक्तं न चैकेन, त्यक्तं कर्म तु कुत्सितम्।
सत्सङ्गोत्पन्नबोधेन, पश्य स्थानाङ्गसूत्रकम् ॥ ११६ ॥

क्षण इक ज्ञान विचारले, विषय दृष्टि कौं फेर।
मेरी मेरी त्यागदे, यौं होवे सुरझेर ॥ ११७ ॥

भोगादृष्टिं परावृत्य, क्षणं चिन्तय बोधकम्।
त्यज सद्यो ममत्वं च, सर्वं सम्यग्भविष्यति ॥ ११७ ॥

आठ पहर ढिग राखले, ज्ञान सरूपी ढाल।
मोह अरीके विषय शर, लगे न ताकी भाल ॥ ११८ ॥

संरक्षायाम्तु यामेषु, ज्ञानरूपं तु चर्मकम्।
विषयेषुर्न-मोहारेर्मस्तके न लगिष्यति ॥ ११८ ॥

माया मोह निवारके, विषयनसौं मनखींच
जो सुख चाहे आपणा, तो रहो ग्यानके बीच ॥ ११९ ॥

मायामोहं निवार्य्यैवं विषयेभ्यो मनो हर ।
वाञ्छस्यात्मसुखं चेद्धि, ज्ञाने विहर मे सखे ! ॥ ११९ ॥

भेद लहे विन ज्ञानके, मत मूंसे जिम स्वान ।
लोग गडरिया चाल तज, आपनपो पहिचान ॥ १२० ॥

मा कुरु भषणं श्वेव, ज्ञानभेदाद्विनान्तरा ।
लोकमेषीगतिं त्यक्त्वा, स्वात्मानं परिबोधय ॥ १२० ॥

कामधेनु अरु कल्पतरु, इण भव सुख दातार ।
इणभव परभव दुहुनमें, ज्ञान करत निस्तार ॥ १२१ ॥

कल्पद्रुः कामधेनुश्च, लोकेऽत्रैव सुखप्रदौ ।
निस्तारयति बोधस्तु, जगत्यत्र परत्र च ॥ १२१ ॥

जगत् मोह फांसी प्रबल, कटै न और उपाय ।
सत्सङ्गति कर ज्ञानकी, सहज मुक्ति हो जाय ॥ १२२ ॥

मोहपाशो दृढो लोके, छिद्यते नान्ययत्नतः ।
कुरु बोधस्य सत्सङ्गं, मुक्तिः स्यात्स्वयमेव हि ॥ १२२ ॥

विच पारस अरु ज्ञानके, अन्तर जान महन्त ।
यह लोहा कञ्चन करत, वह गुण देय अनन्त ॥ १२३ ॥

पारसाश्मनि बोधे च, जानीहि महदन्तरम् ।
लोहं स्वर्णं करोत्येव, स त्वनन्तगुणप्रदः ॥ १२३ ॥

प्रथम ज्ञान पीछे दया, यह जिनमतको सार ।
ज्ञान सहित किरिया करूं, तब उतरूं भव पार ॥ १२४ ॥

जैनसिद्धान्तसारोऽयं, पूर्वं ज्ञानं ततो दया ।
सज्ज्ञानी चेत्क्रियां कुर्यां, तदा स्यां भवपारगः ॥ १२४ ॥

अथोपसंहारः

अति आलस परमादियो, मञ्जुलाल मुझ नाम ।
ज्ञानोद्यम कछु ना बने, किम सुधरे मुझ काम ॥ १२५ ॥

अहं च मञ्जुलालाख्यः, प्रमत्तश्च सुसायकः ।
ज्ञानोद्यमो न मे कश्चित्कथं कार्यं तु सेत्स्यति ॥ १२५ ॥

दर्शन पुनि निश्चल नहीं, नहिं निश्चल चरित्र।
मन भ्रमतो निशिदिन रहे, नहिं ठहरे एकत्र ॥ १२६ ॥
सम्यक्त्वं निश्चलं मे नो, चारित्रमपि नैव च।
नित्यं भ्राम्यति चित्तं तु, तदेकत्र न तिष्ठति ॥ १२६ ॥

ऐसी करी विचारणा, रे जिय! अवतो चेत।
चार वरण गुरु 'रतनजी', ऐसो करि सङ्केत ॥ १२७ ॥
एवं जाते विचारे तु, चेत जीव! किलाधुना।
चतुर्वर्णगुरु 'रतनजी', सङ्केतं कृतवानिमम् ॥ १२७ ॥

चार वर्ण गुरु 'रतनजी', तास भेद चौवीस।
तामें भेद जु तेरवें, करी ज्ञान बकसीस ॥ १२८ ॥
चातुर्वर्ण्यगुरू 'रतनजी', तद्भेदा युग्विंशतिः।
त्रयोदशे तु भेदे च, ज्ञानदानं व्यधादसौ ॥ १२८ ॥

ज्ञान पाय हुलसी मती, शुक्ला छठ मधुमास।
संवत् रस अग्नि कं भू, रच्यो शान्ति परकाश ॥ १२९ ॥
ज्ञानं प्राप्य मतिर्हृष्टा, रमाऽग्न्यङ्केन्दुरब्दके।
सिते पक्षे मधौ "शान्तिप्रकाशो" रचितो मया ॥ १२९ ॥

आशिर्वचनम्

अरिहंत-सिद्ध-गण-ईशजी, उपाध्याय सब साध।
पंच परमगुरु दीजिये, निर्म्मल ज्ञान समाध ॥ १३० ॥
अर्हन्सिद्धोऽथवाऽऽचार्य, उपाध्यायो मुनिस्तथा।
पञ्चैते गुरवो दद्युः, शुद्धबोधसमाधिकौ ॥ १३० ॥

इति श्रीमज्जैनाचार्यमज्जुलालकृतशान्तिप्रकाशः समाप्तः ॥

"सुसंस्कृतानुवादस्तु, कृतः पुष्पेन्दुभिक्षुणा
शान्ते वीररसं प्राप्य, मोक्षः सञ्जायते ध्रुवम्"

वीरस्तुति-परिशिष्ट नं० ६

वीरस्तु भगवान्स्वयम्

जैनेशं निखिलाऽमराऽऽनुतपदं सर्व्वान्तरायापहं, हार्दध्वान्तरविं च योग-सदनं श्राद्धैकगम्यं परम् । संसारार्णवपोतमत्र निखिलाऽऽनन्दालयं तापहं, ध्यायेऽहं मनसा धिया च सततं श्रीवर्धमानं जिनम् ॥ १ ॥ महावीरंनमस्कृत्य, साक्षाद्वागीःपतिं जिनम् । निगदे तज्जन्मवृत्तं, भव्यानां हितहेतवे ॥ १ ॥ भवार्णवोद्धारकरः, श्रीवीरभगवान् प्रभुः । पवित्रं शासनं यस्य, तदुत्थाने मनोऽर्पय ॥ २ ॥ अतश्च शासनोत्थाने, भवन्तः पक्षपातिनः । सम्बन्धाविति विज्ञेयाश्चोत्थानस्तबके मुदा ॥ ३ ॥ सज्जितं भाविसोत्थानकुसुमं स्ववशं नय । सम्भवेऽस्ति निरक्षादिजलसेचनकैरपि ॥ ४ ॥ स्वल्पत्वादुपचारस्य, चास्मिनुत्थानरूपके । सौरभाभावहेतोश्च, मनो 'मधुकरो' न हि ॥ ५ ॥ भवल्लोभगतं चेदं, निशामय ततः परम् । स्तबकस्य प्रभावेण, हृदयस्थमशमानयेत् ॥ ६ ॥ कृपाकटाक्षं आनीत, भगवत्तत्त्वचिन्तकाः । अस्त्वेतावच्च चेतस्य, स्वल्पत्वं किञ्चिदस्ति हि ॥ ७ ॥ अस्य विश्वासमात्रेण, प्रयत्ने करणे पुनः । साहसत्वं न सञ्जातमस्मिन्नवसरेऽपि , नः ॥ ८ ॥ शासनोत्थानपुष्पान्तर्गतो निरतिशायकः । मकरन्दः कियानस्ति, प्रोत्थानरूपपुष्पके ॥ ९ ॥ 'वीरस्तु भगवान् स्वय'मिति स्वादे रसस्य हि । अभिलाषो यदोत्पन्नस्तदा पाठकसत्तमः ॥ १० ॥ किञ्चिद्धारय धैर्य्यं तु, यतः सर्वं प्रयासतः । निबन्धस्यास्य सम्बन्धे, कथनीयं कियन्मया ॥ ११ ॥ प्रथमं प्रतिपाद्यस्य, विषयस्येदमस्ति हि । सिद्धिः प्रमाणतो ज्ञेया, सिद्धान्तस्येति सम्मतम् ॥ १२ ॥ सौन्न सिद्धान्त-शास्त्रस्य प्राचीनेयं सुपद्धतिः । जैनशास्त्रेषु सूत्रेषु, मुख्यत्वेन सुवर्णितम् ॥ १३ ॥ 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं' च, प्रत्यक्षेतरभेदतः । द्विविधं शास्त्रतो ज्ञेयं, श्रुतिज्ञानादि भावय ! ॥ १४ ॥ अवधिमनःपर्य्ययावेकदेशप्रत्यक्षकौ । केवलं सर्व्वप्रत्यक्षं, परोक्षे मतिश्रुतेऽपिच ॥ १५ ॥ इति नीत्या सुविज्ञेयं, प्रमाणद्वयसम्मतम् । प्रत्यक्षं च परोक्षं वा, नान्यदस्ति पृथक् पुनः ॥ १६ ॥ एतद्द्वयप्रमाणे वै, अन्तर्भावोऽन्यकस्य हि । अतश्चैतद्द्वयस्यैव, निबन्धेऽस्मिन्नियोजनम् ॥ १७ ॥ हि केषांचिन्मते न स्यादेतयोरन्तरं पुनः । मान्यतयाऽनयाभावे, वार्ता किं बहुलेखतः ॥ १८ ॥ सुखकेवोपलब्धिभ्यां, शंका विषयजा पुनः । निवा-

रणीया यत्नेन, नात्र कार्या विचारणा ॥ १९ ॥ वार्तोऽन्याप्यस्ति चात्रैव, लेखवृद्धिः प्रजायते । वास्तवज्ञानशून्यं स्यात्काठिन्यं विदुषां भवेत् ॥ २० ॥ इति शंका भिया नैव, प्रत्येकविषयस्य हि । प्रमाणं स्पष्टरूपेण, न निर्दिष्टमिह स्फुटम् ॥ २१ ॥ जिज्ञासूनां विजिज्ञासा, दृढाय ह्यनुरूपतः । तदा तेषां विनिर्देशोऽवश्यं स्यात्प्रकटं पुनः ॥ २२ ॥ हेतुस्तृतीयो ज्ञातव्यो, विवेचनमवाप्स्यति । प्रस्तुतविषयस्यापि, *सम्प्रदायानुसारतः ॥ २३ ॥ लक्ष्ये विशेषं संस्थाप्य, सूक्ष्ममार्गैकदृष्टितः । प्रत्येकस्यात्र लेखस्याऽनुभवाच्छास्त्रतस्तथा ॥ २४ ॥ सर्वसिद्धान्ततः सार्वभौमस्य व्याप्तिरूपतः । अस्ति सम्भावना चास्य, ज्ञानं सम्यक्त्वपूर्वकम् ॥ २५ ॥ कस्यचिद्धेतुतश्चित्ते, शङ्कोत्पत्तिर्भवेन्न हि । विचारानन्तरं तेषां, शङ्का स्यान्निर्मूलिका ॥ २६ ॥ सर्वत्र मेऽस्ति विश्वासो, नैवं शंका कदापि हि । चतुर्थी च सुवार्तेयं, कस्याऽपि विषयस्य च ॥ २७ ॥ प्रतिपादयितुं शक्यत्कयापि भाषया भवेत् । चतुर्विधत्वं सामग्र्या, अपेक्षा जायते ध्रुवम् ॥ २८ ॥ विज्ञेया सा च सामग्री, निम्नलेखक्रमेण च । निर्णयस्तत्त्वसंधानां, प्रथमानुयोगरूपतः ॥ २९ ॥ विचारार्थं च वस्तूनां, साक्षाद्विषयवर्णनम् । कथनोपकथनाश्चेति, नान्यो हेतुर्मनागपि ॥ ३० ॥ शास्त्रे पूर्वानुयोगं च, धर्मकथानुयोगकम् । कथ्यतेऽत्र विचारेण, तत्त्वज्ञानार्थिभिर्मुदा ॥ ३१ ॥ "धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् । पूर्ववृत्तकथोपेतमितिहासं प्रचक्षते" ॥ ३२ ॥ इत्येतयेतिहासोऽपि, चेतसा कथ्यतेऽधुना । स्थानाङ्गेऽपि कथा सेयं, चतुर्धाऽभिनिगद्यते ॥ ३३ ॥ मुख्यं फलं कथायाश्च, तत्त्वनिर्णयमेव हि । यः शब्दो यत्परश्चास्ते, तदर्थोऽपि स एव हि ॥ ३४ ॥ लक्ष्ये धृत्वा पदार्थं यं, शब्दस्य कस्य चैव हि । प्रयोगं यदि कुर्वीत, ॥ शब्दश्चार्थवान् भवेत् ॥ ३५ ॥ सर्वेषां सम्मतं चेदं, सिद्धान्तं संस्फुटं सदा । तदा सम्पद्यते भावः, सर्वत्रैवं विचारय ॥ ३६ ॥ वक्ता बोधयितुं यं हि, शब्दश्चोच्चार्यतेऽसकृत् । श्रोत्राऽपि शब्दः स एव, ज्ञायतेऽर्थसमन्वितः ॥ ३७ ॥ ततोऽन्यार्थप्रतीतेश्च, श्रोतुर्भवति विभ्रमः । भोजनावसरे यद्वत्सैन्धवेति पदात्ततः ॥ ३८ ॥ जन्यते लवणाऽऽबोधो न चान्योऽर्थोऽप्रतीयते । प्रस्थाने हयबोधश्च, तद्वल्लक्ष्यमधारय ॥ ३९ ॥ श्रोत्रैवं सुविचार्यार्थो, नान्योऽर्थः प्रतिपद्यते । अबोधार्थज्ञापकत्वे, सति शास्त्रप्रमाणकम् ॥ ४० ॥ प्रमाणं तु वदंतस्या प्रमाण-

* गुरुप्रदत्तज्ञानानुभवानुसारत इत्याशयः ॥

विषयस्य च । वास्तविकं च *सत्यं च, येन ज्ञानं प्रजायते । आत्मानन्दे परे योऽरं रमतेऽहर्निशं पुमान् । तत्पदाम्भोजयुग्मेऽस्तु त्रिकालं मम वन्दना ॥ ४१ ॥ अस्यालौकिकविश्वस्य, दर्शनं हृदयमुत्तमम् । स्फुटं विज्ञायते विश्वं, विश्वमानन्दपूरितम् ॥ ४२ ॥ आनन्दापेक्षया विश्वं, विश्वस्मिन्नरूपताऽस्ति च । जगतो हि जगद्धर्मो भिन्नभावं गतोऽस्ति न ॥ ४३ ॥ एकैकप्राणी विश्वस्याऽस्त्यानन्दमय एव हि । अस्त्यानन्द-श्रियस्तेषामतस्तत्तृषितस्तथा ॥ ४४ ॥ अभिगन्तुं तमानन्दं विश्वधर्मा हि साधनम् । तान् धर्मान् प्राणिनो नैजानन्दायैवोदपीपदन् ॥ ४५ ॥ आनन्दापेक्षया सन्ति, प्राणिनः सदृशाः समे । व्यक्तित्वापेक्षया किन्तु, नरा उत्कृष्टप्राणिनः ॥ ४६ ॥ आनन्दस्याभिवृद्ध्यर्थं, मानवा सुमनोहरान् । आत्मपंचानुशायांश्चाऽनेकान् विरचयन्ति ते ॥ ४७ ॥ आत्मानन्दस्यनुपायेषु, मनुष्यरचितेषु च । सर्वोत्कृष्ट उपायस्तु, धर्म एवास्ति केवलम् ॥ ४८ ॥ आनन्दस्य स्वरूपं हि, तुल्यं प्रत्येकप्राणिनाम् । सामर्थ्यमात्मनस्तुल्यमस्ति प्रत्येकदेहिनाम् ॥ ४९ ॥ तुल्यं वास्तविकं स्वरूपमस्ति प्रत्येकदेहिनाम् । धर्मसाधनधर्मस्य, सत्येवं तुल्यतोचिता । समानमेव सम्पूर्णमस्त्येतदनुसारतः ॥ ५० ॥ मनुष्यस्तादृशः प्राणी, प्रवीणकरणोऽस्ति यत् । आत्मानन्दाभिवृद्धिं स, कर्तुं शक्नोति निश्चितम् ॥ ५१ ॥ एतावदेव न परमन्यच्छृणुत सज्जनाः । अनन्तानुभवं प्राप्ता, आत्मानन्दस्य ये नराः । ते स्वपथाद्विचिन्त्यन्त्या, नरजातेः कृते खलु । प्रशान्तसाधनाधर्मं, स्मृत्वे स्वकरा दिवं गताः ॥ ५२ ॥ तेन धर्मस्वरूपेण, साधनेनेतरा नराः । आत्मनो लौकिकानन्दमवाप्तुं शक्नुवन्ति च ॥ ५३ ॥ लोकेऽन्यप्राणिनश्चास्य, प्रत्यक्षजगतः खलु । अलौकिकप्रभापुंजैर्भवंत्यानन्दतुन्दिलाः ॥ ५४ ॥ परन्त्विह मनुष्याख्यदेहिनस्तु स्वयं किल । निजानन्दमया भूत्वा, तथैवानन्दसम्पदा ॥ समस्तविश्वप्रतिमाऽऽनन्दवृन्दाभिवर्धनम् । उपादेयं मुख्यं च, विधानं पारयन्ति च ॥ ५५ ॥ यो धर्मोऽस्ति नृणां सैवालौकिकानन्दसम्पदा । अभिवृद्धेरिहादर्शरूपोऽस्तीति विभाव्यताम् ॥ ५६ ॥ इयं सृष्टिरनाद्यनन्तकालात्तदनुबन्धिनी । अनन्ततत्त्वरूपेषु, यथावत्संप्रवर्तते ॥ ५७ ॥ आत्मीयानन्ततत्त्वेषु, सा सृष्टिर्मूलरूपतः । अलौकिकस्वरूपे चानन्ततत्त्वस्वरूपतः । अनन्तकालपर्यन्तं सत्यसाध्यरूपतः ।

---

* अथ सत्यस्य हार्दम्—

अलौकिकानन्दरूपे, विलाऽवस्थाऽस्य ते स्थिरा ॥ ५८ ॥ विचित्ररूपेयं सृष्टिरस्त्यलौकिकवस्तु च । स्थिरा निला च साऽस्तीति, सृष्टिमीमांसका जगुः ॥ ५९ ॥ अस्त्यालौकिकसामर्थ्यभूतालंकरणेषु च । सर्गेस्य धर्म एवैकं, सर्वोत्कृष्टं विभूषणम् ॥ ६० ॥ धर्ममीमांसका लोकेऽनेके समभवन्निह । ते लौकिकपरिष्काररूपेण हितकांक्षिणः ॥ नैजधर्मविचारात्मकप्रसादेन मनुना । एतन्महीतलं चाले, चक्रिरेऽलं कृपालवः ॥ ६१ ॥ इदानीं समये येषामलौकिकप्रसादिनाम् । निम्ननिर्दिष्टनामानो, भवन्तीक्षणगोचराः ॥ ६२ ॥ वेदान्तः सांख्ययोगौ च मीमांसा द्वितयी पुनः । न्यायो वैशेषिको शैवो, वैष्णवस्तान्त्रिकास्तथा ॥ स्वामीनारायणो जैनो, बौद्धो मोहम्मदः पुनः । ईशायी पारसीयथ, यहूदीयादयः परे ॥ ६३ ॥ एषां तदितरेषां च, भिन्नभिन्नमताश्रितानाम् । धर्मालङ्कारभूतानामुद्देश्यं स्वस्ति केवलम् । आत्मानन्दाधिगममिदं तत्त्वविदो विदुः ॥ ६४ ॥ उद्देश्ये सर्वधर्माणामेकीभावमुपागते । तत्साधनानि सर्वाणि, भजन्तीहैकरूपताम् ॥ ६५ ॥ पृथक् पृथक् देशकालावाधारीकृत्य ते ननु । अन्योऽन्यभिन्नरूपेश्च, सम्प्रवृत्ता भवन्ति च ॥ ६६ ॥ तत्राहंतानां तूद्देश्यं, ज्ञानं केवलमात्मनः । किं च तस्य हि कैवल्यप्रापणं केवलोदयात् ॥ ६७ ॥ एतदेवाभिमन्यन्ते, योग-वेदान्ति-वैष्णवाः । स्वामिनारायणश्चापि, जैनेनेत्थमिहोच्यते ॥ ६८ ॥ "जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ" एकं जानाति यो नाम, सर्वान् जानाति स ध्रुवम् ॥ ६९ ॥ वेदान्तीया भगवती, श्रुतिरप्याह तद्यथा । "आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" ज्ञाते सत्यात्मनि ज्ञातं, भवतीदमशेषतः ॥ ७० ॥ "अप्पा सो परमप्पे"ति, जैना अभिदधत्यय । वेदान्तकान्तसिद्धान्तभारतीत्थमुदीर्यते ॥ "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्त्वमसि" "प्रज्ञानं ब्रह्म" "अयमात्मा ब्रह्म" ॥ ७१ ॥ अहं ब्रह्माऽस्म्यसि त्वं तत्, प्रज्ञानं ब्रह्म कीर्त्यते । अयमात्माऽपि तद्ब्रह्म, सच्चिदानन्दरूपि यत् ॥ ७२ ॥ सन्ति वेदस्य चत्वारो, भागास्तेषु चतुर्षु च । अस्त्येकैकं महावाक्यं, दृश्यते तद्यथाक्रमम् ॥ ७३ ॥ "अहं ब्रह्मास्मि" 'यजुषः' साम्नस्तत्त्वमसीति च । "प्रज्ञानं ब्रह्म", ऋग्वेद' "स्वयमात्मेत्यथर्वणः" ॥ ७४ ॥ चतुर्ष्वेतेषु वाक्येषु, वाक्यं तत्त्वमसीति ह । उपयोगितरं शश्वन्मननीयं च विद्यते ॥ ७५ ॥ जैनानेकान्तसिद्धान्तनियमश्चायमस्ति च । "नाणे पुण नियमा आया" ज्ञानेन

॥ ७६ ॥ आर्हतैरुच्यते जन्ममृत्युरूपा तु संसृतिः । कर्म्मद्वारा प्रचलति, तच्च
कर्म्म जडं स्मृतम् ॥ ७७ ॥ कर्म्मणोऽस्य नियन्तात्माऽस्तीत्येवं सर्वसम्मतम् ।
अधिष्ठानं कर्म्मजन्यं, खल्वेरात्माऽयमस्ति च ॥ ७८ ॥ वेदान्तेनोच्यते माया-
द्वारं जन्मादिसम्मतम् । आत्मरूपेश्वरव्याख्यानियामकमुदीर्य्यते ॥ ७९ ॥ स्याद्वा-
दिनो वदन्त्येवं, कर्म्मोपाधौ क्षयं गते । आत्माऽयं जन्ममरणबन्धनान्मुच्यते-
तराम् ॥ ८० ॥ वेदान्तवत्सिद्धान्तवाक्यमेत्थं प्रवर्तते । मायोपाधौ, लयं
प्राप्ते, भवादात्मा विमुच्यते ॥ ८१ ॥ जैनेनाऽ'पुणरावित्ती'त्युक्तेत्थमभिधीयते ।
भवस्यपुनरावृत्तिर्भवे मुक्तस्य चात्मनः ॥ वेदान्तोऽभिदधात्यात्मा, पुनरावर्तते न
हि । गीतायां कृष्णचन्द्रेण, प्रोक्तमित्थं महात्मना ॥ "यद्गत्वा न निवर्तन्ते,
तद्धाम परमं मम" ॥ ८२ ॥ "एगे आये" ति वाक्येन, जैनस्त्वित्थं प्रभाषते ।
'एकोऽस्त्यात्मा'शुण-द्रव्य-पर्यायापेक्षया खलु ॥ "एकोऽहमिति" वेदान्तोऽ-
प्यत्रार्थे कृतसम्मतिः ॥ ८३ ॥ जैनाना च मते *तर्कौ, नात्मानं वेत्ति
तत्त्वतः । तथा धीश्चात्मरूपं हि, नासुं गम्येति वास्तवम् ॥ ८४ ॥ †यतो निव-
र्तते वाणी, सदैव मनसा मुहुः । जैना वदन्ति चाखण्डं, परिपूर्णतमं परम्
॥ ८५ ॥ आत्मयन्ति ये च ‡तद्वत्कैवल्यं प्राप्नुवन्ति ते । वेदान्तिनोऽपि खलु
चास्मिन्भवे ब्रह्म सनातनम् ॥ ८६ ॥ व्यापकं सच्चिदानन्दस्वरूपं वर्णयन्ति
च । शाश्वतऽच्छेद्यनभेद्यं च, तथाऽदाह्यमशोष्यकम् ॥ ८७ ॥ अवध्यमस्मिञ्जगति,
नात्मा नैव प्रहन्यते । कदाचिन्नर्मयत्नुभ्यां, मृत्युजन्म विवर्जितः ॥ ८८ ॥
सच्चिदानन्दरूपश्च, जीवात्मा हि स्वभावतः । शिलायाष्मशभूतेषु, नक्षत्रे-
ष्वपि सर्वतः ॥ ८९ ॥ परिपूर्णतमस्तद्वच्चैतन्यगुणसंयुतः । जीवात्मा चैतनारूप-
सच्चिदानन्दविग्रहः ॥ ९० ॥ न तद्रिक्तं किञ्चिदपि, स्थानं चास्ति भवे क्वचित् ।
चैतन्याश्रयजीवस्य, दृष्टम् सर्वं चिदात्मकम् ॥ ९१ ॥ स्वयमात्मा च सर्वज्ञ,
इति वेदान्तिनोऽब्रुवन् । तथा जैना वदन्तीत्थमात्माऽनन्तश्च ज्ञानयुक् ॥ ९२ ॥
सनातनं व्यापकं च, मद्वेदान्तिनो विदुः । स्वयं शुद्धो विशुद्धश्च, निजात्मा-
नन्दरूपभाक् ॥ ९३ ॥ सर्व्वज्ञः सर्वदर्शीति, जैनाश्चैवं वदन्त्यदः । §बुद्धभा-

* "तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ ण गाहिता ।" † "यतो वाचो निव
र्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह" । ‡ "कैवल्यपदमश्नुते" । § "निर्दोषपूर्णगुणविग्रह
आत्मतन्त्रो, निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः । आनन्दमात्रपदपादगुणोदरादिः,
सर्व्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा ॥ १ ॥

चार्यसिद्धान्ते, स्थितिरेषा सनातनी ॥ ९४ ॥ निर्दोषः पूर्णगुणवानात्मानन्दगुणाश्रितः। स्वतन्त्रः सर्व्ववित्साक्षी, शरीरगुणवर्जितः ॥ ९५ ॥ तथात्मा करपादादिमुखादीन्द्रियवर्जितः । स चावयवादिभेदेन, कल्पनाकरणेऽपि च ॥ ९६ ॥ सदानन्दमयो नित्यो, वासनारहितो विभुः । श्लोकोक्तात्मतत्वस्य, कल्पनावयवस्य च ॥ ९७ ॥ केवलानन्दरूपश्च, नास्त्यत्र च विकल्पनम्। जन्ममृत्युजरादिभ्यो, व्यतिरिक्तश्च सर्वदा ॥ ९८ ॥ जन्मोत्पत्तिप्रभङ्गादिभेदशून्योऽस्ति निर्मलः। जन्मादित्रिविधो भेदस्त्वद्विधं चात्मरूपकम् ॥ ९९ ॥ वल्लभाचार्यस्य मते, ज्ञेयं तत्तत्वदर्शिभिः। सज्जैनमतसिद्धान्ते, नात्मा कर्तेति निश्चयः (निश्चयनयेनेत्याशयः) ॥ १०० ॥ साङ्ख्यशास्त्रविदश्चाहु, *कर्ताऽहङ्कार एव च। न कर्तृत्वं चात्मनश्च, निर्लेपत्वादविक्रियात् ॥ १०१ ॥ किन्तु पुरुषोऽकर्तैव, प्रवदन्ति मनीषिणः। ईश्वरः सर्वविन्नित्यो, रागद्वेषादिवर्जितः ॥ १०२ ॥ ज्ञानविज्ञानसम्पन्न, इत्येवं वर्णयन्ति च। जैनाश्चेत्थ योगशास्त्रं, †क्लेशकर्मविपाकतः ॥ १०३ ॥ आशयेनापरामृष्टश्चेश्वरः पुरुषोत्तमः । रागद्वेषादयो भावा, न स्पृशन्ति सधीश्वरम् ॥ १०४ ॥ ‡सर्वज्ञत्वमीश्वरे चास्ति, आत्मा चैतन्यरूपवान्। एवं निगद्यते शास्त्रे, चानन्तो निष्कलोऽव्ययः ॥ १०५ ॥ निर्विवादः सदात्मास्ति, चैतन्यगुणः संयुतः । निष्क्रियो निष्कलस्तद्वद्ब्रह्मरूपको गुणतः पृथक् ॥ १०६ ॥ तन्माया जगतां कर्त्री, चिच्छक्तिर्गुणविग्रहा । Sसत्यज्ञानमनन्तञ्च, ब्रह्मेति श्रुतिसम्मतम् ॥ १०७ ॥ ब्रह्मस्वरूपे पापपुण्ये, न स्तो दुःखसुखे तथा। नास्ति किञ्चिज्जगत्यस्मिन्व्यापकत्वं विना स्थितम् ॥ १०८ ॥ सच्चिदानन्दरूपेण, §शिवोऽहं नेतरः क्वचित्। केवलज्ञानसम्पन्नोऽत्रैव मोक्षानुभावकः ॥ १०९ ॥ इति जैनमतं शश्वज्जागर्ति प्रभुरीश्वरः। इदमेव मतं ज्ञेयं, सहजानन्दस्वामिनः ॥ ११० ॥ अक्षरस्थानमात्मैव, स्वयं चाक्षयरूपवान्। आत्मानं च विजानीयादक्षरं परमं परम् ॥ १११ ॥ तज्ज्ञानं सत्यमित्युक्तं, तदन्यत्सकलं मुधा।

---

* "अहङ्कारः कर्ता न पुरुष इति साङ्ख्यः"। †"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।" ‡"तत्र सर्व्वज्ञबीजम्।" S सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। §न पापं न पुण्यं न दुःखं सुखं न, चिदानन्दरूपं शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

आकाशादिस्थले यच, ज्ञानं मिथ्यामयं न तत् ॥ ११२ ॥ प्रणामिमार्गश्र-
यिणो, देवचन्द्रादयो मुहुः । स्वसम्प्रदायके नित्यं, निजानन्दमतं जगुः
॥ ११३ ॥ दृष्ट्वाऽनया दर्शनेन, भारतेऽत्र सुधर्मिणाम् । जनानामात्मतत्वस्य,
सिद्धान्तप्राप्तये मुदा ॥ ११४ ॥ माद्ध्वमद्धोऽपि वदति, भवेऽस्मिन्यत्प्रतीयते ।
चैतन्यमेव तत्सर्व्वं, नान्यत्किञ्चिद्विभाव्यते ॥ ११५ ॥ शुद्धा निरञ्जनः साक्षी,
निराकारोऽतिशक्तिमान् । तेजोमयो ह्यनन्तश्च, सर्वज्ञ इति निश्चयः ॥ ११६ ॥
मोमिनाख्यश्च सततं, कृपालुं स्वसमीपगम् । पश्यत्येवं मुदाऽहं च, शुद्धा-
होऽयं निजात्मनः ॥ ११७ ॥ क्रिश्चियनकाइष्टमतं, तद्वच्चतुर्थकाण्डकोपरि ।
त्रिभुर्विराजते स हि, भक्तात्मा परिकीर्तितः ॥ ११८ ॥ भक्ताश्च तं प्रपश्यन्ति,
तथा भूमण्डलेऽखिले । विख्यातकीर्तिर्बुद्धोऽपि, स्पष्टं समुक्तवानिति ॥ ११९ ॥
"प्रेमैवात्मा" जगत्यस्मिन्, प्रत्येक प्राणिनो मुदे । स्थापनीयं च प्रेमैवाभेदभाव-
समाश्रयैः ॥ १२० ॥ तत्वज्ञानस्य दृष्ट्या तु, दर्शनेन प्रतीयते । जैनो वेदान्त-
योगौ च, सांख्यबौद्धौ तथा पुनः ॥ १२१ ॥ अनुभवं चैकतायाः, कुर्व-
न्तीति विभाव्यते । नेत्थं वै चैकतायास्तु, तथानन्दार्थहृद्दये ॥ १२२ ॥
भिन्नं च साधनं कर्तुं, भिन्नधर्मास्तथा पुनः । भिन्नो वेषस्तथा यत्नो, विभिन्ना
पद्धतिः पुनः ॥ १२३ ॥ मीमांसकैर्विनिर्दिष्टा, विभिन्नं सर्वसाधनम् । अत
एव बहिर्दृष्ट्या, ज्ञायते मतकर्मणाम् ॥ १२४ ॥ भेदाभेदक्रिया सर्वा, तथापि
तत्क्रियान्वयम् । कुर्यात्स्वभेदभावं च, भजते प्रेमभावतः ॥ १२५ ॥ जैनाचा-
र्यमहामतं, बौद्धाश्चत्वरशीलकम् । *योगे पञ्चात्मकं प्राह, यमं शमदमादिकम्
॥ १२६ ॥ वेदान्ते प्रवर्तनीयो, नियमोऽपि महात्मभिः । प्रत्येके धर्मनीतिर्हि,
दयापरोपकारिता ॥ १२७ ॥ प्रेमादिसामान्यमिति, सर्वसामान्यनिर्णये ।
नियमोऽपि गृहस्थानां, तथा धर्मे समानता ॥ १२८ ॥ उपयोगितोपभोगश्च,
कुर्वन्तीति निसाम्यताम् । वैराग्यलक्षणं तद्वत्समत्वं तुल्यमेव च
॥ १२९ ॥ सर्वत्र प्राप्य चैकमेवमिति सन्धार्यतां मुहुः । ज्ञानिना वर्तने
दृष्ट्या, जैनानां वर्त्तनं तथा ॥ १३० ॥ †सर्वप्राणिभिरित्येवं, समं भाव-
समानता । स्थापनीया न न्यूनाधिभवितव्या नियमस्तथा ॥ १३१ ॥ ‡मवीति

* "शमदमोपरतितितिक्षाश्रद्धादयः समाधानाः ।" †"मित्तिमे सव्व-
भूएसु" ‡"आत्मवत्सर्वभूतेषु" मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ॥
यजुर्वेद १८-२ ॥

नियमं चैव, ज्ञायतामित्यतः पुनः । **सर्वं मित्रवदापश्येदात्मवत्सर्वप्राणिषु** ॥ १३२ ॥ ज्ञानी जनो निजात्मानं, जीवात्मानं तथैव च । एकीभावेन सम्पश्येदिति प्राह श्रुतिर्मुहुः ॥ १३३ ॥ देहमीमांसकानां च, अनेकान्तिकदृष्टितः । औदारिकं तैजसं च, कार्मणं यच्च कथ्यते ॥ १३४ ॥ शरीरं चैव वेदान्तमतालम्बनतत्पराः । स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च, त्रिविधं वर्णयन्ति च ॥ १३५ ॥ ज्ञानविज्ञानयोर्यच्च, कारणं प्रोच्यते बुधैः । **जैना** यज्जाग्रतं स्वप्नं, तुरीयं प्रवदन्ति च ॥ १३६ ॥ वेदान्तेऽपि तथैवास्ति, त्रिधाऽवस्था स्वरूपतः । तथा **संसृतिमीमांसाज्ञानज्ञाः** प्रवदन्ति च ॥ १३७ ॥ मनसः परिणामेन, बन्धो मोक्षो हि जायते । **सृष्टिः सङ्कल्पतो ज्ञेया,** वेदान्तमतशालिनः ॥ १३८ ॥ मानसिकं तु जैनानां, *परिणाममयाऽपि वा । अध्यवसायं च वेदान्ते, संकल्पं चैकमेव हि ॥ १३९ ॥ प्रत्यक्षं दृश्यते चैकः, साधनामेदभावतः । साध्यश्चात्मा हि प्रत्यक्षं, ज्ञायतेऽभेद एव हि ॥ १४० ॥ अनुभवेऽप्येवमेवं, प्रत्येकं च मुमुक्षुभिः । **जीवात्मनि प्रेमभावः, स्थापनीयं** सदैव हि ॥ १४१ ॥ सर्वावस्थासु सर्वत्र, ममैवास्ति स्वरूपकम् । पश्यतैवेदममेदेन, प्रेमैव स्थाप्यतां सदा ॥ १४२ ॥ एतत्प्रमाणतश्चात्मानन्दाप्तेः साधनानि च । कुर्वन्समन्वयं सर्वमैक्यभावेन सर्वदा ॥ १४३ ॥ चलँस्तिष्ठन्नुपविशन्निपिबन्खादन्स्वपन्स्वपन् । सर्वक्रियासु सर्वत्र, शुद्धचैतन्यरूपवान् ॥ १४४ ॥ अहमात्मा चेदृशो वै, भावना स्थाप्यतां मुहुः । न चैतावद्धि विज्ञानं, भूतमात्रं मदीयकम् ॥ १४५ ॥ स्वरूपं प्रत्युतैवं च, ज्ञातव्यं च विशेषतः । ज्ञातव्यं प्रतितान्भक्तया, प्रेमभावप्रवर्धनम् ॥ १४६ ॥ कर्तव्यमित्थं ये चैव, पुरुषा जगतीतले । स्थापयन्त्यभेदभावं, वीतरागास्त एव हि ॥ १४७ ॥ पूर्णाश्च कृतकृत्याश्च, ते सन्ति भुवि चोत्तमाः । वीतरागो देवदेवो, महावीरः प्रतापवान् ॥ १४८ ॥ धन्योऽस्ति योऽहि निष्पक्षपातेन सुन्दरो मुहुः । मार्गोऽभेदात्मको भावो, दर्शितो जनतामुदे ॥ १४९ ॥ विनिःस्वार्थतया यो हि, प्रकटं कृतवान्मुहुः । सत्यस्वरूप एवास्ति, स एव परतः परः । स्वतन्त्रत्वस्य यश्चास्ति, द्वारमेतत्प्रधार्यताम् ॥ १५० ॥ **भावार्थः**—जो पुरुष केवल आत्मानन्दमें ही अहर्निश रमण करते हैं, उनको त्रिकाल वन्दना है । इस

*परिणामे बंधो, परिणामे मोक्खो ।

अलौकिक विश्वके सुरम्य और सौन्दर्यपूर्ण दृश्यकी ओर दृष्टि फैलानेपर स्पष्टतया नजर आता है कि अखिल विश्व आनन्दसे परिपूर्ण है। अर्थात् अखिल विश्वमें आनन्दकी अपेक्षासे एकता है। जगत्से उसके धर्म भिन्न नहीं हैं, विश्वके प्रत्येक प्राणी आनन्दमय हैं, उन्हें आनन्द ही प्रिय है अतः उसीकी इच्छायें तन्मय हैं। उस आनन्दको प्राप्त करनेके लिये साधन रूप ही विश्वके धर्म हैं, और उन धर्मोंको प्राणियोंने अपने 'आनन्द' के लिये ही उत्पन्न किये हैं, और आनन्दकी अपेक्षा जगत्के सब प्राणी समान हैं। तथापि व्यक्तिकी अपेक्षासे यदि देखा जाय तो मनुष्य एक उत्कृष्ट प्राणी है, और वह आनन्दकी अभिवृद्धिके लिये अनेक आकर्षण एवं सुरम्य उपायोंकी रचना करता रहता है। मनुष्यके रचे हुए आत्मानन्दकी अभिवृद्धिके उपायोंमें धर्म ही एक सर्वोत्कृष्ट उपाय है। प्रत्येक प्राणीके अन्तर्गत आनन्दका स्वरूप समान है। प्रत्येक प्राणीके आत्माका सामर्थ्य समान है। प्रत्येक प्राणीका वास्तविक स्वरूप भी समान है। तब तो इस अपेक्षासे साधन रूप धर्मोंका होना भी समान ही ठीक है, और उसके अनुसार सम्पूर्ण समान ही हैं। मनुष्य कुछ ऐसा प्राणी है कि वह आत्मानन्दकी अभिवृद्धि बहुत जल्दी कर सकता है। इतना ही नहीं बल्कि जो जो मनुष्य आत्मानन्दका अनन्त अनुभव प्राप्त कर चुके हैं वे वे मनुष्य अपने पीछेसे अर्थात् भविष्यकी मनुष्य जातिके लिये पाया हुआ आत्मानन्द साधन-रूप धर्म भूतलवासी मनुष्य जातिके लिये स्मारक रूपसे छोड गये हैं। उस धर्म रूपी उपकरण या साधन द्वारा इतर मनुष्य आत्मानन्दके अलौकिक आनन्दत्वको प्राप्त कर सकते हैं। जगत्के अन्य प्राणी इस प्रत्यक्ष विश्वकी अलौकिक प्रभासे आनन्दित होते हैं। परन्तु मनुष्य संज्ञक प्राणी तो स्वयं निजानन्दमय बन कर उस अपने आनन्द द्वारा अखिल विश्वके अप्रतिम आनन्दमें सुरम्य तथा उपादेयकी अभिवृद्धि कर सकता है। मनुष्योंका जो धर्म है वही अलौकिक आनन्दकी अभिवृद्धि यानगी रूप है। यह सृष्टि अनन्त कालसे अनन्ततत्त्वके रूपमें ज्योंकी त्यों चली आ रही है, और ध्रुव रूपसे अनन्त तत्त्वमें अनन्त तत्त्व रूपसे अलौकिक स्वरूपमें अनन्त काल तक शाश्वत स्वरूपमें ही—सत्य स्वरूपमें ही अलौकिक आनन्द रूपसे स्थिर और नित्य रहेगी। सृष्टि मीमांसक शास्त्री भी यही कथन करते

हैं कि यह सृष्टि अलौकिक वस्तु है, और यह नित्य तथा शाश्वत है। इस सृष्टिके अलौकिक सामर्थ्योंसे भरपूर अलंकारोंमें धर्म ही एक सर्वोत्कृष्ट अलंकार है। जगत्में अनेक धर्ममीमांसक हो गये हैं, और वे अलौकिक अलंकार रूपसे अपने धर्मविचाररूप प्रसादीसे इस भूतलको अलंकृत कर गये हैं। इन अलौकिक प्रसादियोंमें इस समय वेदान्त, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा, शैव, वैष्णव, स्वामी-नारायण, मुस्लिम, इसाई, यहूदी, पारसी आदि मुख्यतासे दृष्टिगोचर होते हैं। इनका तथा इनके अतिरिक्त और भी अनेक धर्मालंकारोंका हेतु केवल आत्मानन्दको ही प्राप्त करनेका है। सर्व धर्मका हेतु एक होकर उनके साधन भी एक ही हो जाते हैं, और वे अलग अलग देश कालपर आधार रखकर अलग अलग रूपोंमें प्रवृत्त हो रहे हैं। जैनका हेतु केवल आत्माका पहचानना और उसे मोक्ष तक ले जाना ही है। वेदान्तिक, वैष्णव, स्वामीनारायण, तथा योगीजन भी यही कहते हैं। जिनमें जैन कहते हैं कि—'एगं जाणइ से सव्वं जाणइ' जो एकको जानता है वह सबको जानता है। वेदान्तकी भगवती श्रुति भी कहती है—'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।' एक आत्माके जाननेसे यह सब कुछ जाना जा सकता है। जैन कहते हैं कि—"अप्पा सो परमप्पा" आत्मा ही पर-मात्मा है। तब वेदान्त कहता है कि—'अहं ब्रह्मास्मि, तत्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।" 'मैं ब्रह्म अर्थात् परमात्मा हूं' 'तू भी वही है' प्रकर्ष तथा सम्यग्ज्ञान ही ब्रह्म है' 'यह आत्मा ब्रह्म है'। वेदके चार खंड हैं, इन चारों खंडोंमें एक एक महावाक्य है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' यह ऋग्वेदका, 'अहं ब्रह्मास्मि' यह यजुर्वेदका, 'अयमात्मा ब्रह्म' यह अथर्ववेदका-और 'तत्त्वमसि' यह सामवेदके छान्दग्योपनिषद्का महावाक्य है। जैन सिद्धान्तका नियम है कि—"नाणे पुण नियमा आया।" 'ज्ञानमें नियमसे आत्मा है' वेदान्त भी यही कहता है कि—"प्रज्ञानं ब्रह्म" 'प्रज्ञान ही आत्मा है' जैन कहते हैं कि—जन्ममृत्यु रूपक संसृति कर्मके द्वारा चलती है, और वे कर्म जड हैं। इन कर्मोंका नियामक आत्मा है। यानी आत्मा कर्मजन्य सृष्टिका अधिष्ठान है। वेदान्त कहता है कि—मायाके द्वारा ये जन्मादि हैं और इसका नियामक आत्मारूप ईश्वर है। जैन कहते हैं कि—कर्मो-

पाधिका प्रलय होनेपर आत्माका मोक्ष होता है। वेदान्त कहता है कि मायोपाधिका प्रलय होनेपर आत्माका मोक्ष है। जैन कहते हैं कि—आत्माका मोक्ष होनेपर 'अपुणरावित्ति' संसारमें पुनरागमन नहीं होता अर्थात् आत्माको फिरसे जन्म मरणके चक्रमें नहीं आना पडता। वेदांत कहता है कि—"न पुनरावर्तते" आत्माकी पुनरावृत्ति नहीं होती। गीताजीमें भी कृष्णचन्द्रजीने कहा है कि—"यद्गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम" 'जहां गये बाद फिर आना नहीं पडता' वही मेरा परमधाम है। अर्थात् परमात्माके धामको परमधाम कहते हैं या मोक्ष कहते हैं। जहां जानेपर फिर वापस नहीं आना होता। जैन कहते हैं कि—'एगे आया' आत्मा द्रव्य गुण पर्यायकी दृष्टिसे एक है। वेदान्त कहता है कि "एकोऽहम्" मैं एक हूं। जैन कहते हैं कि—"तक्का जत्थ ण विज्जइ, मइ तत्थ ण गाहिता" तर्क आत्माके स्वरूप तक नहीं पहुंच सकता, और मति उस आत्माके स्वरूपको ग्रहण नहीं कर सकती'। वेदान्त कहता है कि—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" जहांसे वाणी वापस फिर जाती है वह आत्म-स्वरूप मन द्वारा अप्राप्य है। भावार्थ यह है कि—मन और वाणी उस आत्मा का वर्णन नहीं कर सकते। जैन कहते हैं कि—आत्माको सम्पूर्ण या अखंड रूपमें जानने वाले मनुष्य कैवल्य ज्ञानको पाते हैं। वेदान्त कहता है कि—"कैवल्यपदमश्नुते" आत्मा केवल्य पदका अनुभव करता है। वेदान्त कहता है कि—अखिल विश्वमें सच्चिदानन्द परब्रह्म सर्वव्यापक है। जैन कहते हैं कि—अखिल विश्वमें मारनेसे मरता नहीं, जलानेसे जलता नहीं, काटनेसे कटता नहीं, भेदन करनेसे भेदित नहीं होता, और चर्मचक्षु द्वारा दीख नहीं सकता, ऐसा सच्चिदानन्द स्वरूप जीव स्वाभाविकतासे सघन: रूपमें भरे पडे हैं। आकाश, पर्वत, पृथ्वी, नक्षत्र आदि कोई भी स्थान जीवसे खाली नहीं है। अर्थात् चैतन्यलक्षणयुक्त जीवकी दृष्टिसे देखनेपर चैतन्यदेव समस्त लोकमें भरपूर है। वेदान्त कहता है कि आत्मा स्वयं सर्वज्ञ है, जैन भी यही कहते हैं कि आत्मा अनन्त ज्ञानमय है। वेदान्त कहता है कि ब्रह्म सनातन है। जैन कहते हैं कि आत्मा स्वयं शुद्ध-बुद्ध आनन्द स्वरूप है और सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी है। वेदान्त और सांख्यादि भी यही कहते हैं। वल्लभाचार्य मतप्रवर्तक कहते हैं कि—निर्दोष-

पूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो, निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः। आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा॥
आत्मतन्त्र अर्थात् मात्र आत्म-स्वरूप निर्दोष है। पूर्णगुण विग्रह है। पुनः जडात्मक शरीर और गुणसे भिन्न है। [redacted] आत्म स्वरूपके हाथ, पैर, मुख, उदर इत्यादि अवयवोंकी कल्पना करने पर मात्र आनन्द ही है अर्थात् सम्पूर्ण आनन्दमय भेद भाव रहित है। आत्म-तत्वके अवयवोंसे श्लोकमें की गई कल्पनामें केवल आनन्द ही इसके अवयव हैं। यह स्पष्टतासे समझमें आ जाता है। इस आत्म-स्वरूपमें जन्म, जरा और मृत्यु रूपी भेद नहीं है। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय रूप त्रिविध भेदसे यह आत्म-स्वरूप भिन्न है। जैन कहता है कि—निश्चय नयसे तो आत्मा अकर्ता ही है। सांख्य शास्त्र कहता है कि—"अहंकारः कर्ता न पुरुषः।" कर्ता, धर्ता अहंकार है पुरुष नहीं, अर्थात् आत्मा कुछ नहीं कर्ता, प्रत्युत अकर्ता है। जैन कहता है कि—"ईश्वर सर्वज्ञ होता है, तथा उसमें राग द्वेष आदि कुछ भी नहीं हैं। योग शास्त्र कहता है कि—"**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।**" क्लेश, कर्म, विपाकके आशयोंके साथ असंस्पृष्ट-अलिप्त है, वही पुरुष विशेष पुरुषोत्तम और ईश्वर है यानी ईश्वरको राग द्वेष क्लेश कर्मविपाक नहीं छू सकते। "**तत्र सर्वज्ञबीजं**" उस ईश्वरमें सर्वज्ञत्व होता है। आत्मा अनन्त तत्व रूप है। वेदान्त कहता है कि—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।" ब्रह्म स्वरूपमें पाप, पुण्य, सुख या दुःख नहीं है। पुनः वेदान्त कहता है कि—"**न पापं न पुण्यं न दुःखं सुखं न। चिदानन्दरूपं शिवोऽहं शिवोऽहं॥**" "मेरा आत्म-स्वरूप शिव है, और उस शिवस्वरूप आत्मामें पाप, पुण्य, सुख दुःख नहीं है, क्योंकि वह सच्चिदानन्द रूप है। जैन कहते हैं कि—केवलज्ञानी यहां ही मोक्षका अनुभव करते हैं। इसीसे मिलता जुलता स्वामीनारायण मत प्रवर्तक श्री सहजानन्द स्वामीका भी यही मत है कि—'अक्षर धाम यहीं है, आत्मा स्वयं अक्षर स्वरूप है। जो आत्माको यहांके लिये भी अक्षरधाम समझता है उसीकी समझ सच्ची है, और जो अक्षरधामको किसी अन्य स्थल आकाशादिमें समझते हैं उनकी समझ मिथ्या है। प्रणामीपंथ अर्थात् खीजडापंथ प्रवर्तक महेराज ठाकुर तथा श्री देवचन्द्रजी

अपनी सम्प्रदायको निजानन्द सम्प्रदाय कहते हैं। इस दृष्टिसे देखनेपर पता चलता है कि भारतके धर्मात्मा पुरुषोंका सिद्धान्त आत्मानन्दके पानेका ही है। **मुहम्मद साहब** भी यही कहते हैं कि जगतमें जो भी कुछ चैतन्य प्रतीत होता है वह खुदाकी रवानी है, खुदा निरंजन, निराकार, तेजोमय और सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ है। **मोमिन** तो कृपालु खुदाको अपने पास ही देखते हैं। खुदाका अर्थ भी खुद ही होता है। **जिसिसक्राइस्टका** भी यही उपदेश है कि चौथे आसमानपर प्रभु विराजमान हैं। वह प्रभु भक्तोंका आत्मा है, और परम भक्त उस प्रभुको प्राप्त करते हैं। अखिल भूमण्डलमें सर्वोत्कृष्ट कीर्तिको पानेवाले बुद्धदेव भी स्पष्ट कह गये हैं कि प्रेम ही आत्मा है। अतः जगत्के प्रत्येक प्राणीमें अभेद प्रेम रक्खो। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो जैन, वेदान्त योग, सांख्य, बौद्ध आदि सब एकताका ही अनुभव करते हैं। एकता पानेके लिये अर्थात् आत्मानन्दमें अभिवृद्धि करनेके लिये साधनोंको भिन्न भिन्न धर्म मीमांसकोंने भिन्न-भिन्न देश कालमें भिन्न-भिन्न पद्धतिसे समझाया है। अतएव बहिर्दृष्टिसे देखा जानेपर उन मतोंकी क्रियाओंमें भेद जान पड़ता है। तथापि उन क्रियाओंका समन्वय किया जाय तो वे भेद भी अभेद भाव भजने लगते हैं। जैन जिसे पांच महाव्रत कहते हैं, बौद्ध उन्हें पांच शील कहते हैं, और योगी उन्हें पांच यम कहते हैं। वेदान्तके शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समान भी ऐसे ही हैं। परमहंसोंके वर्तन करने योग्य नियम भी अन्तमें एक ही हैं। प्रत्येक धर्मके नीति, दया, परोपकार, प्रेम आदिके सामान्य और सर्वमान्य नियम भी गृहस्थ धर्ममें समानता तथा उपयोगिताका उपभोग करते हैं। समतादि वैराग्यके लक्षण भी सबमें समान रूपसे ही पाये जाते हैं। ज्ञानी पुरुषोंके वर्तावकी ओर दृष्टि डालते हुए जैनोंका वर्ताव **"मित्ति मे सव्व भूयेसु"** सब प्राणियोंके साथ मित्रता अर्थात् समान भाव रखना चाहिये न्यूनाधिक न होना चाहिये। वेद भी कहता है कि— **"मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।"** "सबको मित्रकी दृष्टिसे देखना चाहिये।" **'आत्मवत्सर्वभूतेषु'** ज्ञानी पुरुष अपनी आत्माके समान सब जीवोंको देखते हैं। देह मीमांसकोंकी तरफ दृष्टि डालनेपर जैन मुख्य-

तासे, औदारिक, तैजस, कार्मण शरीर कहते हैं। इसी प्रकार वेदान्ती भी उन ही शरीरोंको स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर कहते हैं। जैन जिसे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और उजागर या तुर्यावस्था मानते हैं, उन अवस्थाओंका वर्णन वेदान्ती भी उसी प्रकार करते हुए सन्तोष प्रगट करते हैं। संप्रति मीमांसकोंके कथनको देखते हुए जैन यह कहते हैं कि—"**परिणामो बन्धो परिणामे मोक्खो ।**" "मनके परिणामसे ही बन्ध और मोक्ष है।" वेदान्ती संकल्पसे सृष्टि मानते हैं। जैनोंका मानसिक अध्यवसाय और परिणाम तथा वेदान्तका संकल्प एक ही बात है। इन प्रमाणोंसे आत्मानन्दकी अभिवृद्धिके साधनोंका यानी धर्मोंका समन्वय करते हुए वे सब अमेद भावमें प्रत्यक्ष समाये हुये दीखते हैं। साधन अभेद होनेसे साध्य आत्मा भी प्रत्यक्षमें अभेद ही समझा जाता है, और अनुभवमें भी यही आता है। अतः प्रत्येक मुमुक्षु जीवको प्रत्येक जीवमें प्रेम भाव रखना चाहिये, और सब जगहोंमें ही सर्वत्र मेरा ही स्वरूप है, यही पाठ पढ़कर अभेद प्रेम रखना चाहिये। हलते, चलते, उठते, बैठते, खाते, पीते इत्यादि सब क्रियाओंमें शुद्ध चैतन्य आत्म-स्वरूप हूं यही भावना रखनी चाहिये। इतना ही नहीं, बल्कि—जगत्‌के सब भूत भी मेरे ही स्वरूप हैं। यह जानकर उनके प्रति अभेद प्रेमकी वर्षा करनी चाहिये। इस प्रकार जो पुरुष सब जगत्‌पर अभेद भाव रखते हैं, वे ही वीतराग हैं, पूर्ण हैं, और कृतकृत्य हैं। धन्य उस वीतराग देवको है कि जिसने निष्पक्षपातसे ऐसा सुन्दर अभेद मार्ग जगत्‌के कल्याणके लिये निःस्वार्थभावसे प्रगट किया है।

ज्ञातार्थस्य पदार्थस्य, ज्ञानं प्रबोधनाद्भवेत् ॥ १५१ ॥ तदनुवादरूपं हि, विज्ञेयं न प्रमाणता । प्रवन्धस्याथ शास्त्रस्य, निर्णेतुं यस्य कस्यचित् ॥ १५२ ॥ विचारोऽत्र प्रकर्तव्यो, नान्यथा सिद्धिरुच्यते । यथोपक्रमप्रारम्भावुपसंहार-समाप्तिकौ ॥ १५३ ॥ अभ्यासः स हि विज्ञेयो, यद्विचारं समभ्यसेत् । अपूर्वं नूतनं किञ्चिद्ग्रन्थो विनिरूपितम् ॥ १५४ ॥ फलं सुपरिणामं चाप्यर्थवादस्तथैव च । प्रशस्तलक्ष्यवाक्यं च, सोपपत्त्युपपादनम् ॥ १५५ ॥ सम्प्रधार्योक्तवाक्यं च, प्रकृतमकरन्दकम् । तदास्वादनं सम्यक्, कर्तव्यं रसतत्त्ववत् ॥ १५६ ॥ कुतस्समस्तजीवास्तु, भव्यमुख्यरसस्य हि । आस्वादनार्थमेवात्र, प्रवृत्ताश्च तृषार्दिताः ॥ १५७ ॥ सुवार्तेयं द्वितीयाऽस्ति, तदेष्टा कर्णेऽपि च ।

आप्यते नाऽपि गोपेन, लभ्यते स्वादनं ततः ॥ १५८ ॥ तदेदमपि ज्ञातव्यं,
गौणतोपाधिकारणम्। पुद्गलस्यैव सम्बन्धाज्जायते न च वस्तुतः ॥ १५९ ॥
सच्चित्सुखे तु गौणत्वमेतदर्थमवेक्ष्यते। यदानादिस्वभावेन, बहिरङ्गत्वमेव हि
अन्तरङ्गत्वदृष्ट्या तु, केवलानन्दरूपकः ॥ १६० ॥ आत्मानन्तकार्मणवर्गणा
सम्बन्धितो भवेत्। 'गुणविकाराः पर्यायाः' पर्यायेण समन्वितः ॥ १६१ ॥
कार्मणवस्तु सर्वत्र, सर्वदा परिवर्तते। परिवर्तनं परं साक्षात्सानुकूलमिदं भवेत्
॥ १६२ ॥ तत्रेष्टाऽनिष्टयोर्योगश्चान्योऽन्यं मिश्रितः स्थितः। प्रद्वेषात्मन्यतः
संविभावादेव दुःखकः ॥ १६३ ॥ सम्बन्धवत्स्वभावाभिवृत्तिः स्वस्य भावना।
कार्यं करोति सर्वत्र, सेयं सर्वं विचारतः ॥ १६४ ॥ सच्चिदानन्दकन्दस्य,
सत्तापाथेति बोधनम्। सुगमत्वेन संविदेद्विपर्येऽखिलभ्रान्तिता ॥ १६५ ॥
अनुमानापमानस्य, करणं जायते ततः। परिणामस्य यस्यास्ति, निमहत्वं ततः
स्फुटम् ॥ १६६ ॥ अतो यस्मिँश्च कार्मणवर्गणानामबाधतः। अत्यन्ताभाव एव
स्याद्विशुद्धं भगवत्पदम् ॥ १६७ ॥ लभ्यते वद्धि परमं, नान्यथा कोटियत्नतः।
परं यत्र नृदेहेन, सहितो भगवत्यपि ॥ १६८ ॥ चतुष्टयमनन्तं च, भाति
तद्भगवत्पदम्। अर्थान्सर्वानतीतादीन्, ज्ञातव्योऽवश्यमेव च ॥ १६९ ॥
यस्मिन्नैश्वर्यवीर्ये च, यशो धर्मश्च ज्ञानकम्। श्रीर्वैराग्यं तथा मोक्षं, इमे
षड्संख्यका गुणाः ॥ १७० ॥ समुदायस्य चाप्येषु, 'भगसंज्ञा' प्रकीर्तिता।
भगवच्छब्दकस्याऽस्य, लक्षणं समुदाहृतम् ॥ १७१ ॥ **कुण्डिननेशनरेशस्य,**
सिद्धार्थनन्दनेन च। त्रिशलाङ्गजवीरेण, त्रिजगद्गुरुणा मुहुः ॥ १७२ ॥
सम्पूर्णलीला विज्ञातस्तेन तत्रास्ति लक्षणम्। इति विवेचनेनैव "वीरस्तु भगवान्
स्वयम्" ॥ १७३ ॥ इत्यस्याक्षरशश्चार्थो, भविष्यति समर्थनम्। निरूपणं तथा
तस्य, करिष्यति विचारतः ॥१७४॥ **"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य"** इत्यस्यार्थोऽनुक्र-
मतः। भगवद्वीरदेवस्य, जन्मकालात्ततो मुहुः ॥ १७५ ॥ निर्वाणपदप्राप्त्यन्तं,
जन्मकालादनुक्रमात्। निखिलस्येतिहासस्य, प्रत्येकं लघुभावतः ॥ १७६ ॥
सिद्धोऽस्तीति महावीरो, भगवानादिपूरुषः। सम्प्राप्य पूर्णरूपेण, चतुष्टयम-
नन्तकम् ॥ १७७ ॥ अनन्तशक्तियोगेन, सर्वैश्वर्यं समासवान्। अनन्ततेज-
स्तद्वच्च, प्रथमयाऽवस्थया मुदा ॥ १७८ ॥ सकलैश्वर्यसद्भावेन, युक्तश्चासीज्जि-
नाश्रय। स्वर्गजातकपर्यायपूर्तिं कृत्वाऽथ नाकतः ॥ १७९ ॥ स्वर्गात्पूर्णश्च
देवायुः, शरीरं वैक्रियं तथा। एवमाहारसम्पूर्णं, कृत्वा तस्याः शुक्तितः

॥ १८० ॥ त्रिशलायाः समुद्धूय, चतुर्दशविधं पुनः । महास्वप्नं प्रदृष्टं च, स्वर्णवृष्टिरसंख्यका ॥ १८१ ॥ जन्मोत्सवं सुराणां वै, शक्रस्यागमनं तथा । विधातुमुत्सवं सर्वे, सुरेन्द्रसेवनं पुनः ॥ १८२ ॥ प्रतिक्षणसपर्यायाः, सामम्या च मुहुर्मुहुः । नेयमल्पस्य वीर्यस्य, वार्ताखि सुप्रबुध्यताम् ॥ १८३ ॥ स्वसयमस्य येलायां, तेनानन्तस्ववीर्यतः । ऐश्वर्यस्यानुकूलत्वप्रतिकूलत्वयातना ॥ १८४ ॥ इति परिषहं जित्वा, सम्प्राप्य विजयं तथा । जिनत्वं तेन संलब्धं, तदाऽसंख्यसुरासुरैः ॥ १८५ ॥ नरैर्नरेन्द्रैर्देवेन्द्रैः, समुत्कृष्टभयोपशमात् । एतद्वारैव सद्भावाऽनुभवश्च कृतो महान् ॥ १८६ ॥ "स्वयन्तु भगवान् वीर" इति निश्चित्य मानसे । रागाद्यान्तरिकान्शत्रून्, विनिर्जित्य विभुर्जिनः ॥ १८७ ॥ अतश्चानन्तरूपेण, प्राप्स्यनन्तरमेव हि । भगवद्वीरदेवस्य, समग्रैश्वर्यरूपकम् ॥ १८८ ॥ सुस्पष्टं लक्षणं चास्ति, विवरणत्वं तदाधिकम् । निरूपणत्वमेवं च, नावश्यं तस्य वर्णनम् ॥ १८९ ॥ **"समग्रस्य च धर्मस्य"**, लक्षणं संनिरूप्यते । तथा साधनसामग्र्या, धर्मो नाम्नोच्यते बुधैः ॥ १९० ॥ दुर्गतौ पतमानं यो, जीवं धारयते मुहुः । स एव धर्मो विज्ञेयो, यतोऽनन्तसुखोद्भवः ॥ १९१ ॥ दुर्गतौ पतितं तद्वदुदन्तं जीवमित्यपि । संरक्षयुक्तविपथि, तिरोभावं करोति न ॥ १९२ ॥ "स चात्मपुरुषार्थस्य, धर्म इत्युच्यते बुधैः ।" तदाऽऽत्मपुरुषार्थस्य, धर्मसंज्ञा ब्रुवन्ति च । एतदृच्छा तु भगवान्, सदा वीरो हितावहः ॥ १९३ ॥ धर्ममूर्तिस्तथा साक्षादभूदिति निशामय । "परमेष्ठी परञ्ज्योतिर्विरागो विमलः कृती । सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्व्वः शास्तोपलाल्यते ॥" इत्युक्तानुरोधेन, भूत्वा सर्व्वोपदेशकः ॥ १९४ ॥ सच्छास्त्रद्वादशाङ्गस्य, गिरां प्रख्यानकं पुनः । विधाय शास्त्ररूपे च, कृतवान् परिणतं मुदा ॥ १९५ ॥ "आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् । तत्वोपदेशकृत्सार्व्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥" शास्त्रमित्थं च निरवद्यं, प्रदाय भगवान् जिनः । स्वीयाभूतमयं रूपं, तथेष्टं सकलं पुनः ॥ १९६ ॥ अनेकान्तं समाश्रित्य, श्रेष्ठोपदेशकैरपि । तथाऽऽदर्शमयाऽनन्तं, चरित्रं नः प्रदर्श्य च ॥ १९७ ॥ एवं म्यानुपमं दिव्यं, श्रावकश्रवणार्हकम् । गृहिधर्ममनागारं, साधुधर्मरहस्यकम्, ॥ १९८ ॥ कृतकृत्यं भव्यसृष्टेः, कृतवान् यः समासतः । विनिर्व्वाणपथादर्शो, भूत्वा भव्यात्मनां मुहुः ॥ १९९ ॥ कार्मणवर्गणानां च, स्वस्मुत्तार्य यत्नतः । लघूंस्तान् कृतवान् सर्वान्, वर्धमानो नयान्वितः ॥ २०० ॥ प्रयात्मकं ययो

द्दिष्टं, रत्नं नयप्रमाणकम् । तत्वनिक्षेपसंज्ञं वै, गम्भीरत्वं महत्वकम् ॥ २०१ ॥ परिपूर्णं तदाऽप्यासीद्बहुलमहत्वयोः । चतुरक्षेण वै तद्व्याख्याने द्वेतने तथा ॥ २०२ ॥ वर्णनं क्वचिदस्त्यीह, ज्ञेयमन्यद्विचारणात् । स्थालीपुलाकन्यायेन, प्रत्येकं वस्तुभावतः ॥ २०३ ॥ किंचिन्मुख्यत्वभावेन, दिग्दर्शनमतोऽकरोत् । निगद्यते पुनः स्पष्टं, भगवद्वीरस्वामिनः ॥ २०४ ॥ निर्वाणं परमार्थेन, सह व्यवहारिकी दशा । कियद्गुणातिरूपेण, तथा पुष्कलभावतः ॥ २०५ ॥ आसीद्यतः सद्वस्तुषु, चमत्सम्बन्धभावतः । गार्हस्थ्यजीवनं तेषां, समुज्ज्वलतयाऽस्ति येत् ॥ २०६ ॥ तत्प्रमाणाङ्गभूतं हि, उपासकदशाङ्गके । सूत्रेऽपि विद्यते तावद्वीमत्ता तत्र दृश्यताम् ॥ २०७ ॥ गृहाश्रमे बहुविधे, कार्यादर्शकरूपिणि । कुर्वन् परिणतं स्वासीत्स्वयं तच्च निशामय ॥ २०८ ॥ (१) 'वीरस्तु भगवान् प्रभुः', पितरावभितः प्रति । पूर्वं गर्भाशये मातुर्जनकस्य च सेवनम् ॥ कृत्वाऽथ दर्शनाद्येवं, ज्ञानानुभवतस्तथा ॥ २०९ ॥ स्वयं प्रतिज्ञां कृतवान्, यावन्मे जननी पिता । जीवतस्तावदत्यन्तमर्हद्दीक्षां सुसंयमम् । योगाभ्यासं न चाहं वै, स्वीकरोमि कदापि हि ॥ २१० ॥ यतो मे जनको माता, मोहदृश्याऽनुरागवान् । न नु समतया दृष्ट्वा, इति चिन्तापरोऽभवद् ॥ यतोऽहमनयोरमत्वे, संन्यासं संयमं मतम् ॥ २११ ॥ चरिष्यामि प्रसङ्गेऽपि, न हेयोऽन्यनयोर्नयः । हृदये पुनराघातः, स्यान्महानिति मे मतिः ॥ २१२ ॥ दुःसाध्यं च भवेत्तस्मात्सहनं चेतसा कुतः । जीवनस्याऽनया रीत्या,, संसारसार्वदेशिकी ॥ २१३ ॥ घटनयाऽनया शिक्षा लभ्यते नो विशामय । पित्रोराज्ञां विना तद्वदौदासीन्यं न कर्हिचित् ॥ २१४ ॥ कोऽपि स्वकस्य गृहारम्भं, सुनिश्चर्यां न धारयेत् । घटनयाऽनया तेषां, बदाज्ञापालनं तयोः ॥ २१५ ॥ विशावश्यकत्वेन, सेवायाश्च कियत्फलम् । संसाध्य दर्शनं तस्य, मौलिकं च विभावयेत् ॥ २१६ ॥ तीर्थङ्करोऽपि भगवान्, प्रथमे जीवनेऽपि यत् । सेवाधर्मस्थापनं वै, कुरुते विश्वभावनः ॥ २१७ ॥ कथ्यतां किं च वीरस्य, स्वामिनश्चेदसद्भुतम् । आदर्शरूपं सेवायाः, पितॄणां किमनल्पकम् ॥ २१८ ॥ महत्वं विषयस्यास्ति, सूक्ष्मदृष्ट्याऽवलोक्यताम् । प्रतिज्येष्ठं भ्रातरं च, अत्युमोदारशीलता ॥ २१९ ॥ नन्दीवर्धननामानं, भ्रातरं भगवान् वृद्धः । एकस्मिन् दिवसेऽवोचत्, मदीयोऽभिग्रहोऽधुना । समाप्तोऽभूद्यतश्चाद्य, भवदाज्ञां प्रज्ञा च ॥ २२० ॥ दीक्षितेक्षां करोम्यद्य, तदा ज्येष्ठोऽब्रवीद्वचः । निर्मोहं च प्रभुं ज्ञात्वा, स्वयं नु मोहपीडितः

॥ २२१ ॥ भवन्तं ज्ञायते शुद्धं, स्वर्गारोहणयोगतः । पितुर्मातुः स्फोटकोर्ध्वे, लवणक्षेपणैः समः ॥ २२२ ॥ भविष्यति न सन्देह, इति कृत्वा दयां भवान् । मदीयकथनेनैव, समुषित्वा गृहे पुनः ॥ २२३ ॥ अब्दद्वयसुपर्यन्तं, दर्शनार्थमुदारताम् । दर्शयेच्चेन्महान् देवानुग्रहः स्यान्मयि प्रभो ! ॥ २२४ ॥ तथैव भगवान् वीरः, कृतवाञ्चान्यथा क्वचित् । भ्रातुः पूज्यतमस्यापि, चेच्छया चापि सम्मतः ॥ २२५ ॥ त्यागोऽननुकूलगमनं, नोचितोऽथ निवृत्तितः । तथापि भगवान् वीरः, स्वयं च जगदीश्वरः ॥ २२६ ॥ ज्येष्ठो भ्राता दर्शनेन, विनयेन च तोषितः । तद्वच्च सुखिनः कृत्वा, ज्येष्ठभ्रातुः सुसेवनैः ॥ २२७ ॥ पाठोऽपि पाठितस्तेन, वर्षद्वयमभूद्गृही । भ्रातुराज्ञानुरोधेन, दीक्षाऽपि नैव धारिता ॥ २२८ ॥ एवं संयमसंकल्पं, हित्वा निर्वाणदं ध्रुवम् । प्राशुकभोजी भूत्वा च, गृहमेवाश्रयत्पुनः ॥ २२९ ॥ धन्योऽसि ! भगवंस्त्वं हि, नाऽप्रसन्नः कृतोऽनुजः । अतः पाठमिमं लोक, स्वयमाप विना श्रमम् ॥ २३० ॥ भगवद्वीरवरस्यास्य, भ्राता पितृसमः स्मृतः । इति ज्ञात्वा सेवया च, सुखिनं तं विधाय च ॥ २३१ ॥ सन्तुष्टत्वेन संस्थाप्यस्तथा मान्योऽनुजो मुहु । तेऽपि रक्ष्याः प्रयत्नेन, धर्मोऽयं व्यावहारिकः ॥ २३२ ॥ तद्वार्द्धस्थ्ये च वैराग्यमष्टाविंशतिसङ्ख्यके । वयस्येव सुसम्पन्ने, पित्रोः स्वर्गतयोस्तदा ॥ २३३ ॥ तदा वर्षद्वयं स्थित्वा, गृहेऽध्यात्मस्वरूपके । चिन्तनं योगिचर्यायाः, समारम्भोऽप्यकारि च ॥ २३४ ॥ तेनाभ्यासयोगतः सम्यग्बोधिता दीक्षणेप्सव । दीक्षाधारणतः पूर्वं, गृहिधर्मे समभ्यसेत् ॥ २३५ ॥ विशेषतो योगचर्यां, यया विशदया सदा । चर्यया च सुभाविन्या, स्याच्चिवृत्तिर्यथाक्रमम् ॥ २३६ ॥ इत्थं तस्याः स्वयं ज्ञानं, जायेत तदनन्तरम् । सहिष्णुतायास्त्यागस्य, भवेज्ज्ञानं तथा पुनः ॥ २३७ ॥ अथावधिक्रियज्ञातमुदारोत्तीर्णता यदि । अभिप्रायोऽस्ति मे चाद्य, सच्चर्यायां विपाकतः ॥ २३८ ॥ भूत्वा दृढस्ततः पादौ, धर्तव्यस्साधुसाधने । न तु पूर्वं ततश्चैवं, विज्ञानां गतिरीदृशी ॥ २३९ ॥ **(२) राजनैतिकशिक्षायाः, शिक्षको** यत्र बालके । अमात्यनृपतीनां च, पुत्राणां भूभुजां पुनः ॥ २४० ॥ यदाऽभूज्ज्ञानमेतद्धि, नरराजसिद्धार्थंगत् । महिष्या त्रिशलयाऽदर्शि, स्वप्नश्चतुर्दशविधः ॥ २४१ ॥ यौवने सार्वभौमश्च, चक्रवर्ती भविष्यति । एतद्वृत्तान्तश्रवणाच्छ्रेणिकेन्दुप्रद्योतनौ ॥ २४२ ॥ दधिवाहनप्रभृतिराजपुत्राः समागताः । भगवद्वीरसेवायां, संलग्नाश्च मुहुर्मुहुः ॥ २४३ ॥ क्षत्रिया-

ह्यंचिता सेवा, ततोऽतिरिक्ते शिक्षणे । प्रवृत्ता भावुकत्वात्ते, सुश्राद्धोचित-कर्म्मणि ॥ २४४ ॥ तेभ्योऽपि भगवान् वीरो, गृहस्थक्षात्रयोरपि । बोधयित्वा च सद्धर्म्मं, सदैतान् सम्प्रयुज्य च ॥ २४५ ॥ व्यवहारेऽथ न्याये च, निपुणत्वं स्वधर्मिणि । नियुक्ता राजपुत्रास्ते, चान्तरङ्गस्वभावतः ॥ २४६ ॥ जाताव-बोधस्तेनायं, धर्मधीश्चतुरन्तकः । चक्रवर्ती तथाऽयं हि, भविष्यति न संशयः ॥ २४७ ॥ तन्निरीहविचारोत्थात्तान्प्रतिस्वर्णवद्रुतः । प्रभावस्तेन ते सर्वे, स्वराज्ये सुखसञ्चयम् । परिग्रहे च सन्तोषं, प्राप्याऽऽगता यथागृहम् ॥ २४८ ॥ राज्यशासनकर्मादौ, दक्षं प्रशासको ह्यभूत् । प्रजारक्षणनिष्ठावान्, भूत्वा तद्-वर्नं कृतम् ॥ २४९ ॥ "दमनं तु शठानां चावनमशठानां तथा । समाश्रितानां भरणं, राज्यचिह्नमिति स्मृतम् ॥ २५० ॥ चरितार्थमेतदुक्तेः, करणे जातं निरन्तरम् । अथातः सम्प्रवक्ष्यामि, वार्षिकदानमुत्तमम् ॥ २५१ ॥ अथ सांवत्सरिकदानम्–दीक्षाधारणतः पूर्वमेकवर्षप्रमाणतः । त्रिंशद्वर्ष-समारम्भे, जिताचारसुभावतः ॥ २५२ ॥ निरीहत्वेन यद्दानं, वीयतेऽनुपकारिणे । इत्यादिदानधर्मस्य, प्रारम्भं कृतवान् मुदा ॥ २५३ ॥ वर्षावधि सुभव्येभ्यो, मानवेभ्यः प्रदत्तवान् । पुष्कलत्वेन दानं यत्सर्वे तेनाऽनृणाः कृताः ॥ २५४ ॥ केऽपि कस्यापि न जाता, ऋणिन इति सुप्रथा । तथा पुद्गलवर्गे च, ममत्वं तु ह्यपाकृतम् ॥ २५५ ॥ रीत्याऽनया पुनस्तेषां, न मोहस्मृतिविभ्रमः । न जातं च ततश्चेयं, शिक्षा नः स्थापिता पुरा ॥ २५६ ॥ नीत्वा संन्यासमैश्वर्यं, भौतिकाच्च तथैयती । समुत्तीर्य पदार्थांस्तु, यतो भाविविकर्म्मणि ॥ २५७ ॥ नात्मावरोधो जायेत, तथारम्भपरिग्रहात् । निवृत्तोऽप्रतिबद्धश्च, भूत्वाऽध्यात्मन्य-मायया । ततो विलीनो भावाश्च, भवेदत्र न संशयः ॥ २५८ ॥ अथ शैशवे निर्भयक्रीडनम् । वस्तुतोऽन्तकपर्य्यन्तं, निर्भयत्वेन संस्थितः । परं भयं न बाल्येऽपि, कृतवान् स कदापि हि ॥ २५९ ॥ विषान्वितोरगं रज्जुमिवो-त्थाप्य प्रक्षिप्यते । श्वापदाजीवसंघौघ, सदासच्चान्ततेजसा ॥ २६० ॥ करोति स्म भवन्तं च,-दृष्ट्वैव दूरमागमजन् । महतो भयङ्करान्देवानसुरान् राक्षसांस्तथा ॥ २६१ ॥ बलिनो विद्विषस्तद्वदनायासेन लीलया । विजित्य जयमाप्नोति, संशयं नात्र कर्हिचित् ॥ २६२ ॥ अथाबोधाभीरकप्रकरणम्–अबोधाऽऽ-भीरसन्ततीनां, गोमहिष्यादिचारिणाम् । कस्मिन्देशे च तेषां वै, संज्ञा 'पाली' ति कथ्यते ॥ २६३ ॥ जल्पद्भिर्मनुजैः सार्कं, मुधैव बहुधर्पणम् । अज्ञान

क्रोधकरणं, क्षेत्रविध्वंसनं तथा ॥ २६४ ॥ प्रतिद्वन्द्विनामिदं कर्म, तेषां सुगममस्ति हि । ध्यानमग्नो वने संस्थः, कायोत्सर्गे व्यवस्थितः ॥ २६५ ॥ तत्क्षणेऽज्ञानावस्थाश्च, रज्जुभिस्ताडयन्ति च । निर्माय तस्य पार्श्वे तु, चुल्हिकां पायसं यदा ॥ २६६ ॥ पाचयन्ति क्षणे तस्मिन्, तापयन्त्यग्नितस्तया । स च वीरतया सर्वं, सोढवांश्च दुःखभाग् ॥ २६७ ॥ एकमेव क्रोप्यबोधो, विनोदेन शल्यकया । वंशस्य तीक्ष्णया कर्णे, भेदितो रक्तधारया; आप्लुतश्च ततः काये, दुर्बलत्वमजायत । तथाऽप्यनुमहस्तस्मै, कृतस्तेन महात्मना ॥ २६८ ॥ नानिष्टं प्रोक्तवाँस्तस्मै, किञ्चिदपि च दुःखतः । दृष्ट्वा समानया तद्वत्समभावनया तथा ॥ २६९ ॥ यातनां सहनशीलोऽप्यभूदाश्रित एव सः । ध्यानावस्था दृढा जाता, मानसीवृत्तिरीदृशी ॥ २७० ॥ मेरुवत्तस्य सञ्जाता, ध्यानवृत्तिः सुनिश्चला । सागरवच्च गम्भीरा, सूर्यवत्सा प्रकाशिका ॥ २७१ ॥ सहिष्णुता समुत्पन्ना स्वर्गेऽपि तत्प्रशंसनम् । सभायां चारु इन्द्रोऽपि, प्रशंसां कृतवान्मुहुः ॥ २७२ ॥ दुर्विदग्धाः सभायां ये, ज्ञानशून्याः सुरास्तथा । विश्वासं नैव कुर्वन्ति, दर्शनांशेन वर्जिता ॥ २७३ ॥ देवाङ्गनासहस्राणि, गृहीत्वैकः समाययौ । परीक्षार्थं भगवतः, सङ्गमश्चाब्रवीत्सुरः ॥ २७४ ॥ "ध्यानव्याजेत्यादि" चेति, वाक्यं तद्विबुधाधमः । ध्यानं तु केवलं देव! व्याजमात्रं प्रदर्श्यते ॥ २७५ ॥ नेत्रे सम्मील्य भगवन्! प्रियां कामपि ध्यायसे । देव! त्वदग्रे वामोऽपि, हावभावसुविभ्रमैः ॥ स्त्रियः कटाक्षपातं हि, कुर्वन्ति स्म मनोहरम् ॥ २७६ ॥ किञ्चिदुन्मील्य नेत्रे च, दृश्यतां नो जगत्प्रभो! कामबाणार्दितास्त्वास्तु, सम्पीड्य हृदयं मुहुः । स्थिताः क्षिप्रं गृहीत्वैव, बाहुं स्ववशमानय ॥ २७७ ॥ भवान् दयालुः षड्जीवरक्षणे सम्प्रवर्तते । परं नो मन्मथो देव! सन्तापं कुरुते रहः ॥ तत्प्रतीकारहेतुश्च, भवानेव हि दृश्यते ॥ अतो वयं भगवतः, शरणं च समागताः ॥ २७८ ॥ वचनार्थमतः स्वामिन्! तवाङ्के पतिता वयम् । देहि नो स्थानं भगवन्! शरणं त्वां हि कृपानिधिम् ॥ २७९ ॥ शरणागता इति ज्ञात्वा, दीनानां त्राहि मारतः । महान् खेदस्य विषयो, यद्य वा रक्षतीश्वर! ॥ २८० ॥ न किञ्चिच्छ्रूयतेऽस्माकं, न चोत्साहं प्रदीयते । त्राता भूत्वा न कुरुते, रक्षामपि दयापरः ॥ २८१ ॥ सुस्पष्टं ज्ञायतेऽनेन, मिथ्याडम्बरनिष्ठो भवान् । यद्वतस्ते वयं कुर्मः, सेवां न त्वं प्रसीदसि ॥ २८२ ॥ कर्णान्ते ते न यूकाऽपि, चलते किमतः परम् । वयं पराजयं मत्वा, ज्ञातवन्तस्तवोऽधिकम् ॥ २८३ ॥ नान्योऽ-

विनिर्घृणतरो, कठोरहृदयोऽपि च । त्वत्समो नास्ति संसारे, परिपक्वो दया-
निधे! ॥ २८४ ॥ एवमुक्त्वा चालयन्तो, ध्यानादुद्विग्नमानसाः । समाश्रित्य
स्वमार्गं ता, गता स्वसदनं प्रति ॥ २८५ ॥ अतोऽस्माकमियं शिक्षा, सामा-
यिके च संवरे । प्रोषधे प्रतिक्रमणे, समाराधनके क्षणे ॥ २८६ ॥ रक्षणीये
दृढा चर्या, यतः स्याच्चलाऽनघा । भूत्वा विषयतस्तद्वद्विजयःस्यादनुक्रमात्
॥ २८७ ॥ इत्युपदेश्य सञ्जातो, शाश्वतां मनसा दृढा । **अथ शरणागतान्
रक्षणम्**—अथार्तांश्छरणापन्नान्प्रति वीरस्य सद्गुरोः । छद्मावस्था त्यागपरं,
निष्कामजीवनं ततः ॥ निर्बाध्याति संसारे, तपश्चर्यानतेन च ॥ २८८ ॥ आर्ताः
सन्तापिताश्चान्यैर्यदा तच्छरणागताः । तेषामाह्वानमादौ हि, शृणोति च यथा-
र्थतः ॥ २८९ ॥ त्यक्त्वा ध्यानं तपश्चर्यां, तेषां रक्षा कृताऽनिशम् । महतोऽ-
साध्यकष्टाच्च, सुरक्षयति तान् श्रमात् ॥ २९० ॥ स चमरेन्द्रो हि शक्रस्य,
ह्यपमानं विधाय वै । पलायतोऽशनिपाताद्रक्षनार्थं च तस्य हि ॥ २९१ ॥
शरणं पादपद्मस्य, समागत्य स्वजीवनम् । शक्रोम्यहं न जेतुं तं, तेनेत्युक्तं यदा
प्रभुः । ततो रक्षितवाँस्तं च, वीरः **सदयवान् जिनः** ॥ २९२ ॥ एकदा
मगधे देशे, मस्करीश गोशालकः । यदा तत्पृष्ठगो जातो, वीक्ष्यमेकं तपस्विनम्
॥ २९३ ॥ परस्तु वृक्षशाखाग्रे, लम्बमानमधः शिरः । कृत्वोर्ध्वपादं यथोग्रं, तप-
स्तपति नित्यशः ॥ २९४ ॥ तज्जटाजूटतो यूका, निस्सृत्य पतिता भुवि । तदा
ता दयया युक्तः, पुनः स्वकचमण्डले । स्थापयति च तं दृष्ट्वा, गोशालश्च
प्रहस्य वै ॥ २९५ ॥ उवाच नेदृशो दृष्टो, यूकाशय्यातरस्तथा । इति दुष्ट-
स्वभावेन, उपहासं कृतवान्पुनः ॥ २९६ ॥ शठं प्रति च शाठ्यं वै, कुर्यादिति
विचार्य च । कोपावेशसमाविष्टस्तपस्वी स्वतपोबलात् ॥ २९७ ॥ नेत्रद्वारेण
प्रति तं, तेजोऽप्रतीक्ष्णरश्मयः । पातिता येन तप्तितो, यातनेवाविदुःसहम्
॥ २९८ ॥ प्राप्य दुःखं ददाहायो, स्वरमन्देन प्राह च । शरणागतं च मां
त्राहीत्येवं वाक्यं जगाद सः ॥ २९९ ॥ तदा पितामहश्चैवं, दयां कृत्वा
स्वनेत्रतः । हिमवच्छीतलं लेश्या, तस्योपरिप्रक्षिप्तवान् ॥ ३०० ॥ तमनार्यं
मृत्युपाशान्मुक्तवान् कृपया मुहुः । विभो! त्वं हि धन्यतरस्त्वदीयेयं कृपा मयि
॥ ३०१ ॥ न कृत्रिमा वास्तविकी, स्फुटं मे सुप्रतीयते । श्रीमद्भगवतश्चेदं,
चरित्रं शिक्षणप्रदम् ॥ ३०२ ॥ प्रविष्टमिति तच्चित्ते, षड्कायप्रतिपालकम् ।
संकटान्मोचनीयं च, प्रथमं चोपदेशनम् ॥ ३०२ ॥ कृतवाँश्च स्वयं साक्षा-

हृदये चावधार्य्यताम् । अपुनरागत्य भावस्य, पन्था तेनैव दर्शितः ॥ ३०४ ॥ **अथ मनुष्यवन्मूकपशुरक्षणम्**—मनुष्यवन्मूकपशूनरक्षयत्स्वयं जिनः । यदा हि वाममार्गाणां, प्रसारमधिकं ह्यभूत् ।, तदा वे दयया हीना, व्याजाद्यज्ञाच कोटिशः । पशवो बहवस्तैश्च, हता मूका निरागसाः ॥ ३०५ ॥ तस्मिन्काले च स्वामिना, घातकास्ते तपोबलात् । अवरुद्धाश्च वीर्येणानन्तशक्त्या तथा पुनः ॥ ३०६ ॥ न हन्तव्या न हन्तव्या, घोषणेयं मुहुः कृता । अवरुध्य भीषणं काण्डं, संसारस्थितप्राणिनाम् ॥ ३०७ ॥ रक्षितायानन्तजीवास्तथाऽसिघातनादपि । तस्यायमुपकारस्तु, धर्मोऽयं च पुरातनः ॥ ३०८ ॥ मुद्राङ्किताः कृतास्तेन, तत्स्मृतिर्वर्ततेऽधुना । महोदयो बालगङ्गाधरतिलकसंज्ञकः ॥ ३०९ ॥ **नेता श्रीभारतस्यासीद्धन्यवादं प्रदत्तवान्** । जैनसमाजवृन्देभ्यो, नैतदाल्पमहत्त्वकम् ॥ ३१० ॥ अपकर्तृपशूद्धारो, मनुष्य इव सत्कृत । हिंसकादेरपकर्तुः, पशोरप्यपचारणम् ॥ ३११ ॥ सदोपेक्षैव सद्भावा, कृता तेविति संस्फुटम् । हिंसावृत्तिरतानां तु, पशूनां वृत्तिपाशवीम् ॥ मोचयित्वा समाधेश्च, दत्वा बोधमनामयम् ॥ ३१२ ॥ सदाचाराधिकारं च, ददाति स्म न संशयः । यथा चण्डकौशिकेन, विषाक्रान्तमहोरगे ॥ ३१३ ॥ वेदना दंशजा शश्वच्छान्त्या सर्वं विशोढवान् । कृपया तं च सन्मार्गे, सदाचारे तथा पुनः ॥ ३१४ ॥ स्थापयित्वा प्रबोधेन, श्रीमुखेन च भाषितम् । चण्डकौशिक ! बुध्यस्व, शान्तियुक्तो निशामय ॥ ३१५ ॥ शब्दा एवं प्रकथिता, नरकाद्येन रक्षितः । पतनतोऽवनं जातो, जगद्गुरुप्रसादतः ॥ ३१६ ॥ शान्त्यैवं सुबोधितोऽपि, सुप्तावस्थां गतोऽप्यसौ । क्षिप्तं जागरितो बुद्धो, विवेकसमशङ्कितः ॥ ३१७ ॥ साधयति स्म कार्यं च, किं मया श्रूयतेऽधुना ॥ एवं विचारितस्तेन, किं शब्दोऽयं कृपामयः ॥ ३१८ ॥ पूर्णा दया च तस्याऽस्ति, न वा चेति विचार्यते । एतद्वाक्यकदम्बानां, न जाने स्वाशयं पृथक् । एतद्रुधिरपानेन, सितां च शर्करामपि ।, तिरस्करोति स्वादेन, नो लब्धा चेदृशी मया ॥, ज्ञाते मयाद्य संचारः, शान्तेरस्य च नाडिषु ॥ ३१९ ॥ आशा नामापि नास्त्यत्र, मृत्युभयस्य का कथा । परमस्ति क्षमायास्तु, पराकाष्ठेति धारय ॥ ३२० ॥ अपकारकारिण्यपि, क्षमा स्वाभाविकी कृता । आवश्यकाधिकानन्ता, शान्त्याख्यकवचोपरि ॥ ३२१ ॥ सन्मार्गे मा च ह्यानेतुं, कियच्छ्लाघ्यो महानपि । समालोचनपूर्वं हि, तस्मै स्वदर्शनं बभौ ॥ ३२२ ॥ जातिस्मृतिकं सञ्जातं, ज्ञानं गतजन्मसार-

कम् । कोऽयं चातिपापात्मा, सञ्चारेशाच्च मां पुनः ॥ ३२३ ॥ पातितवानत्र योनौ, निकृष्टायामिति स्थितिः । जन्मत्रयेणात्र बद्धो, विभो ! वन्दिगृहाच्च माम् ॥ ३२४ ॥ क्षीपणायंत्रणाच्छीघ्रं, मोचय मामिति प्रार्थना । प्राप्य चैवं विसंवादं, विवेकपद्धतिं गतः ॥ ३२५ ॥ सम-संवेद-निर्वेदं, बलादध्यात्मकं रसम् । पिबन्नास्ते सुखेनैव, आयुरन्तिमकान्तकम् ॥ ३२६ ॥ श्वासोच्छ्वासकपर्यन्तं, परमुत्कृष्टसमाधिना । सल्लेखनायाः प्रारम्भं, कृतवान् शान्तितत्परः ॥ ३२७ ॥ अभ्यस्तपारीणमहालाभः पञ्चमके दिने । मृत्वाऽष्टमसहस्रारस्वर्गाधिपिरजायत ॥ ३२८ ॥ धन्योऽस्ति भगवंस्त्वं हि, पशूनपि मनुष्यवत् । श्राद्धधर्माधिकारे च, दत्वा तेभ्योऽपि तान्पुनः ॥ ३२९ ॥ भव्यात्मकांस्त्वया चक्रे, भावुकानथ भावतः । घटनयाऽनया स्पष्टं, सिद्धं जातं पुरातनम् ॥ ३३० ॥ यथा मम प्रियाः प्राणास्तथाऽन्येषां हि देहिनाम् । इत्युक्तेन प्रकारेणाऽहिंसाणुव्रतधारणे ॥ ३३१ ॥ "क्रोधाद्बन्धच्छविच्छेदोऽधिकभाराधिरोपणम् । प्रहाराद्यादिरोधश्चा, हिंसायाः परिकीर्तिता" । जीवान्स्थापितवाँल्लोके, तेभ्यश्चात्मतपोबलात् । शिक्षामभ्यात्मयोगस्य, दत्तवान्ध्याययोगतः ॥ ३३२ ॥ यतस्ते भवतो मुक्ता, पशूनामिति ज्ञायताम् ॥ अथास्पृश्यपरमामुद्धारम्–पतितोऽस्पृश्यकोद्धार, इति सिद्धान्तभावनाम् । संस्थाप्य सर्वजातीनां, मनुष्येषु स्वयं प्रभुः ॥ ३३३ ॥ तुल्यधर्माधिकारश्च, सुप्रदत्तो विधानतः । "क्षिप्रं भवति धर्मात्मा, शश्वच्छान्तिं नियच्छति" इति कृत्वाऽनुवादं च, उच्चावचविभागशः ॥ ३३४ ॥ स्पृश्यास्पृश्यविचारस्य, सेवारतस्थानमुत्तमम् । स च निर्मलसद्वृत्ते, 'हरिकेशबले' यथा ॥ ३३५ ॥ जातो चाण्डालयोनिस्थो, मुनिसङ्घे स्थानमाप्तवान् । ऐतिह्यासिद्धदृष्ट्या तु, शासनेऽस्यापि तस्य हि ॥ ३३६ ॥ उत्तराध्ययनसूत्रेषु, सुवाक्यगौरवेण च । दृश्यते श्रूयते चापि, तत्र हेतुरयं पुनः ॥ ३३७ ॥ यथा 'तेन्दुक' देवोऽपि, तत्पार्श्वं भक्तिमहत्त्व । तस्येदमेव मन्तव्यं, गुणस्थानप्रतिलक्षणम् ॥ ३३८ ॥ यस्य कस्य समारूढो, न दोषं तस्य पातकम् । यद्गुणस्थानसंवृद्धिरुत्तरोत्तरभावतः ॥ ३३९ ॥ न हि तावच्च निर्वाणापुनरावृत्तिसन्निधिम् । मतोऽन्यो धार्मिके तद्वद्व्यावहारिकगे पुनः ॥ ३४० ॥ नो विचारोऽस्ति चाण्डादेः, कर्हिचित्सन्निधानाऽनया । शासनस्य ध्वजावयः, शौकरः पशुघातकः ॥ ३४१ ॥ जातीयस्याप्यभेदेन, विश्रामो विहितस्ततः । भावोऽयं तस्य विज्ञेयः, स्पृश्यास्पृश्यस्य बन्धनम् ॥ ३४२ ॥ शिथिलतरं प्रदर्शयैव,

समूलं तद्विनाशितम् । प्राचीनव्यवहारस्य, सन्मतेन स्थिरं पुरा ॥ ३४३ ॥ विश्वाखिलावतारैस्तैरेवं निर्वहणं कृतम् । यथा शासनपतेर्वीरभगवतः शासनादनु ॥ ३४४ ॥ अयं सारतरश्चेत्थं, विचारस्य हृदा पुनः । **अथ शत्रूणामुपर्यपि-परोपकारिता**–शत्रुं प्रत्युपकारस्य, करणे रुचस्त्वयं प्रभुः । सङ्गमः शूलपाणिश्च, व्यन्तरीकटपूतना । दानवैः पशुभिश्चैवोपसर्गं च महत्कृतम् ॥ ३४५ ॥ इति शत्रुगणैर्दत्तां, यन्त्रणां दारुणां तथा । सहित्वा साम्यभावेन, कृतं परिषहे जयम् ॥ ३४६ ॥ षण्मासान्तं च सततं, ददन्कष्टं महाऽसुरः । तदाऽवस्थगितो भूत्वा, हारितः स गतस्तथा ॥ ३४७ ॥ तदा तन्नयनाम्भोजादश्रुबिन्दुद्वयं निकम् । पतितं च यथा न्याये, इत्यवेहि च मानसे ॥ ३४८ ॥ "कृतापराधेपि जने" इत्याद्युक्तं पुरैव च । अभिप्रायोस्ति तस्यायमपराधगुरुस्तथा ॥ ३४९ ॥ पात्रोऽयं सचितस्यास्य, कुत्सितस्य च कर्मणः । भावि तत्परिणामं हि, कथं सक्ष्यति कुत्र वा ॥ ३५० ॥ दुस्सहं यद्भवेचैतदेतदर्थं निशामय । अहो विश्वायते चात्र, शत्रुपरिशिवस्पृहाम् ॥ ३५१ ॥ कृतमाध्यस्थभावेनौदार्यगाम्भीर्यशौर्यकम् । इति गुणसमूहानां, वैलक्षण्यं क्षमा वरा ॥ ३५२ ॥ महिमा चेति नान्यस्मिन्वीराद्विभे प्रदृश्यते । अनार्यदेशेऽपि तथा, विहारो भ्रमणं तथा ॥ ३५३ ॥ निरन्तर नावरुद्धं, धर्मोत्सवदर्श मुहुः । दर्शनमनार्येभ्यो, धर्म्मकोटिनयाय च ॥ ३५४ ॥ म्लेच्छदेशेऽपि तस्यासीदनिवार्यभ्रमणं मुहुः । तत्राऽपि च भवन्तं हि, कश्चिज्जानाति दूरग ॥ ३५५ ॥ देशान्तरस्थं कश्चिच्च, भेदकं तस्करं तथा । ज्ञात्वा घ्नन्ति च बध्नन्ति, कूपाधो लम्बयन्ति च ॥ ३५६ ॥ ते केचित्तच्छरीरे च, मृगयारसिका मुहुः । सारमेयानवोधाश्च, लगयन्ति च ते पुनः ॥ ३५७ ॥ स्वतीक्ष्णनखाघातैर्दन्तैश्च तच्छरीरके । क्षतं कुर्व्वंश्च जातास्ते, सरुङ्गा स्थगिता रहः ॥ ३५८ ॥ परं स्वयं स गिरिवदचलोऽभूदवनीतले । तथाऽधमा नराश्चेदं, दृष्ट्वा धैर्य्यं सहिष्णुताम् ॥ ३५९ ॥ प्रभावाद्भाविता भूत्वाऽऽश्चर्ययुक्ताश्च तेऽभवन् । ततः पराजिता जाताः, पतितास्तत्पदाम्बुजे ॥ ३६० ॥ ततश्च श्रद्धया जैने, भूत्वा श्रद्धालवो मते । महाव्रताऽणुव्रतयोर्लीनाः संसाधने मुदा ॥ ३६१ ॥ अनन्तां यातनां भुक्त्वा, मिथ्यावादिष्वनार्यकेष्वनिवार्यजनेष्वत्र, जैनधर्मस्य चोत्तमाः ॥ संस्काराः स्थापितास्तेन, सत्यं सत्याग्रहात्मनाम् । कठोरहृदयानां च, लब्धवान् विजयं तथा ॥ ३६२ ॥ चर्य्ययाऽनया नाथ, शिक्षा सञ्जायते परा । भगवतो वीर-

देवस्य, सुपुत्रो निर्भयो भवेत् ॥ ३६३ ॥ अनार्य्यमतिना सप्तलोकानां वीर-
स्वामिनः । धर्मेऽप्यनादिसद्भेऽपि, गत्वा च प्रसरेदिति ॥ ३६४ ॥ तत्रावोध-
नरास्तद्धर्म्मधर्मसम्बन्धविता । आगिनो ये च तत्रापि, धर्मोऽनैकान्तिकस्य हि
॥ ३६५ ॥ संस्थापितो मूकतरस्तोथ श्रीवीरस्वामिनः । सुधर्मस्याप्यनुगामिनः,
कृतवान्स दयापरः ॥ ३६६ ॥ इत्यादिदमहं वक्ष्ये, मदीया मुनिभ्रातरः ।
न दत्तं ध्यानमत्रापि, कदापि न हि सम्मतम् ॥ ३६७ ॥ भूत्वा प्रच्युतदेशस्य,
ग्रामस्य नगरस्य च । पिण्डोलके मोहवशे, ममतायां प्रमादके ॥ ३६८ ॥
कृत्वा कलङ्कितं स्वं च, नोचितं म्लानतां गतम् । तत्रैतत्कारणं ज्ञेयं, प्रार्थनाथ
मुनेरिदम् ॥ ३६९ ॥ वाराणसीति पार्श्वस्य, क्षेत्रं भगवतः परम् । वीरस्य
कुण्डिनपुरी विख्यातं मगधे पुनः ॥ ३७० ॥ विहारदीपिकानाम्न, मण्डले
वर्तते च या । दुःखदेवेन नायातं, मुनिभ्रमणमित्यपि ॥ ३७१ ॥ धर्मप्रचारः
श्रवणे, नायातश्च यदा नये । भगवतो वीरदेवस्य, पंचविंशशतहायनकम् ॥३७२॥
शासनस्य प्रचारः स्यात्तदा किं कारणं वद । तच्छ्रमणसंघस्यार्थं, नास्ति
तस्य च पूज्यवान् । प्रभक्ता ये जनाश्चार्यास्तज्जन्मभुवि मानवाः ॥ ३७३ ॥
तेषु धर्मप्रचारोऽपि, न भवेदिति चिन्तने । लोकनीयाः सुखदेयं, सद्धर्मगम्य-
भ्रातरः । एतदुपस्थितिकालेऽपि, भवन्त्वेवमतं परम् । जैनं तस्य नोदनार्थं,
यद्यस्ति परिचयो महान् ॥ ३७४ ॥ ज्ञातव्यं भवतां नाम, सेनरपति
गजेन्द्रवत् । अतो हि विदुषां सत्क्रियाऽऽप्तमुनीनपि ॥ ३७५ ॥ बुधरत्न-
प्रसिद्धानां, वक्तॄणां सर्वसम्मते । व्याख्यानवाचस्पतीनां', सन्न्यासधारिणां
तथा ॥ ३७६ ॥ चिन्तयामि यदा सम्यक्स्वप्रचारस्य क्षेमकम् । भगवता
वीरदेवेन, समं कुरु विचारकम् ॥ ३७७ ॥ जैनधर्म्मे यथा धर्मवृद्धिस्वाध्यायं
तथा कुरु । भवन्तो तेऽपि चात्रैव, रोगस्य परिवर्जकाः ॥ ३७८ ॥ सम्लोच-
धिरयाख्य, न वा चेति विचार्य्यताम् । अथ भक्तःगृहस्थान्प्रति-स्वभक्तान्-
दस्यान्प्रति जीर्णक-सांकरियादिकम् ॥ ३७९ ॥ पूर्णेवेति स्वधर्मे च, दत्त्वेति
वितृष्णकः । सर्वत्र तथा चातीवप्रशंसा च वर्णिता ॥ ३८० ॥ श्रीमंत्र भक्ति-
भावना, पूर्णापत्र दानादिकम् । मुनिभिक्षुः पूनिकेति, सर्वासि श्रीमित्र पुनः
॥ ३८१ ॥ दानादिकं पवित्रं च, सैनिकस्याऽप्यनुमतम् । जैन संसारकल्याणं,
न हि दरिद्रसरिष्यति ॥ ३८२ ॥ इतोऽग्रिमेऽपि वक्ष्यामि, सुभागमनसूचना ।

यदा भव्यानुभावेभ्यो, भक्तेभ्यश्चापि जायते ॥ ३८३ ॥ नगराच्च बहिर्देवो, निर्जने कानने स्वयम्। वीरश्च भगवान्स्वामी, समायातोऽतिपुण्यतः ॥ ३८४ ॥ शक्रादिदेवैः सर्वैश्च, समवसरणनिर्मितम्। महान् कलरवो जातो, नगरेऽपरिमिता जनाः ॥ ३८५ ॥ धर्मानुरक्ताः श्रोतारो, जिज्ञासव इतीतरे। तेभ्योऽतिरिक्तपश्वादिश्वापदाः पक्षिणस्तथा ॥ ३८६ ॥ आयान्ति समितौ ते तु, रचिते समवसरणके। महत्सम्मेलनं जातं, तदा ते जातिभावनाम्। स्वाभाविकं पाशविकं, त्यक्ता हि वैरभावनाम्। शान्तिच्छटां नीतवन्तो, जातास्ते धर्मतत्पराः ॥ ३८७ ॥ उपदेशानन्तरं भूपाः, सार्वभौमास्तथाऽपरे। राज्यसत्तां परित्यज्य, गृहीतमुनिसुव्रताः ॥ ३८८ ॥ गृहिणोऽपि गृहे स्थित्वा, पश्चाणुव्रततत्पराः। तृष्णाभारं समुत्तार्य, सम्यक्त्वभावमागताः। जीवनं सफलं जाता, कुर्वन्तस्ते पदं परम्। औदासिन्यं स्वभावं, भोग्यं कर्मोपभुज्य च ॥ ३८९ ॥ अन्ते निवृत्तिमार्गं च, लब्ध्वाऽक्षयसुखं पुनः। अनेकानि प्रमाणानि, लभ्यतेऽनेकशास्त्रगा ॥ ३९० ॥ **अथ शास्त्रार्थप्रकरणम्**–अथ शास्त्रार्थवृत्तीनां, वादिना प्रतिवादिनाम्। ऋजुवालुकानद्याश्च, तटे श्यामाकक्षेत्रगे ॥ चतुष्टयानन्तमापन्ना, सद्धर्मप्रतिपत्तये ॥ ३९१ ॥ गोवरमण्डले ग्रामे, 'पडरोणेति' विश्रुते। पावापुर्यां चोपवने, भ्राजते स्म जगत्प्रभुः ॥ स्याद्वादमहावाचा, महानादेन शब्दिताः ॥ ३९२ ॥ दिशाः कुर्वंस्तदा काले, यस्यचिद्ब्राह्मणस्य हि। महाध्वरोत्सवो जातस्तत्रैकादश पण्डिताः ॥ ३९३ ॥ आहूतास्तेनेन्द्रभूतिर्महात्मान्यथ वेदगः। आसीत्तस्याभवंश्छात्राश्चत्वारिंशच्छतसहस्रगाः ॥ ३९४ ॥ वेदाध्ययनसम्पन्ना, विद्यार्थिन इति स्फुटाः। अगणिताना च देवानामभ्ययादि गौतमः ॥ ३९५ ॥ ज्ञानं जातं तथैवास्माऽनेकान्तवादविस्तरा। समायातो जिनेन्द्रश्च, सर्वज्ञो विश्वरक्षकः ॥ ३९६ ॥ शास्त्रार्थं तेन सार्कं वै, रम्यो समवसरणकम्। गच्छति स्म तदाऽऽयान्तं, दृष्ट्वा तं जगतः प्रभुः ॥ ३९७ ॥ आगन्तुकस्य सशिष्यचारं शिक्षणाय च। स्वभाविगणधरस्य, स्वागतं चेन्द्रभूतये ॥ ३९८ ॥ तत्क्रमानसिकं भावं, तस्य संशयदर्शिनम्। तच्छित्तिः कृता तेन, तथा संवेदिनी मुहुः ॥ ३९९ ॥ शिक्षा दत्ता प्रभावोत्था, चार्हती चोपकारिणी। तदिन्द्रभूतये तद्वद्वेदवेदिनाय च ॥ ४०० ॥ महानुभावश्रेष्ठेभ्यः सुप्रदत्ता गरीयसी। हेयं ज्ञेयमुपादेयमिति च त्रिपदी मता ॥ ४०१ ॥ ज्ञानोत्पादयित्री या, सोत्पादव्ययध्रौव्यकम्। षड्द्रव्यात्मकं चैव, द्वादशाङ्गगिरा सह ॥ ४०२ ॥ चतुर्दशात्मकं पूर्वं, यदुक्तं

तद्विशालके । ज्ञाने परिणतं कृत्वा, स्थविरान् रुद्रसंस्थ्यकान् ॥ ४०३ ॥ गणधर-पदे सम्यक्स्थापिताः सर्वसंयतैः । प्रथमं चेत्यमानेशं, स्वकीयानन्तज्ञानके ॥ ४०४ ॥ लाभमुत्पाद्य तेभ्यश्च, खसादिद्विग् ४४०० द्विजातये । दत्ता निर्व्वाण-मार्गं च, तत्पथि पथिकाः कृता ॥ ४०५ ॥ **अथानाथबालिकोद्धरणम्**-अथा-नाथबालिकाया, उद्धरणं कृतं स्वयम् । सार्द्धद्वादशवर्षाणां, तथा पञ्चदशे दिने ॥ ४०६ ॥ [छद्मावधौ दुष्करं च, तपः कुर्व्वंश्च विश्वदृक्] तदैकस्मिँस्तु कालेऽथ, त्रयोदशविधात्मकः । कृतो भीष्माभिग्रहश्च, कृतवान् पणधारणम् ॥ षण्मासान्तं न यत्पूर्णं, न शक्यं भवितुं पुनः ॥ ४०७ ॥ परन्त्वयं स्वचलितस्तत्सारणमथा-प्रभुः । प्रयागमण्डलस्तद्वत्कौशाम्बीं नगरीं ततः । भ्रमन्संश्चन्दनाख्याया, बालायाः कर्तुमुत्सुकः । सद्धारं धनवाहस्य, श्रेष्ठिनश्च गृहाङ्गणे ॥ ४०८ ॥ समा-गत्य स्थिरश्चाभूद्गृहस्यास्य सुशोभके । द्वाराग्रे च सती बाला, चन्दनाऽतीव-भक्तितः ॥ ४०९ शृङ्खलानिगडैर्बद्धा, तिष्ठतीति विलोक्य च । अन्वेषते तथा मार्गं, भगवतो धर्म्मतत्परा ॥ ४१० ॥ अनाथा वन्दिनी वीरं, भगवन्तं निरीक्ष्य च । सुहर्षं प्रकटं कृत्वा, कुर्व्वती भाववन्दनाम् ॥ ४११ ॥ अहं जगद्गुरो ! देव ! सूर्प्पे स्नेहमये पुनः । माषात्मबाकुली चास्ति, तद्गृहीत्वा च मां पुनः ॥ ४१२ ॥ कृतकृत्यां द्रुतं कुर्या, इति मे प्रार्थना शृणु । समयेऽत्रच तस्याश्च, प्रफुल्लितमुखा-म्बुजम् ॥ ४१३ ॥ परं भगवतश्चास्या, स्वल्पमस्मिन्नभिग्रहे । तथाऽन्यच्छुभग्रहस्य, न्यूनत्वं चावलर्तत ॥ ४१४ ॥ स्वयं स च परावृत्य, चलन्नानीपद्धतिस्ततः । चन्दनाऽपि तदाऽपश्यद्भाग्यहीना गृहं मयि ॥ ४१५ ॥ स्वयं देववरो भानुः, समागत्यालयं मम । स्वप्रभावं समाहृत्य, पश्यन्त्या मे गतोऽस्तकम् ॥ ४१६ ॥ अस्यां दशायां दीनायाश्चाबलायाः प्ररोदनम् । विनाऽन्यद्दर्शनं तस्यै, नास्ति कस्य प्रयोजनम् ॥ ४१७ ॥ चक्षुर्भ्यां यमुनागङ्गाप्रवाहो वहति द्विधा । महाद्याङ्कुवीरस्या-भिग्रहं पूर्णतां गतम् । स्वाभिग्रहस्य दृष्ट्वा तु, स्वादूप्य भक्तितत्परा । सद्य सत्कानुरक्तायाः [कठन्] माषधान्यस्य बाकुलम्* । गृहीत्वा दानाविधयाद्देर्मुक्ताथ बन्धनात् । केवलज्ञानभवनात्पश्चादार्यात्वमाप्स्यति ॥ ४१८ ॥ दत्ता स्वतन्त्रतां तस्यै, जीवन्मुक्त्यन्वयोगतः । कथितश्चातिकृतेन, लब्ध्वा तत्त्वमयमुत्तमम् ॥ ४२० ॥ शेषमायुं प्रभुस्त्वा च, निर्व्वाणपदमागतम् । वीरस्तेति प्रभावाच्चा, कन्याणनालके

---

* अभिपक्वाक्षतधान्यस्य बाकुलेति भाषायाम् ।

यातनातो । धर्म्मकाण्डाच्चलितान्किञ्चित्तिमिच्छते । कस्मिंश्चित्समये (राजगृहाधीशः
सुश्रेणिकः ॥ ४४४ ॥ तनयस्तस्य चैकोऽस्ति, मेघकुमारनामकः । श्रुत्वोपदेशं
वीरस्य, संवेगात्प्रतिजगृहे ॥ ४४५ ॥ दीक्षोत्तमा तदा, तस्य, दीक्षितस्य नवस्य च ।
सर्वमुनीनां पश्चात्तु; तदाऽऽसनमवेशयत् ॥ ४४६ ॥ परन्त्वावश्यकं कार्यं, कर्तुमा-
यान्ति यान्ति च । मुनयोऽनुपयोगत्वान्निशायाः समयस्तथा ॥ ४४७ ॥ तेषामी-
र्याभङ्गवशात्पादस्पर्शो मुहुर्मुहुः । जातस्ततः पराभूय, व्याकुलोऽभून्महामनाः
॥ ४४८ ॥ निद्राऽभावसमापन्नो, विचारे तत्परोऽभवत् । किं मेघायुर्मयीयं च,
पादप्रहरणाहतम् ॥ ४४९ ॥ प्रसन्नैवं व्यतीतं स्यात्कालसे मुनिर्मतः । प्रातरेव
हि दत्वेदं, धर्म्मोपकरणं मुदा । गत्वा च जननीं स्वां च, मिलिष्यामि सुप्रेमतः
॥ ४५० ॥ साधुरथैव सम्भूय, स्खलितः पादस्मतः । नेत्थं विनिर्वहेत्याय, प्रभुं
पूर्वमेव तत् ॥ ४५१ ॥ सदा चात्राति मत्यैव, तदाऽप्यादरतोऽवदत् । अथ भूत्वा
सुसंयमवान्न जानन्ति कथंचन ॥ ४५२ (न जानन्ति कथं चाथ, 'किमाश्चर्यमतः
परम्] निदानन्त्वत्र प्रातर्हि, मुनिर्मेघकुमारकः । वीरस्य चरणाम्भोज-
वन्दनार्थं समागतः ॥ ४५३ ॥ गुरोः प्रष्टुं समुत्सुका, लब्धा तस्य मुनेरदः ।
नतं शिरश्चकाराशु, कुमारः क्षत्रियस्य च ॥ ४५४ ॥ स त्वन्तेवासी भूत्वा च,
तस्य च सद्गुलाश्रयः । संसारतारके वीरो, निशादत्तं च ज्ञातवान् ॥ ४५५ ॥
सर्ववृत्तं निशाजन्यं, निगद्य पुनरुक्तवान् । रात्रौ वत्स ! मुनीनां च, पादप्रहार-
स्तत्त्वया ॥ ४५६ ॥ लब्धा निद्रा न स्वान्तर्वै, तेनार्तध्यानमागतम् । अतो
निद्रा सुविच्छिन्ना, निद्राऽतीताऽविकल्पदा ॥ ४५७ ॥ परं विवेकसन्धानं, मार्गयस्त्व
समागतः । तदा स्वास्पूर्वकं ज्ञानं, जन्म प्राक्तनिकं तव ॥ ४५८ ॥ तत्र कष्टं
महत्कि वा, निशापादप्रहारकम् । एतावन्तं प्रतिश्रुत्य, मेघनाम्नो मुनेर्हृतम् ४५९
जातिस्मरोऽभवत्पूर्वजन्मद्वयगतस्य च । तिर्यग्भावगता वार्ता; समारूढा स्मृतेः
पथम् ॥ ४६० ॥ पूर्वसंवेदिनी तद्दृष्ट्वा जातेयमद्भुता । तदा योगी पुनर्जातो,
दीक्षादानविधानतः ॥ ४६१ ॥ तथैकमासपर्य्यन्तं, भूत्वा सल्लेखना गुरोः । अन्ते
द्वाविंशतिसर्गस्याहमिन्द्रोऽभवत्ततः ॥ ४६२ ॥ कम्पमाननगं चेमं, सुस्थिरं कृत-
वान्पुनः । भगवान्वीरदेवश्च, ज्ञातव्यमुत्तमं तपः ॥ ४६३ ॥ प्राणभृतामसंख्या-
नामित्थं भ्रमरजालके । मग्ना नौरुद्धृता वीरदेवेन भवचक्रतः ॥ ४६४ ॥ भवा-
म्भोधेस्तारकत्वात्तारकः परिगीयते । निपुणः अक्रिमत्त्वाच, कर्तेत्यपि च कथ्यते
॥ ४६५ ॥ अथ सद्दृष्टं प्रति—यदानन्दकामदेवादिश्रावकानां गृहमेधिनाम् । गृहिणः

गायन्ति ! च तद्गुणान् । गुदकल्पा अनाथापि, वदुकः स्वमुखेन वै ॥ ४८९ ॥ ज्ञातपुत्रमहावीरस्वदवन्तचरित्रकम् । मुक्तकण्ठेन तस्यापि, सर्व्वत्वं प्रशंसिरे ॥ ४९० ॥ आध्यात्मिकस्य तत्त्वस्य, पदार्थे तत्त्वचिन्तकाः । ये ये प्रसिद्धा लोकेऽस्मिन्महानुभावभाविताः ॥ ४९१ ॥ यान् यान्साहित्यविषये, मन्यान्मति सुधीमतः । भगवन्महावीरस्यादर्शजीवनरूपकम् ॥ ४९२ ॥ चरितोपदेशयानां यः, प्रभावः पतितो भुवि । सूचीपत्रविनिर्मातुं, सर्व्वथा तदसम्भवः ॥ ४९३ ॥ एतावदेव संक्षेपात्स्वयितं च महोदयैः । एतादृशो जनः श्रेष्ठस्तथा साहित्यतत्त्ववित् ॥४९४॥ संसारे विरलश्चास्ति, ज्ञात्वाऽस्मात्या विशेषतः । भगवन्महावीरस्य, जिनस्य प्रवियासरम् ॥ ४९५ ॥ अनेकान्तवादतत्त्वस्य, सेवितृगणोपदेशनैः । लाभो नोत्थापितो लोकैर्यतो परमार्थतः ॥ ४९६ ॥ यत्र श्रीवर्धमानस्य, जिनस्य न हि दृश्यते । चिन्हं किञ्चिन्महत्त्वस्यं, सर्वैरेवं विचारय ॥ ४९७ ॥ साधारणात्मव्यवीनां, महत्वं न वचस्सपि । परं भारतवर्षस्य, यावन्तश्चेतिहासके ॥ ४९८ ॥ महान्तो मनुजा जातास्तेऽवश्यं वीरस्वामिनम् । येन केन प्रकारेण, स्मृतवन्तो मुहुर्मुहुः ॥ ४९९ ॥ इति वार्ताविरिक्तं च, छिदं जातमिति स्फुटम् । विद्वांसः पूर्वेन्मलीना, वर्धमानजिनस्य च ॥५००॥ चरिते स्याद्वादस्य, सिद्धान्तस्य प्रवचनम् । पवित्रं परमाधिक्यं, नानाख्यानान्वितं पुनः ॥ ५०१ ॥ पठनायस्य शास्त्रे, हास्यन्तीति विशेषतः । पाश्चात्यैर्निखिलैर्वैर्वैर्नासिद्रुपरत्वस्य श्रूयते ॥ ५०२ ॥ तथापि महावीरस्य, चरित्रे जीवनस्य हि । तथा सदुपदेशस्य, विज्ञुरेव्ये लघुर्मुखम् ॥ ५०३ ॥ तदा किमियमाथा वै, न वक्तुं शक्यते मया । पाश्चात्यभाविभिर्भवे, वीरस्य विश्वव्यापिनः ॥ ५०४ ॥ प्रभावोऽयतनानुल्या, सालस्याथ या सुदा । प्रस्तुतानन्तप्रख्यातप्रचरत्वेन संस्फुटम् ॥ ५०५ ॥ गुणापार्श्वजनैर्विश्वे, वर्णितं मुक्तकण्ठतः । भगवन्तं श्रेष्ठतमं, मन्यन्ते स्वानुभावतः ॥ ५०६ ॥ सुतात्पर्यमिदं तस्य, सममयवासः परम् ।. लक्षणं च महावीरे, परिपूर्णप्रन्वयः ॥ ५०७ ॥ श्रियः सममायाः—श्रीमाँश्च मघवान्वीरे, जन्मकल्याणपुनः । स्वीयः गणधरश्चेन्द्रभूतिसत्ते द्विजाय च ॥ ५०८ ॥ त्रिपदामकविसानं, सत्वेत्थं द्वादशाङ्गकम् । चतुर्दशपूर्वसानं, तस्मै श्रीगौतमाय च ॥५०९॥ पूर्वधरश्रुतेऽपारपारीणं सुविधाय तम् । गणधरे मुनिपुङ्गवं, कृतवान्दयालवः ॥ ५१० ॥ यस्यानन्तज्ञानलक्ष्म्या, नेत्रं लभं च शेहतः । शक्रेणादिनाशवर्णं, भगवतां पद्मकाके ॥ ५११ ॥ स्ववर्णप्रादिशेषेन, ज्ञातव्यं समप्रकटैः । कि

ग्रन्मुक्तावसङ्ख्यानां, प्राणिनां प्रेपके पतौ ॥ ५१२ ॥ मुक्तौ श्रियः समभाया, लक्षणेति समन्वये । निरूपणे तथाऽवस्यं, यत्नः कार्यो विशेषतः ॥ ५१३ ॥ यश्च सङ्कपतेश्चापि, वसुसम्पत्तितो *रहः । सम्पत्तिमन्तं कृतवानिति जानीत ज्ञानतः ॥ ५१४ ॥ **वैराग्यस्य समग्रस्य**—चतुष्टयाऽनन्तसम्पत्प्रातिहार्य्यादिनेकधा । धर्मसम्पत्सङ्घसम्पत्कीर्तिसम्पत्तथाऽपरा ॥ ५१५ ॥ अष्टैव प्रातिहार्य्यास्स्यासुरवैभवसम्पदः । एतावन्त्यो यत्र सन्ति, भगवत्यखिलेश्वरे ॥ ५१६ ॥ तद्वार्हत्स्योऽपि वैराग्यसम्पत्तिरुपबृंहिता । तथाऽनासक्तिसम्पत्तिर्वीर्वर्ति स तत्र वै ॥ ५१७ ॥ [तदद्भुतं चमत्कारं, को वा वर्णयितुं क्षमः ॥] पुष्कळं भोगमासाद्य, तत्रोत्पद्य स्वयं प्रभुः । पङ्कजं पङ्कजमिव, पृथगेव विभाव्यते ॥५१८॥ सेयं तत्त्यागवैराग्यसम्पत्तिः सिद्धिदायिनी । विद्योतते भगवति, वैराग्यस्येति लक्षणम् ॥ ५१९ ॥ **मोक्षस्याथ समग्रस्यापुनरावृत्तिरूपकः** । समन्वयो यथार्ह वै, जायते तन्निशम्यताम् ॥५२०॥ आचाराङ्गं तथा व्याख्याप्रज्ञप्त्यादिरूपकम् । **आधारभूतेतिहासाय, सिद्धं तन्निर्विवादतः** ॥५२१॥ महावीरभगवान् दीक्षादशातः पूर्वतोऽपि वा । पुद्गलस्यप्रबन्धेषु, पदार्थे बन्धने पुनः ॥५२२॥ भावसंयतमुक्तोऽभूत्सापेक्षा विद्यते विभोः । सर्वथा ते च मुक्त्यर्थं, सचेष्टाः सन्ति भावतः ॥ ५२३ ॥ सम्बन्धे चात्र चैतात्कथनं जातमलं तथा । अनन्तचतुष्टयमाप्य, प्रातः सिद्धः सकायिकः ॥ ५२४ ॥ जीवन्मुक्तोऽभवत्तत्र, विज्ञेयं तच्चारित्रकम् । प्राणिनस्तस्य शरणं, समायातास्च येऽनिशम् ॥ ५२५ ॥ स्वयं तेभ्यः मुमोक्षस्य, सम्प्रदायरहस्यकम् । स्वसमाख्ये कृतात्मेन, तत्सहाय्य निषेवनम् ॥ ५२६ ॥ मुक्तिमूलं परं स्थानं, तदस्तीति विभावय । तत्र मोक्षसमग्रस्य, समन्वयप्रसक्तितः ॥ कथं प्रभावकारः स्यादित्थं च बुध्यतां धिया ॥ ५२७ ॥ अतो भगवते **मोक्षसमग्रस्य** समन्वयः । षष्ठमलक्षणस्याऽयं, समन्वय इति स्फुटम् ॥ ५२८ ॥ **अथोपसंहारः**—एवमुक्तषडाख्यानाऽऽलक्षणानां समन्वयात् । सिद्धो जातस्तु जगति, "वीरस्तु भगवान् स्वयम्" ॥५२९॥ अस्ति सर्वज्ञ इत्थं यः, समदर्शी च तीर्थकृत् । हितैषी सर्वजीवानां, तथाप्तोऽनन्तशक्तिमान् ॥ ५३० ॥ शास्ता सार्व्वः स एव स्यात्कामदुःखहारीहार्तिहः । अतस्तल्लक्षणं प्रोक्तं, निगमं तद्विबोधतः ॥ ५३१ ॥ "गुकारस्त्वन्धकारस्तु, रुकारस्तन्निरोधकः । अन्धकारविनाशेन, गुरुरित्यभिधीयते" ॥ अज्ञानं च गुशब्दस्य,

---

* आचार्याणामष्ट सम्पदिति भावः ॥

रुशब्दस्तन्निवर्तकः । मिलित्वा च द्वयोरर्थो, गुरुरित्युच्यते बुधैः ॥ ५३२ ॥
अज्ञाननाशनाज्जातो, जगद्गुरुरथोच्यते । सर्व्वज्ञश्चापि सोऽत्रैव, "वीरस्तु भग-
वान्स्वयम्" ॥ ५३३ ॥ यतोऽन्यदज्ञाननाशं, कृत्वा च स स्वयं प्रभुः । "त्रिपाण"
मित्याद्यखिलो, न्यायस्तत्र सुघट्यते ॥ ५३४ ॥ रत्नत्रयस्वरूपस्य, "वीरस्तु भग-
वान्स्वयम् ॥" वारयित्वा ज्ञानमदो, देवगुर्वो रहस्यकम् ॥ ४३५ ॥ तथा धर्म्म-
रहस्यं च, सम्प्रकाश्य स्वयं प्रभुः । सर्व्वसंसारमुक्तेश्च, मार्गं संवरनिर्ज्जरे ५३६
ज्ञापितोऽप्यस्ति यस्येत्थं, कारणादनुभवस्य हि । मननध्यानमोक्षस्य, साधनाऽऽ-
संक्तचेतसः ॥ ५३७ ॥ जना हि निखिलाः सन्तः, शीघ्रं प्राप्नुर्महात्मनः । अतो
हि भगवान्वीरो, भवस्यास्याखिलस्य च ॥ ५३८ ॥ कालेऽवसर्पिणीसत्के, चतु-
र्विंशतिसङ्ख्यकः । तीर्थङ्करोऽन्तिमोऽप्यास्ति, गुरुर्वन्द्योऽखिलैर्नरैः ॥ ५३९ ॥
तद्दर्शितोऽस्ति यथार्था, प्यासो धर्म्मो दिगन्तरे । जैनधर्मः स एवात्र, सर्व्वदा
नाऽपरः, क्वचित् ॥ ५४० ॥ इत्थं भगवतो महावीरदेवोपदेशतः । शुद्धभावेन
परमसत्त्वनिक्षेपहेतुकः ॥ ५४१ ॥ पदार्थं स्वात्मनीत्येवं, कृत्वा सन्धानमेव च ।
तदागमस्य सिद्धान्तमार्गस्य मननं तथा ॥ ५४२ ॥ कुर्य्यंश्चानुभवं तद्वच्छुक्लध्यानाधि-
वेशनम् । गद्गदान्वितकण्ठेन, गायंस्तद्गुणविग्रहम् ॥ ५४३ ॥ समयं मा प्रमादी-
श्चेति. चर्यासमाहितः । अमूल्यममयं, स्वस्य, यापयन्तु सुध्यानतः ॥ ५४४ ॥
धन्यः [illegible] एव लोकेऽस्मिन्नीर्निर्माय. सुधीर्गुणी । कुतः स एव संसारे, स्याद्वादा-
लङ्कृतो नरः ॥ ५४५ ॥ तदन्वगतं सर्वमैहिकं शान्तिमस्तुनः । जीवनोत्थं मोक्ष-
रूपमपुनरागतिसंततम् ॥ ५४६ ॥ समुत्थानमयं लोके, चाक्षयं बन्धवर्जितम् ।
कुक्षिवत् सैव विज्ञेया, अव्याबाधस्य धामनि ॥ ५४७ ॥ पर्वोऽर्हन्नवंभूवर्षे, विक्रमा-
र्कस्य संवति । मधुमासेऽथ धवले, पक्षे दशमीगत्तिथौ ॥ ५४८ ॥ स्तिकर्पोऽयं
समाप्तश्च, श्रीपुष्प-भिक्षुणा कृतः । श्रीमत्फकीरचन्द्रस्य, मुनेः शिष्येण
धीमता ॥ ज्ञातपुत्रमहावीरजैनसङ्घानुयायिना ॥ ५४९ ॥

मङ्गलं भगवान्वीरो, मङ्गलं गौतमः प्रभुः ।
मङ्गलं स्थूलभद्राद्या, जैनधर्मस्तु मङ्गलम् ॥

शिवमस्तु सर्व्वजगतः, परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्व्वत्र सुखितो भवन्तु लोकाः ॥ १ ॥

वीरस्तुति-परिशिष्ट नं० ७ :

॥ अथ वीरयोगतरङ्गः ॥

॥ मङ्गलाचरणम् ॥

योगाज्जानाति स्वात्मानं, योगः शान्तिं प्रयच्छति। योगान्मोक्षोऽभिसंयाति, योगादैशसमुन्नतिः ॥ योगान्निर्वैरतामेति, समाधिरचला भवेत्। योगेन समताऽऽयाति, तस्माद्योगात्मने नमः ॥ १ ॥ योगिनां सर्वतो मैत्री, योगी सम्मुदितां गतः। करुणान्वितो भवेद्योगी, योगे माध्यास्थ्यभावना ॥ २ ॥ योगशास्त्रे तथाऽन्यत्र, योगस्य प्रतिभाहिता। तेन योगतरङ्गस्य व्याख्या पद्येन गीयते ॥ ३ ॥ योगेन भित्त्वा षट् चक्रं, वायुं संस्थाप्य मूर्द्धनि। ब्रह्मरंध्रस्थकमले, सहस्रदलसंवृते ॥ ४ ॥ स्वान्तमाकृष्य विषयाज्जलबुद्बुदसन्निभात्। संस्थाप्य ज्ञानतो बध्वा, ध्रुवं ब्रह्मणि निष्कले ॥ ५ ॥ द्विविधं कर्म संन्यस्य, योगी यात्यपुनर्भवम्। तस्माच्च योगमाहात्म्यं, वर्तते सर्वतोऽधिकम् ॥ ६ ॥ अतश्च योगशास्त्रस्य, महत्त्वं वर्णितं बुधैः। तद्व्याख्यानं मयेदानीं, गीयतेऽभीष्टसिद्धये ॥ ७ ॥ योगो निर्मलचेतसां वितनुतेऽप्यष्टाङ्गसिद्धिं पुनर्योगात्तेन मनो नियम्य यतयो याताः पदं निर्भयम्। योगोऽज्ञानमयान्धकारतरणिर्योगाच्च चान्योऽपरस्तस्माद्योगमुपाश्रयन्त्वनुदिनं यो योगिनामिष्टदः ॥ ८ ॥ संसारेऽत्र सुखं ग्राह्यं, हेयं दुःखमिति स्थितिः। इत्यनुसृत्य वाञ्छन्ति, सुखं प्रत्येकप्राणिनः ॥ ९ ॥ दुःखं तत्कारणं वेत्ति, ते नेच्छन्ति कदाचन। तस्मात्सुखाप्तये योगः, सेवनीयः सुखार्थिभिः ॥ १० ॥ न चैतावद्धि मात्रेण, प्रत्युतैवं सुखर्द्धये। नित्यं कुर्वन्त्युपायं वै, शतशो यत्नतो मुदा ॥ ११ ॥ तैरुपायैर्यदाऽनन्तं, जायते सफलाः क्रियाः। तदाऽनन्तसुखावाप्तिं, लब्ध्वा यान्ति कृतार्थताम् ॥ १२ ॥ इत्थं मत्वा सुखाप्त्यर्थं, सर्वसाधकसाधने। मुख्यो धर्मो न चान्योऽस्ति, तस्माद्धर्ममुपाश्रयेत् ॥ १३ ॥ स च योगात्परो नान्यो, ज्ञातव्यो योगसाधकैः। एवं धर्मो धारणीयः, सत्सुखप्राप्तिकरो यतः ॥ १४ ॥ योगतो लभ्यते स्वर्गोऽपवर्गश्च महात्मभिः। कायस्य चैधते कान्तिरुज्ज्वलात्मसुखोदया ॥ १५ ॥ वर्तमाने युगे चास्मिन्ननेकमततत्परिणि। पार्टिबाजी सम्प्रदायसद्धाऽऽगच्छटोलकाः ॥ १६ ॥ वर्तन्ते ये च धर्मस्य, नामोपरि चलन्ति ते। तेऽस्मरगृहीदका भूत्वा विहरन्ति यथेच्छया ॥ १७ ॥ योगसाधनतत्त्वे च, विमुखा निजशिष्यके। सुखसाधनदानार्थमसमर्था भवन्ति ते ॥ १८ ॥ स्वसम्प्रदायसघस्या

निर्वाहार्थं बहुक्रियाः । परम्परया विज्ञानं, घोषयन्ति सदार्थिनः ॥ १९ ॥ तथा परम्पराचक्रानुसारेणैव शिष्यकाः । कुर्वन्ति ताः क्रियाः शश्वन्नर्तनैर्नर्तनैर्मुदा ॥२०॥ अस्यां दशायां केचित्तु, कदाचित्सुखवाञ्छया । प्राणिनश्चेदृशाः सन्ति, येषां चित्तं न सुस्थिरम् ॥ २१ ॥ सन्तोषः सुखसिद्ध्यर्थमसन्तोषाद्दुःखदर्शी । भद्रपरिणामवन्तो, जीवाः सुखविवृद्धये ॥ २२ ॥ रक्षं खेदं च कुर्वन्ति, सदैकीभावमास्थिताः । रजः प्रक्षेपणेऽप्येवं, न पृथग्भावमश्नुते ॥ २३ ॥ सुखं तत्साधनं तद्धर्मं ये चानुवन्ति ते । नान्यथाऽभ्यन्तरोपायैर्दृश्यतामिह चार्थिभिः ॥ २४ ॥ एवं प्रवर्तितं चक्रं, तदग्रे सफलीभवेत् । सत्यात्मकस्य सर्वस्य, सुखस्य साधनं बहु ॥ २५ ॥ समये प्राप्नुवन्त्येवं, न चाचेति सनातनम् । इत्थं दयामयीं तेषां, स्थितिं प्रतिपद्यन्यते ॥ २६ ॥ सार्धं ज्ञातुं स्वर्यिनं च, सुखं वास्तविकं पुनः । सत्यसाधनसद्भावं, कर्तुमप्यात्यवश्यकम् ॥ २७ ॥ सत्यसाधनयोगो हि, सर्वोपरि विराजते । तथाऽद्वितीयं संमान्यं, चमत्कारकरं पुनः ॥ २८ ॥ अस्ति साधनकं पुण्यं, प्राप्यते तद्गुरोर्मुखात् । उपयोगे प्रकुर्वन्तः, स्वल्पकालेन तत्सुखम् ॥ २९ ॥ अवश्यमेव लब्धव्यमखण्डमव्ययं ध्रुवम् । योगश्चैतादृशं वस्तु, न स्वयं ज्ञायते क्वचित् ॥ ३० ॥ योगयुक्तादात्मविदः, कस्मादपि महात्मनः । ज्ञातव्यो विषयासक्ताप्यते स हि योगिनः ॥ ३१ ॥ यथोदरभरो योगी, संसारासक्तचेतनः । बाह्यतः साधुवद्वृत्तिस्तस्मै योगोऽस्ति दुर्लभः ॥ ३२ ॥ एवं भूतयोगिनश्च, नाप्यते योगसाधनम् । तस्माच्छास्त्रपरो योगः, शिक्षणीयो महात्मनः ॥ ३३ ॥ योगिनोऽद्य न लभ्यन्ते, भारते योगधारकाः । परं प्रयत्नकरणाल्लब्धव्या योगिनोऽधुना ॥ ३४ ॥ सुयोगाभ्यासतो नित्यं, समाधानेन चेतसा । अथवा दूरतः स्वयं, कंचिद्योगविदं जनम् ॥ ३५ ॥ समाश्रयन्तु येन स्यात्साध्यसाधनमुत्तमम् । परन्त्वियं कर्तव्यं, स्मरणं साधनं विना ॥ ३६ ॥ नाप्यते सत्सुखं केचिदिति जानन्तु साधकाः । परन्तु स्वसमीपेऽस्ति, तत्सुखं स्वात्मनि स्थितम् ॥ ३७ ॥ अन्तर्दृष्टितोऽभ्यासाज्ज्ञापयन्ति सुखं परम् । येषां सनातनस्यैवं, सुखालीढोपलब्धये ॥ ३८ ॥ योगसाधनवाञ्छा चेद्योजनीयं मनो मुहुः । योगस्य योगिनां चात्र, महत्त्वं परमोत्कैः ॥ ३९ ॥ गीतायां तत्र कृष्णेन, सर्वमुख्यं महात्मना । तपस्विभ्योऽधिको योगी, इति श्लोकेन वर्णितम् ॥ ४० ॥ अनेकधोपवासादितपो दीर्घादिदीर्घकम् । कृत्वाऽपि च न लभ्येत, योगी कश्चिन्महोदयः ॥ ४१ ॥ अतो योगी महानस्ति, सर्वतो भारते कलौ । नयनिक्षेपदेवादेरपुण्यभाक्कं तथा ॥४२॥

जीवादिसंख्यां संख्यातुमुत्सुका ज्ञानिनां वराः । तेभ्योऽप्यस्ति महान् योगी, तथा कर्मकरादपि ॥४३॥ अतोऽर्जुन ! भव त्वं हि, योगी योगात्परो न हि । योगयुक्तो विशुद्धात्मेत्यादिश्लोकेन वर्णितम् ॥४४॥ श्रीमत्कृष्णेन महता, चार्जुनाय विदे मुहुः । तदाशयश्चेत्थमस्ति, ज्ञातव्यो योगवित्तमैः ॥ ४५ ॥ आत्मजेतेन्द्रियाहर्ता, तथा भूतेषु भावना । स्थापनीया समा शश्वदिति शास्त्रमतं सदा ॥ ४६ ॥ योगी जनः कर्म कुर्वन्निष्कर्मैव स जायते । अर्थात् कर्मलेपनाच्च, न कदापि स लिप्यते ॥४७॥ यथाऽम्भसि गतं पद्मं, न स्पृशेत्तज्जलं क्वचित् । तथैव योगसम्पन्ना, न लिम्पन्ति च कर्मभिः ॥ ४८ ॥ एवमेव च सम्प्रोक्तं, जैनशास्त्रेऽपि न्यायतः । [अग्गं च मूलं] चे त्यादिशेयं स्याद्वदकं पुनः ॥ ४९ ॥ मूलकर्माऽग्रकर्मणो, भेदं ज्ञात्वा विवेकतः । एवं ज्ञात्वा मुक्तमोऽपि, निष्कर्मा साधको भवेत् ॥ ५० ॥ निष्कर्मकारिणो चेत्थं, न भवेन्न कदाचन । उपाध्युत्पातकं चेति, लौकिकं सर्वकर्म च ॥ ५१ ॥ केवलं दर्शनार्थाय, दृश्यते चेदृशं क्वचित् । योगयुक्तात्मनः कार्यं, योगक्षेमस्य वाहकम् ॥ ५२ ॥ भवेदयं च योगो हि, चिरकालात्समागतः । प्रवर्तकश्चास्य योगस्यानादेः ऋषभो जिनः ॥ ५३ ॥ तीर्थकृतामादिभूतः, श्रीमानृषभदेवकः । जिनराजोऽभवद्योगी योगिनां प्रवरो मुनिः ॥ ५४ ॥ मनोनिग्रहणाऽऽदेशो, निर्दिष्टः पूर्वमेव च । तेनाज्ञा च प्रदत्ताऽत्र, सर्वाधिक्येन ज्ञानतः ॥ ५५ ॥ बहुजीवनिकायानां, सन्मुखं जगतः परम् । दृष्टिमात्रेण यत्क्षोभं, मनः प्राप्तं च यन्मुहुः ॥ ५६ ॥ भूयाऽक्षुब्धं पुनश्चात्मसंमुखं यत्प्रवर्तितम् । पुनस्तदेवानन्दं च, लब्ध्वा प्रत्यक्षमेव वा ॥ ५७ ॥ कदोत्तमनुभवं तस्य, मनसोऽतो निरोधनम् । कर्तव्यं हि तदेवास्ति, योगो योगविदां मते ॥ ५८ ॥ इदमेव हि योगस्य, लक्षणं प्रोक्तवानिति । पतंजलिमुनिश्चापि, योगसूत्रेण श्रूयताम् ॥ ५९ ॥ **चित्तवृत्ति-निरोधाख्यो**, योगश्चोक्तः पुरातनः । अत्युत्तमस्य योगस्य, पात्रं हि श्रीनरादयः ॥ ६० ॥ चतुर्वर्णप्रमाणं च, लोकनामत्र चास्ति वै । अधिकारश्च योगस्य, साधनेनास्ति निर्णयः ॥ ६१ ॥ योगेनैव यशस्तेजो, वर्धते योगिनां मुहुः । योगतश्चकपङ्कं च, मिलोर्द्धं याति साधकः ॥ ६२ ॥ निर्वाणपदमागम्य, जरामरणवर्जितः । अतोऽत्र निर्णयो नास्ति, योगे जातिभिदो मुधा ॥६३॥ जातिभेदात्मको भेदो, नावदया प्रविचारणे । चाण्डालजातिसम्पन्नो, जनोऽपि योगवित्तमः ॥६४॥ भवितुं शक्यते योगी, महात्माऽपि स्वतन्त्रतः । पञ्चविंशतिशतात्पूर्वं, हरिकेशी मुनीश्वरः ॥ ६५ ॥ स च चाण्डालजातीयो, जातश्चेति तथाऽपि च । योगतो

योगाभ्याससंसिद्धिस्तत्रैव खलु जायते । यत्सुखं वीतरागस्य, मुनेरेकान्तवासिनः । तत्सुखं देवराजस्य, चक्रिणो न कदाचन ॥ ९१ ॥ नासनेन विना सिद्धिर्जायते न रजोवृते । रहःस्थाने चेदासनस्य, ज्ञेयमावश्यकं मुहुः ॥ ९२ ॥ दर्भासनं प्रशस्तं स्याद्योगिनां च मुदे पुनः । कम्बलेन तदाच्छाद्यं, सर्वथा योगधारकैः । एतादृशे साधकानामासने शक्तिरुज्ज्वला । जायते ननु कायस्य, विद्युत्कोटिसमप्रभा ॥ ९३ ॥ बुद्धिरत्युत्तमा वेति, नो विशेषस्तु कासने । तत्रासने साधनतो, योगो निष्फलतां व्रजेत् ॥ ९४ ॥ भगवत्यादिसूत्रेषु, प्रोक्तं दर्भासनं शुभम् । 'दब्भ संथारगं' चेति, सूत्रार्थेनोपवर्णितम् ॥ ९५ ॥ गणधरस्य मुनेश्च, गौतमस्य तथा पुनः । केशिस्वामीत्यादिना च, स्वागतार्थं समाहितम् ॥ ९६ ॥ आगन्तुकेभ्यो नितरां, सुदर्भासनमेव हि । प्रदत्तं चोपवेशार्थमित्येवं च तदासनम् ॥ ९७ ॥ प्रशस्तं सर्वासनेभ्यो, सुदर्भासनसुचकैः । जैनानां च तथा रीतिरेषा दर्भासनार्पणे ॥ ९८ ॥ तदभावे प्रशस्तं स्यात्कम्बलासनमेव च । दर्भासनोपरिष्ठात्तु, कम्बलासनमिष्यते ॥ ९९ ॥ ततः पद्मासनं बद्ध्वा, मनसोऽप्यनुकूलतः । पुनरासनेऽस्मिो च, साधनं समुपविश्य च ॥ १०० ॥ साधयेच्छुद्धमनसा, योगं योगस्य सिद्धये । दिशि पूर्वे चोत्तरे च, मुखं कृत्वा समभ्यसेत् ॥ १०१ ॥ तदेवोक्तं **'पुरत्थाभिमुहे' 'सपलियंकनिसण्णया'** इत्येवं कथितं सर्वमासनं क्रमतो जिनैः ॥ १०२ ॥ कमलाख्ये वा पर्यङ्के, स्थित्वा चाप्युत्तमासने । मुखं पूर्वदिशि कृत्वा, वामहस्ते च दक्षिणम् ॥१०३॥ करं धृत्वा कटिं तद्वत्कण्ठे चैवं च मस्तकम् । सदैकपंक्तौ संस्थाप्य, साधयेदप्रमादतः ॥ १०४ ॥ स्थाप्यं श्मश्रुविभागेऽधो, हनौ स्वन्तर्गते पुनः । ईदृगासनमारूढो, योगी याति परं शमम् ॥ १०५ ॥ प्रातर्दिनान्ते च पुनर्निशायां, पूर्वे परे याममये च काले । मध्याह्नवेलासुसमाहितः सन्, योगी सदाऽनेन सदासनेन ॥ १०६ ॥ करोतु योगस्य सुसाधनं वै, यदेकयाऽनन्तसुखेन योगी । भूत्वा स्थिरो जातु सदा, सुशक्यस्तदा च ज्ञेया विजयोपलब्धिः ॥ १०७ ॥ जातासने चासनसिद्धिरग्रा, विनासनाद्धि विजयो न योगः । सिद्धचेत्पयो प्राणशरीरवृत्तौ, तदा सुदृष्टौ विजयोऽपि लभ्यः ॥ १०८ ॥ प्राणेन्द्रिये चापि तनौ सुदृष्टौ, प्राप्नोति योगी विजयं समन्तात् । सदेत्यमेवं च विना न योगमात्मोपलब्धिर्भवतीति ज्ञेयम् ॥ १०९ ॥ अतो नितान्तं श्रमतो गुरोश्च, युक्तेर्विशेषेण च प्रापणीयः । जयोऽप्यजस्रं खलु स्वासनस्य, जानन्तु सर्वे मुनयो नितान्तम् ॥ ११० ॥ जितासनानन्तरमेव शश्वद्यमादिनियमादिजयोऽपि लभ्यः । जितासनानन्तरसाधकेन, संल-

॥ १२८ ॥ अयञ्च प्रयासो यदा वृद्धिमेति, प्रकृतिप्रत्येकं पदार्थान्तरेऽपि, । तदा प्रेमवृद्धिः प्रयात्येव नूनं, तथा सृष्टिप्रत्येकमंशेऽपि ज्ञेया ॥ १२९ ॥ मुदा वीतरागत्वमुत्कृष्टतायाः, प्रभावस्य स्याद्वर्तनं योगसिद्धौ । प्रयत्नोऽपि स्यादुत्कटत्वेन शश्वत्तदानीं मुहूर्तोन्तमुत्थापनीयः ॥ १३० ॥ ततः सृष्टिभागेऽपि स्याच्चेत्सुदृष्टिर्मुखं स्थापयित्वा च तत्रैव सृष्टिः । स्थिरीभावमागत्य कायस्य स्वस्य, स्वपिण्डादिभिः, स्वस्य दुःखं पुनश्च ॥ १३१ ॥ मुहुः प्लवयते तादृशावस्थया, मुखं साधके नाप्यते शीघ्रतः । प्रभुनाम्नो मुहुर्भावनानामकं, जपं प्रेमतो योगजन्यं पुनः ॥ १३२ ॥ तदा प्रारमेवेच्छया शब्दकोच्चारणं ॐ नमो जापमेवं जपेत् । अनेनार्हदेवं भजेत्प्रेमतः, सर्वकाले सदा ॐ पदं लुप्यते; पुनः शब्ददेव स्वयं नामतः ॥ १३३ ॥ ततश्चात्मनि प्रेमतश्चार्हतीति, प्रभावैकचक्रासुस्मृतिस्ततः । स्वयं सक्षणं जायते प्रेमतो, यथा चावकाशं परं तत्वतः ॥ १३४ ॥ चलंश्चोपशान्त्या भ्रमन्वा विश्रान्सदोत्तिष्ठमानः शयानोऽपि च । तथा जाग्रतो भुञ्जमानश्च तत्र ध्यानं कदाचित्सरेत्क्रमयतः ॥ १३५ ॥ निशान्ते दिनान्ते च मध्यान्हके, निशायां सुयोगः क्रियामारभेत ॥ सदाऽजापजापं जपेत्सस्मरेत्कतो योगद्वारैव सद्भावना, दृढत्वं भवेद्योगतो नान्यतः ॥ १३६ ॥ आपमेवं जपेत्प्रेमभावेन च, तथा हि द्वयं साधनं सर्वतो । मिलित्वा मनः शान्तभावं भजेन्मनोऽश्वो भयंकरको दुःखदः ॥ १३७ ॥ तथा साहसाधारत्वं भवेन्मनो रूपवशस्तथा चेन्द्रियं, घोटकोऽस्ति बलिष्ठ इति ज्ञायतां, परं चेदृशेन प्रयासेन च ॥ १३८ ॥ ततो मत्तता याति तेषां बहिः । ततस्ते भवेयुः प्रशान्ताः पुनः ॥ ततश्चेदृशेन प्रसरेण च, भवेत्साधकानां विवेकान्विता ॥ १३९ ॥ तथेवं च दृष्टिश्च सूक्ष्मा मुहुः, महेवानयेदात्मिकानन्दकम् । इदं साधनं स्याच्च सन्तोषवरहेतुस्तदा साधकः स्वस्य च, प्रवृत्ति निवृत्तिं च सपश्यत ॥ १४० ॥ आत्मानं सारथिं विद्धि, शरीरं रथमेव तु । इन्द्रियाणि हयानाहुर्मनः प्रग्रहमेव च ॥ १४१ ॥ परावृत्य यत्त्राटकं बाह्यवृत्त्या, कृतं तत्र कुर्वन्तु वाऽभ्यन्तरीया । शुभं त्राटकं दृष्टितो योगसिद्धौ, भवेद्योगिनां साधने सम्प्रवृत्तिः ॥ १४२ ॥ श्वासोच्छ्वासक्रयोर्दृष्टिः, पूर्वं स्थाप्या प्रयत्नतः । बहिर्याति यदा श्वासस्तदा 'सो' शब्द इर्ष्यते ॥ १४३ ॥ जाते चाभ्यन्तरे शब्दहं शब्दः स्वभावतः । जायते च द्वयोर्योगे, 'सोहं' मित्युपयुज्यते ॥ १४४ ॥ जापं विनैव संतिष्ठेदजपाजापमुत्तमम् । तेनैवाथापवर्गस्य, प्राप्तिर्भवति योगिनाम् ॥ १४५ ॥ ध्यानेन यत्र सम्पश्येद्यदा श्वासोऽभिजन्यते । यत्र लीनो भवेच्छ्वासस्तत्र वृत्तिप्रयासतः ॥ १४६ ॥ स्थापये-

मुदे ॥ १६५ ॥ अन्ते च विन्दावविलीनभावं, व्रजेच सिद्धं प्रतिभाति योगी । शान्तौ च नादानुभवं च याति, विन्दोरपेक्षा तु विशेषनादे ॥ १६६ ॥ श्रीविन्दोरूपलोकनेऽनुदिवस जाते ततश्चैधते, शक्तिर्योगधियां ततश्च श्रवणं नादस्य जञ्जृम्यते । पश्चादात्मसुखं स्वयं विलसति श्रीसाधकानां ततो, वैवं शून्यगुहां निबद्धमनसां मुक्तिः कराब्जे स्थिता ॥ १६७ ॥ नादोऽनेकविधोऽस्ति शास्त्रविहितः संश्रूयते योगिभिर्घण्टानादसमस्तथास्ति निनदः शङ्खस्य वीणारवः । वेणूत्तालरवश्च चक्रसदृशं शार्ङ्गादि शब्दस्तथा, एवं विन्दुवलोकनादनुमुहुर्नादः समुत्पद्यते ॥१६८॥ योगामृतस्य पानेन, नादस्य श्रवणात्पुनः । विन्दुदर्शनतो योगी, जरामरणवर्जितः ॥ १६९ ॥ नादानन्दे समुत्पन्ने, विन्दुर्गौणतमो भवेत् । नादस्य चाविशेषेण, जायते श्रवणं मुहुः ॥ १७० ॥ घनगर्जनतोऽन्यूनं, श्रूयते गर्जनं बहु । दिव्यनादप्रभावेणाऽप्यन्ते योगी प्रलीयते ॥ १७१ ॥ नादे ध्वन्यनुभवस्य, सर्वाभिस्यन्द वर्धनम् । तदा स्यात्साधकजनो, भ्रमणे चासने तथा ॥ १७२ ॥ उपविश्यासने चैवं, स्थितः सर्वक्रियासु च । नादानुभवमेवास्ति, नान्यो भाति विशेषतः ॥ १७३ ॥ नादानुभवतो लोके, सङ्गीतस्य प्रचारकः । योगिभिश्च कृतोऽजयं, यथा नादः प्रियंकरः ॥ १७४ ॥ मुञ्चन्ति रोदनं बालाः, क्रोधं मुञ्चन्ति पन्नगाः । मृगाः प्राणान् विमुञ्चन्ति, **नास्ति नादसमो रसः** ॥ १७५ ॥ साधकानां तथा लोके, सङ्गीतोऽतिप्रियंकरः । अतः सङ्गीतगानेन, मनोवृत्त्या सदैकताम् । साधकः प्रयत्नेनापि, शनैर्नूनं प्रयासतः ॥ १७६ ॥ वस्तुतो नादो बाह्योऽभूत्सङ्गीतस्य प्रसाधने । बाह्यनादस्य द्वारेणाऽभ्यन्तरो नादमेव्यनात् ॥ प्राप्तुं च धारयते योगी, नात्र कार्यं विचारणम् । यदा साधकजनो नादैर्वृद्धिमेति तथाप्रतः ॥ १७८ ॥ तदा तस्य च यत्नाऽभूनादोऽनुभवमेव हि । तदा भ्रमरगुहायां तु, शब्दाम्बरः प्रतीयते ॥१७९॥ तदूर्ध्वं प्रेमभावेन, चैकः शुद्धः प्रदृश्यते । तस्य शिरसमध्ये तु, महानेको विराजते ॥ १८० ॥ ततश्चोर्ध्वं पश्येद्भ्रमरगुहां यत्र रचितः, शय्याद्वन्द्वभेदोऽस्यतिबहुतेजोऽस्ति विततम् । तदा विन्दोर्नादश्रवणविलयं यात्यनुदिनं, सदा योगी लीनो भवति नितरां यत्र सुखतः ॥ १८१ ॥ तस्य चानुभवं नित्यं, कुर्याद्योगी विशेषतः । प्रकाशात्मपदार्थोऽयं, वर्तुलाकार इष्यते ॥ १८२ ॥ अधो मुखातपत्रेण, समं सम्प्राप्यते मतः । छत्राकारमिदं तद्वत्सहस्रदलसंवृतम् ॥ १८३ ॥ सिद्धिशिलारूपकेऽनाऽजरामरणचक्रके । शिरोऽग्रभागलोकस्य, अग्रभागोपरिस्थितम् ॥ १८४ ॥ अजरामरचक्रेऽत्र, वृत्तिलीनादनन्तरम् । साधकानामखण्डं चाऽ-

स्वयं स्वस्मिन्प्रजायते ॥ २०७ ॥ भावनोदयते शश्वत्सिद्धेषु प्रेमवर्धिनी । यदा यदा प्रयासश्च, वर्धते च तदा तदा । आभ्यन्तरे विशेषेणानन्दस्य जागृतिर्भवेत् ॥ २०८ ॥ मूलाधारे समुद्धाप्य, चक्रं चक्रान्तरे नयेत् । नाभ्यां वक्षःस्थले कण्ठे, त्रिकुट्यामलिगह्वरे ॥ २०९ ॥ शिरःस्थगुहान्ते च, ब्रह्मरन्ध्रे मेलयेत् । भित्त्वैवं ब्रह्मरन्ध्रं च, योगी निर्वाणतां व्रजेत् ॥ २१० ॥ न ह्येतावन्मात्रं हि, प्रत्युतं चाव्रतोपि वा । आनन्दस्यैवानुभवो, जायते नु क्षणं पुनः ॥ २११ ॥ पूर्णानन्दमयध्यान्ते, भूत्वा सर्वत्र भावना । ईश्वरे स्थापयेन्नित्यं, भूत्वा प्रेमप्रयोगतः ॥ २१२ ॥ पश्येदहर्निशं नित्यं, महानन्दो विकासने । वीतरागस्ततो याति, विज्ञेयं योगवित्तमैः ॥ २१३ ॥ पूर्वोक्तप्रकारेण, प्रमाणमनुसारतः । साधकार्थं स्वल्पमयी, प्रक्रिया कथितार्थिभिः ॥ २१४ ॥ एवं विचारकरणात्तथोक्तस्य प्रकारतः । भवेदलभ्यलाभश्च, मननात्स्मरणादपि ॥ २१५ ॥ तथाऽपरेमितं चेत्थं, सामर्थ्यं लभते मुहुः । अत्यन्तो योगविषयो, विशालो गहनस्तथा ॥ २१६ ॥ विना गुरुपदध्यानात्र कश्चियोगसाधकः । योगं शिक्षयितुं योगी, न भवद्योगवित्तमम् ॥ २१७ ॥ योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो, मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । हठयोगो मन्त्रयोगो, लययोगस्तथैव च ॥ राजयोग इति ख्यातश्चतुर्धा योगसाधने ॥ २१८ ॥ यमो नियमश्चासनं, प्राणायामस्तथा पुनः । प्रत्याहारो धारणा च, ध्यानं चैव समाधिकः ॥ २१९ ॥ न चेत्यष्टाङ्गयोगोऽस्ति, विज्ञेयो मुनिभिर्मुदा । तत्रास्त्यपेक्षा चैकस्य, उत्तरोत्तरतः पृथक् ॥ २२० ॥ प्राणायामो बहुविधो, दृश्यते योगशास्त्रके । तदवान्तरभेदश्च, कथ्यते शास्त्रसम्मतः ॥ २२१ ॥ परन्तु तत्र मुख्योऽस्ति, पूरकः कुम्भकस्तथा । रेचको भस्त्रिकाप्यस्ति, प्राणायामोपयोगकम् ॥ २२२ ॥ प्राणायामसहायार्थं, नेतिर्धौतिश्च नौलिका । बस्तिः कपालभातिश्च, गजकर्णीत्यादिरस्ति च ॥ २२३ ॥ प्रक्रिया हठयोगस्य, बह्व्यः सन्ति पृथक् पृथक् । नासिकारन्ध्रतः सूत्रं, प्रवेशान्तर्बहिः पुनः ॥ २२४ ॥ मुखाभि-मारयेद्बाह्यं, नेतिः सा कीर्त्यते बुधैः । वस्त्रमुत्तार्य जठरे, मलं निस्सारयेद्बहिः ॥ २२५ ॥ धौतिः क्रिया च कथिता, योगे साहाय्यकारिणी । भ्रामयित्वा नलं योगी, नित्यंप्रति मुहुर्मुहुः ॥ नौलिक्रियेयं सम्प्रोक्ता, योगाभ्यासविशारदैः ॥ २२६ ॥ गुदास्थानगतं तद्वन्मलं सम्मार्जयेद्बहिः । बस्तीक्रियेति विज्ञेया, योगसिद्धिकरी मता ॥ २२७ ॥ कपालभातिर्विज्ञेया, गजकर्णी तथैव च । हठयोगे क्रियाश्चैता, योगविद्भिर्निदर्शिता ॥ २२८ ॥ खेचर्येका महामुद्रा, सर्वमुद्रोत्तमा

लौकिकानन्दमेव च ॥ १८५ ॥ योगिनोऽनुभवन्तीत्थं, वर्द्धते तदहर्निशम् । यत्र
योगात्मनो लीना, भवन्त्यधिकतो मुहुः ॥ १८६ ॥ अपूर्वोऽऽनन्दसन्दोहाऽनुभवो
वर्द्धते स्वयम् । - आशरीरे (अखिले) . स्वयं तस्य, प्रसारो जायतेऽसकृत्
॥ १८७ ॥ अर्थादानन्दसन्दोहः, स्वयं सर्वाङ्गकेऽसकृत् । अलौकिकाऽऽनन्दरूपं,
स्वयं स्फूर्त्या विभाव्यते ॥ १८८ ॥ अवस्थयाऽनया यो हि, रूपं साधकसंज्ञकम् ।
विहाय योगी सिद्धश्च, विदेहोऽपि तथा पुनः ॥ १८९ ॥ महात्मा जीवनमुक्तः,
कथ्यते योगवित्तमैः । महात्मनश्चेदृशस्य, देहादृष्टिर्यदा स्थले ॥ १९० ॥ यत्र
यत्र प्रसरति, तत्र तत्राऽप्यलौकिकम् । दिव्यानन्दानुभवनं, करोति साधकोत्तमः
॥ १९१ ॥ जनपदे जले स्थले, तथा वसुमतां स्थले । राजस्थले पद्ममये, गग-
नादिसुरसस्थले ॥ १९२ ॥ एतत्स्थानेषु साधूनां, दृष्टिर्याति महात्मनाम् । तत्र
तत्र स्थले नित्यमानन्दानुभवात्मकम् ॥ १९३ ॥ सर्वत्राऽभेददृष्ट्या च, तथाऽ-
नुभवतः सदा । द्वैतभावस्य भ्रान्तेश्च, आवेऽभावे स कथ्यते ॥ १९४ ॥ तादृशो
वीतरागश्च, योगी भवति निश्चलः । कृतकृत्योऽपि सिद्धश्च, जायत आत्मवत्सलः
॥ १९५ ॥ योगिनामीदृशानां च, दर्शनं लोकपावनम् । कुरुते सततं योगादपि
चैव निराम्यताम् ॥ १९६ ॥ यथाऽभ्यन्तरवृत्तीनां, द्वारेणापि प्रयोगके । सम्बन्धे
ज्ञायते तद्वद्दृष्ट्या स बाह्यभागतः ॥ १९७ ॥ नासेरुपरिभागे च, स्थापनीयो विशे-
षतः । यदा तत्र प्रयासे तु, चक्षुषो नाभिमध्यगे ॥ १९८ ॥ अत्युज्ज्वलतमं तेजो,
दृश्यते चानुरूपतः । तदा नाभिगतां दृष्टिं, विहाय वक्षसोर्मुहुः । स्थापनीया
प्रयत्नेन, मध्यभागे शुभावतः ॥ १९९ ॥ ततस्तेजो नासिकारन्ध्रे, स्थापनीयं च
ध्यानतः । नासिकाग्राभिमुख्यां तु, ततो भ्रमरगह्वरे ॥ २०० ॥ अजरामरत्वकस्य,
सिद्धाः सिद्धशिलासु च । ततोऽप्यनुभवे गच्छेत्सन्मार्गे च प्रवर्तते ॥ २०१ ॥ भक्ते-
रेवं महत्वं च, साधनं जन्यते परम् । भक्त्या चोत्पद्यते प्रेम, तेनैवात्मा प्रदृश्यते
॥ २०२ ॥ कस्यचिच्छास्त्रतत्त्वस्य श्लोकोपरि विचारणम् । कुर्वन्कुर्वंश्च गम्भीराशयं
चोत्तीर्यते पुनः ॥ २०२ ॥ तद्वाराप्यत्रापीह वर्धते तद्विचारमय । एकस्ति रीति-
रीदृशी, यत्र पद्मासने स्थितः ॥ २०३ ॥ विचारयति यत्किंचित्तदे स्थित्वा प्रप-
श्यतु । परन्तु नावरोधव्यो, विचारो योगसाधने ॥ २०४ ॥ अभ्यासबल्मासाद्य,
स्वयं शान्तिर्भवेत्पुनः । विचारधारा चात्यन्तमेवैव प्रशाम्यति ॥ २०५ ॥
विचारशान्तितः पश्चात्साधकानामलौकिकम् । आनन्दानुभवो याति, ततोऽखिल-
भवोपरि ॥ २०६ ॥ प्रेमदृष्टिर्विनात्म स्याद्भावं सर्वत्र सत्त्वम् । स्थापयत्येव योगात्मा,

स्वयं स्वस्मिन्प्रजायते ॥ २०७ ॥ भावनोदयतो शश्वत्सिद्धेषु प्रेमवर्धिनी । यदा यदा प्रयासश्च, वर्धते च तदा तदा । आभ्यन्तरे विशेषेणानन्दस्य जागृतिर्भवेत् ॥ २०८ ॥ मूलाधारे समुद्बोध्य, चक्रं चक्रान्तरं नयेत् । नाभ्यां वक्षःस्थले कण्ठे, त्रिकुट्यामलिगह्वरे ॥ २०९ ॥ शिखरस्थगुहान्ते च, ब्रह्मरन्ध्रे मेलयेत् । भित्त्वैवं ब्रह्मरन्ध्रं च, योगी निर्वाणतां व्रजेत् ॥ २१० ॥ न ह्येतावन्मात्रं हि, प्रत्युतं घात्यतोपि वा । आनन्दस्यैवानुभवो, जायते ॥ क्षणं पुनः ॥ २११ ॥ पूर्णानन्दमयश्चान्ते, भूत्वा सर्वत्र भावना । ईश्वरे स्थापयेत्सिलं, भूत्वा प्रेमप्रयोगतः ॥ २१२ ॥ पश्येदहर्निशं नित्यं, महानन्दो विकासने । वीतरागस्ततो याति, विज्ञेयं योगवित्तमैः ॥ २१३ ॥ पूर्वोक्तप्रकारेण, प्रमाणमनुसारतः । साधकार्थं स्वल्पमयी, प्रक्रिया कथितार्यैर्भिः ॥ २१४ ॥ एवं विचारकरणात्तथोक्तस्य प्रकारतः । भवेदलभ्यलाभश्च, मननात्स्मरणादपि ॥ २१५ ॥ तथाऽपरिमितं चेत्थं, सामर्थ्यं लभते मुहुः । अलन्तो योगविषयो, विशालो गहनस्तथा ॥ २१६ ॥ विना गुरुप्रदष्यानान कश्चियोगसाधकः । योगं शिक्षयितुं योगी, न भवद्योगवित्तमम् ॥ २१७ ॥ योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो, मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । हठयोगो मन्त्रयोगो, लययोगस्तथैव च ॥ राजयोग इति ख्यातश्चतुर्धा योगसाधने ॥ २१८ ॥ यमो नियमश्चासनं, प्राणायामस्तथा पुनः । प्रत्याहारो धारणा च, ध्यानं चैव समाधिकः ॥ २१९ ॥ स चेत्यष्टाङ्गयोगोऽस्ति, विज्ञेयो मुनिभिर्मुदा । तत्रास्त्यपेक्षा चैकस्य, उत्तरोत्तरतः पृथक् ॥ २२० ॥ प्राणायामो बहुविधो, दृश्यते योगशास्त्रके । तदवान्तरभेदश्च, कथ्यते शास्त्रसम्मतः ॥ २२१ ॥ परन्तु तत्र मुख्योऽस्ति, पूरकः कुम्भकस्तथा । रेचको भस्त्रिकाद्यस्ति, प्राणायामोपयोगकम् ॥ २२२ ॥ प्राणायामसहायार्थं, नेतिर्धौतिश्च नौलिका । वस्तिः कपालभातिश्च, गजकर्णादिरस्ति च ॥ २२३ ॥ प्रक्रिया हठयोगस्य, बह्वः सन्ति पृथक् पृथक् । नासिकारन्ध्रतः सूत्रं, प्रवेशान्तर्बहिः पुनः ॥२२४॥ मुखाद्निःसारयेद्बाह्यं, नेतिः सा कीर्त्यते बुधैः । वस्त्रमुत्तार्य जठरे, मलं निस्सारयेद्बहिः ॥ २२५ ॥ धौतिः क्रिया च कथिता, योगे साहाय्यकारिणी । भ्रामयित्वा नलं योगी, नित्यप्रति मुहुर्मुहुः ॥ नौलिक्रियेयं सम्प्रोक्ता, योगाभ्यासविशारदैः ॥ २२६ ॥ गुदास्थानगतं तद्वन्मलं सम्मार्जयेद्बहिः । वस्तीक्रियेति विज्ञेया, योगसिद्धिकरी मता ॥ २२७ ॥ कपालभातिर्विज्ञेया, गजकर्णी तथैव च । हठयोगे क्रियाश्चैता, योगविद्भिर्निदर्शिता ॥ २२८ ॥ खेचर्येवं महामुद्रा, सर्वमुद्रोत्तमा

मता । तथा बन्धत्रयं प्रोक्तं, योगसाधनकर्म्मणि ॥ २२९ ॥ खेचरीति महामुद्रा, महाबन्धकरी तथा । वज्रमुद्रेति विख्या, मुद्राः प्रोक्ताः सुसाधकैः ॥ २३० ॥ ताश्च मुद्रा महायोगी, गुरुदेवप्रसादतः । ज्ञातुं शक्नोति योगातो, नान्यथा सिद्ध्यति स्फुटम् ॥ २३१ ॥ प्राणायामविचारोऽपि, वर्ण्यतेऽनुभवान्मुदा । वस्तूनीमानि योगेऽस्मिन्, ज्ञातव्यानि विशेषतः ॥ २३२ ॥ अतो महात्मनामन्ते, स्थित्वा शिक्षादिकाः क्रियाः । संसारे योगतो नान्यः, पंथा मोक्षाय विद्यते ॥ २३३ ॥ **यो योगं कुरुते नित्यं, स याति परमास्पदम् । निर्भयं कर्मबन्धाच्च मुच्यते नात्र संशयः** ॥ २३४ ॥ इत्युपदेशानुसारेण, ज्ञातव्यं मोक्षकांक्षिभिः । अत्रानेके जनाः काले, बहुपापकृता भवे ॥ २३५ ॥ दृश्यन्ते च तथाऽन्तेऽपि, कथं तेषां सुखोदयः । सुपुण्यरूपं तैरत्तं, बीजं पूर्वं ततश्च ॥ ॥ २३६ ॥ सुखा-त्मकं फलं यच्चभुंजन्ते तेन ज्ञायताम् । परन्त्वत्र च जीवेभ्यो, दत्वा दुःखं निर-न्तरम् ॥ २३७ ॥ वपन्ति दुःखबीजं ते, भविष्यन्ति सुखेतराः । फलं दुःख-मयं तेषामन्ते स्यान्नात्र संशयः ॥ २३८ ॥ इत्थं यश्च सुखी भूत्वा, पापिष्ठोऽपि भवे भवान् । पापानुबन्धिपुण्यात्मा, ज्ञायतां जगतीतले ॥ २३९ ॥ तदत्र वर्तते हेतुः, पूर्वपुण्यप्रसादतः । जायन्ते सुखिनः पश्चाद्दुःखिनोऽपि भवन्त्यदः ॥ २४० ॥ वर्तमाने पापयोगात्पापिनोऽपि ततः परम् । दृश्यन्ते सुखिनोऽप्येवं, ज्ञातव्यं तत्व-निश्चयैः ॥ २४१ ॥ धर्मात्मानो जनाः केचित्सन्ति लोके सुखार्थिनः । कियन्तो दुःखभोक्तारः, पापपुञ्जप्रभावतः ॥ २४२ ॥ कियन्तश्च सुखाभरा, पुण्योदयप्रभा-वतः । एवं दुःखसमाप्तौ च, सुखोदर्कः प्रजायते ॥ सुखभोगसमाप्तौ तु, दुःखो-दर्कः प्रपद्यते ॥ २४३ ॥ अतस्ते सुखिनश्चामे, भविष्यन्ति नरोत्तमाः । ईदृशान्म-नुजान् शास्त्रे, पुण्यानुबन्धिपापिनः ॥ २४४ ॥ कथयन्ति जगत्यस्मिन्पूर्वपापप्रभा-वतः । भुंजन्ति तेऽत्र पापौघं, वर्तमाने तथा पुनः ॥ २४५ ॥ पुण्योदयवशात्ते च, भविष्ये सुखभोगिनः । ज्ञातव्यं दुःखभोक्तृणां, तथा सुखभुजां भुवि ॥२४६॥ ततः किं कथयन्त्वत्र, वर्तमाने च पापिनः । भविष्येऽपि तथा सन्ति, नियमोऽ-प्यस्ति किमीदृशः ॥ नियमोऽप्येतादृशश्चापि, जनाश्च बहवो भुवि । पूर्वपापबल-दत्र, दुःखिता जीवदुःखदाः ॥ २४७ ॥ तेऽप्यत्रजन्मन्यन्ते च, दुःखिनो मनुजाः पुनः । सर्वेदृशजनानान्तु, का संज्ञेति वदन्तु नः ॥ २४८ ॥ **पापानुबन्धि-पापिनो**, ज्ञातव्यं शास्त्रमानतः । पूर्वजन्मार्जितानां च, दुःखानां भोगिनोऽ-धुना ॥ २४९ ॥ इदानीं कुरुते पापं, तद्भोक्ताऽग्रे भविष्यति । किंवैतादृशो नियमः, शास्त्रेऽप्यस्ति प्रमाणतः ॥ वर्तमाने सुखं भुंक्ते, भविष्येऽपि पुनः सुखम्

॥ २५० ॥ योगोऽनघो महत्तत्त्वप्रापकोऽस्त्यमरद्रुमः । तस्य सेवनमात्रेण, याति योगी परम्पदम् ॥ २५१ ॥ भवितुं शक्यते चेत्थं, भूतकाले च ये नराः । प्राणिनां सुखदातारो, बन्धयित्वाप्रतिपुण्यकम् ॥ २५२ ॥ तेनात्र सुखसम्पन्नाः, पुण्यमेवाश्रयन्ति ते । भविष्येऽपि पुनस्तद्वत्पुण्यस्यैवानुबन्धनम् ॥ २५३ ॥ एतादृशजनस्यात्र, शास्त्रे पुण्यानुबन्धकृत् । पुण्यवान्कथ्यते लोके, पूर्वपुण्यप्रभावतः ॥ २५४ ॥ सुखी भूत्वा स चेदानीं, वर्तमाने करोति चेत् । पुण्यं भविष्यकालेऽपि, पश्चादपि सुखी भवेत् ॥ २५५ ॥ कर्मणां चतुष्टयं चेत्यमनुबन्धं भवत्यदः । विशेषश्चानुबन्धार्थो, बन्धनं शास्त्रसम्मतम् ॥ २५६ ॥ भुंक्ते च तत्फलमग्रे, शुभाशुभानुबन्धनैः । अस्त्येवं च सुखीदानीमशुभेन च दुःखभाक् ॥ २५७ ॥ **पापानुबन्धिपापश्च, पापानुबन्धिपुण्यकृत् । पुण्यानुबन्धिपापश्च, पुण्यानुबन्धिपुण्यवान्** ॥ २५८ ॥ चतुर्विधं सुविज्ञेयमनुबन्धस्य साधकैः । समयेऽत्र सुखं पश्चादमेऽपि सुखप्रापणम् ॥ २५९ ॥ इत्थं कर्मफलं दुःखमथवा सुखसंभवः । परन्त्वव्याधिमोक्षस्य, सुखस्यापि कदाचन ॥ २६० ॥ समाप्तिर्न भवेच्चैव मध्यात्मिकसुखाप्तये । क्षायिके सुखभोगश्च, हेयं सर्वत्र सर्वदा ॥ २६१ ॥ अर्थाच्चपुण्यपापानां, क्षयं नीत्वाऽऽत्मरूपके । स्थातव्यो मनसाऽत्र च, कीदृशोऽप्यनुबन्धनम् [**न बन्धनीयो हेयश्च, नयविद्भिरिहोच्यते**] ॥ २६२ ॥ यत्तात्कालमूलास्त्यवतेऽमृतं हि, योगी जनस्तत्पिबति प्रध्यानात् । तेनैव तृप्तिश्च तथा विमुक्तिः, सञ्जायते योगिजनस्य नित्यम् ॥ २६३ ॥ **बन्धव्योऽस्त्यनुबन्धश्चेत्पुण्यस्यैवानुबन्धनम् । पापानुबन्धं नो कुर्यात्तेय यथास्ति सर्वदा** ॥ २६४ ॥ कृतः पुण्यानुबन्धस्य, बलादेवं फलं भवेत् । यतः स्यात्कर्म्मनिर्जरा, न पुनः कर्मसम्भवः ॥ २६५ ॥ स्वतन्त्रतायाश्चैतद्धि, द्वितीयं द्वारमिष्यते । ज्ञात्वैवं च विवेकेन, साध्यो योगश्च साधकैः ॥ २६६ ॥ **योगाद्वास्त्यपरः कश्चिन्मुक्तिसिद्धिकरोऽधुना । तस्माद्योगमुपाश्रित्य, याति योगी परम्पदम्** ॥ २६७ ॥ योगः कल्पतरुर्विपत्तितरणिरज्ञाननाशोद्यतो, येन स्याच्च जराऽपमृत्युहरणं योगार्थिनां दुःसहा । वृत्तिः स्यादचलाऽऽत्मनि प्रवितते यस्मात्परा निर्मला, योगे निर्मलचेतसां हृदि मुहुर्मुक्तिश्च वा भ्राजते ॥ २६८ ॥ **योगो हि निर्मलादर्शो, यत्रात्मा च प्रदृश्यते । लोकस्थान्तर्गतं वस्तु, निशामय गुरोर्मुखात्** ॥ ॥ २६९ ॥

इति वीरयोगतरङ्गः समाप्तः ॥

भावार्थः—प्रत्येक प्राणी सुखकी इच्छा प्रकट करता है, इतना ही नहीं बल्कि सुखकी प्राप्तिके लिये अनेक उपाय करता है। उन उपायोंसे जब वह सफलीभूत होता है और अनन्त सुखको पाता है तब वह सर्वथा कृतकृत्य हुआ समझा जाता है। सुखको पानेके लिये अनेक साधनोंमें धर्म सर्वतो मुख्य साधन है। वर्तमान समयमें अनेक मत, पंथ, बाड़ाबंदी सम्प्रदाय, संघाड़ा, गच्छ, टोला, पार्टीबाजी आदि जो धर्मके नामपर चलकर अमर शहीद बनने जा रही हैं, वे सब सुखके साधनसे विमुख बनकर अपने शिष्योंको सुखका साधन प्राप्त करानेमें असमर्थसे ही हैं। मात्र अपनी सम्प्रदाय और टोलेको निभानेके लिये अमुक अमुक क्रियाएँ रच डाली हैं। उन्हींको परम्पराके अनुसार अपने शिष्योंको भी बताते रहते हैं, और वे शिष्य भी उस परम्पराके अस्पष्ट चक्रके अनुसार उन क्रियाओंको उनके इशारेपर नाच-नाचकर करते रहते हैं। ऐसी स्थितिमें जो क्वचित् क्वचित् सुखकी इच्छावाले प्राणी हैं उनको सन्तोष नहीं होता। सन्तोष न होनेसे ऐसे भव्यपरिणामवाले जीवोंको सुखके साधनके लिये खून पसीना एक करना पड़ता है। बहुत कुछ धूल खाक उड़ानेपर भी सुखके सच्चे साधन समयपर मिलते हैं और नहीं भी मिलते। इस प्रकार उनकी दयनीय स्थितिपर स्पष्ट समझा जा सकता है कि स्थायी सुखके वास्तविक और सच्चे साधनोंके प्रचार करनेकी जगत्के लिये पूरी आवश्यकता है।

सुखके साधनोंमें योग सबसे भारी और अद्वितीय चमत्कारिक तथा सर्वमान्य साधन है। यदि इन साधनोंका गुरुगम्य द्वारा उपयोग किया जाय तो अवश्यमेव अल्प समयमें सनातन अखंड सुखकी प्राप्ति हो सकती है। योग एक ऐसी वस्तु है कि वह अपने आप नहीं सीखा जा सकता, अतः किसी महात्मा, योगनिष्ठ, आत्मवित् पुरुषके द्वारा उसे सीखना चाहिये। आजकल योगी पुरुष इस भारतमें सब जगह नहीं मिलते अतः सतत प्रयास द्वारा योगियोंकी शोध करनी पड़ेगी, परन्तु नकली योगियोंसे तो सावधान ही नहीं बल्कि दूर रहना चाहिये और किसी सच्चे योगीको खोजकर साध्यकी साधना करनी चाहिये। एवं इतना स्मरण रहे कि योगकी साधनाके बिना सत्य सुखको कोई भी नहीं प्राप्त कर सकता, परन्तु वह सत्य सुख अपने पास और अपनी आत्मामें ही है, और योग अन्तर्दृष्टिके अभ्यास द्वारा उसे बता

सकता है। जिस मनुष्यको सनातन सुख अभीष्ट हो उसे योगकी साधनामें लगना चाहिये। योग और योगीकी महत्ता बड़ी ही ऊंची है। श्री गीता भगवतीमें श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है कि—

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन॥
(अध्याय ६, श्लोक ४७)

भावार्थ—उपवासादिक अनेक प्रकारके लम्बे-लम्बे तप करनेवालोंसे योगी बड़ा है। नय, निक्षेप, देवादिकी आयुष्यके भंग (भांगे) तथा जीवादिकी संख्याकी गणना करनेवाले वाचाल ज्ञानियोंसे भी योगी बड़ा है, आवश्यकादि कार्य करनेवालेसे भी योगी बहुत बड़ा है। अतः हे अर्जुन! तू योगी बन।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
(गीता अध्याय ७, श्लोक ५)

भावार्थ—आत्म-विजेता, इन्द्रियजित् और सब भूतोंपर समभाव रखनेवाला योगी पुरुष कर्म करनेपर भी निष्कर्म समझा जाता है। अर्थात् कर्म लेपसे लिप्त नहीं होता।

इसी प्रकार जैन-दर्शनमें भी कहा है कि—

"अग्गं च मूलं विलं च विगिं च धीरे।
पलिछिंदिया णं णिकम्मदंसी॥"
(आचारांग)

अग्रकर्म और मूलकर्मके भेदको समझ कर विवेक द्वारा धर्म कर। इस प्रकार कर्म करनेपर वह साधक निष्कर्मा कहलाता है।

अकम्मस्स ववहारो ण विज्जइ। कम्मुणा उवाहि जायइ॥
(आचारांग १-१-१)

भावार्थ—निष्कर्मके जीवनमें उपाधि या उत्पात नहीं होता। इसी प्रकार लौकिक टीपटाप और दिखाव बनाव भी नहीं होता। इसका शरीर मात्र योग क्षेमका वाहन होता है, इत्यादि।

यह योग अनादि कालसे चला आ रहा है, और इसके आदि प्रवर्तक आदिनाथ अर्थात् आदि तीर्थंकर श्रीऋषभदेवजी जिनराज हो गये हैं। उन्होंने मनो निग्रहका आदेश सर्व प्रथम देकर यह फर्माया है कि अधिकतर बहुतसे जीवोंका जगत्के सन्मुख दृष्टि द्वारा क्षोभ प्राप्त मन अक्षुब्ध होकर आत्माके सन्मुख प्रवर्तित होता है, और वह फिर अनन्त सुखका साक्षात्कार पाकर उसका अनुभव करता है अतः मनका निरोध करना ही योग है। भगवान् पतंजलिने भी योगका यही लक्षण बताया है।

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।" 'चित्तवृत्तिका निरोध करना योग है।'

इस अत्युत्तम योगके पात्र स्त्री पुरुष या चारों वर्णके लोक हैं। योग साधनामें जाति भेदकी कोई आवश्यकता नहीं है। चाण्डाल जाति भी योगी महात्मा हो सकता है। २५०० वर्ष पूर्व हरिकेशी मुनि जातिके चाण्डाल थे तथापि योगके द्वारा महात्मा पदको पा गये। यथा—

सोवागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणि। (उत्तराध्ययन)

भावार्थ—चाण्डाल कुलमें जन्म लेनेपर भी हरिकेशी मुनि उच्च गुणके धारणकरनेवाले मुनि थे, पुनश्च।

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाई विसेस कोई।
सोवागपुत्तं हरिएससाहुं, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥
(३७, उत्तराध्ययन १२)

"योगका महात्म्य आंखों आगे प्रत्यक्षमें दीख पड़ रहा है जिसमें जातिकी कोई आवश्यकता विशेष नहीं है। हरिकेशयोगी चाण्डाल जाति है। परन्तु इसके योग ऋद्धिके सामने सबकी आंखें चौंधिया गई हैं।"

परन्तु तामस वृत्तिवालोंसे योग साधना नहीं हो सकती। अतः योग पिपासु जिज्ञासुओंको घी, दूध, तेल, प्रासुक भोजन आदि सात्त्विक आहारका उपयोग करना चाहिये। यथा—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः,
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विक प्रियाः।
(गीता श्लोक १७, अध्याय ८)

रसयुक्त, चिकना, स्थिर, हृद्य आहार सात्विक जनोंको प्रिय है, क्योंकि इनसे आयुष्य, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिकी वृद्धि होती है।"

परन्तु अधिक मिरचें, अति तेल, अति खटाई आदि तामसी पदार्थोंका उपयोग कभी भी न करना चाहिये। इसके उपरान्त आवश्यकतासे अधिक न बोलकर अधिकांश मौन रहना चाहिये। निकम्मा वाग्व्यय करनेसे योगमें विकार आ जाता है। योग साधना करनेवाले महात्मा पुरुषके पाससे योगकी तालिका सीखकर उसकी साधना करनेके लिये एकान्त तथा पवित्र विजन प्रदेशमें जाना चाहिये। पहाड, पर्वत आदि एकान्तप्रदेशके अतिरिक्त अन्य किसी स्थानमें जैसी चाहिये वैसी अच्छी रीतिसे योगकी साधना नहीं कर सकता। इसीलिये प्राचीन कालके पुरुष अनेक पहाडोंमें जहां नाना सात्विक वनस्पति होनेसे तथा वहा अनेक महात्माओंके शुद्ध रजःकण होनेकी स्मृति रहनेसे, वातावरण भी एकान्त और पवित्र रहनेसे उस स्थलपर एकदम शान्त और अचपल मन हो जाता है। अतः वह स्थान उनका मनपसंद है। बडे राजमहल या धर्म स्थानमें जिस आनन्दका स्वप्नमें भी अनुभव न हुआ हो उस आनन्दका अनुभव कुलु और शिमले तथा हंस तीर्थके बर्फानी पहाडोंमें जानेसे होता है। अतः योगीको किसी ऐसे ही प्रकारका स्थान पसन्द करना चाहिये। यदि कारणवश इन स्थानोंपर न जा सके तो जहां तक अपनी ही बस्तीमें रहता हो उसके आसपास किसी रमणीक वनस्पतिवाले उपवनको चुनना चाहिये, और वहीं योगाभ्यास करना चाहिये। धूलपर बैठकर योगकी साधना नहीं की जा सकती बल्कि बैठनेके लिये आसनकी भी आवश्यकता है।

योगिओंके लिये दर्भासन अत्युत्तम है, और दर्भासनपर कम्बलासन बिछाना चाहिये। दर्भासन तथा कम्बलासनमें साधकके शरीरकी विद्युत्-शक्तिको टिकाये रखनेकी शक्ति बनी ही उत्तम है। इसीलिये सूतके कपडेपर योगी अपने योगाभ्यासकी साधना न करे।

भगवती आदि सूत्रोंमें भी कई स्थानोंपर दर्भासनका पाठ ही दिया गया है। यथा—

"दब्भसंथारगं संथरइत्ता।"

इसीकी पुष्टिके लिये उत्तराध्ययनमें केशी मुनि और गौतम गणधर जहां मिलते हैं वहां वे आगन्तुक मुनिका स्वागत "कुसा तणाणिय" दर्भोके आसनसे करते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि—जैन जातिमें भी आदानप्रदानके प्रसङ्गमें पहले सर्वत्र दर्भासनका ही रिवाज था।

दर्भासनके अभावमें कंबलासन बिछाना चाहिये। दर्भासनके ऊपर कंबलासन बिछाकर उसपर पद्मासनसे मन पसंद आसन लगा कर तथा स्थिर होकर पूर्व या उत्तरमें मुख करके बैठना चाहिये। सूत्रोंमें पद्मासन लगाकर पूर्वमें मुख करना बताया है।

"पुरत्थाभिमुहे' सपलियंकनिसण्णे"

पर्यंकासन या पद्मासनसे बैठकर पूर्वमें मुख रक्खे। पद्मासन लगाकर बायें हाथकी हथेलीपर दाहिना हाथ सीधा रखकर, कमर, गर्दन, मस्तकको एक पंक्तिमें रखकर बैठना चाहिये, और दाढ़ोंको हंसलीसे चार तसुके अन्तरपर रहने दे। इस आसनसे सवेरे, सांझ या मध्याह्नमें तथा रात्रिके पहले और पिछले पहरमें सतत अभ्यास करना चाहिये। एक पहर यदि आसनसे स्थिर होकर बैठ सके तब समझो कि आसनपर विजय प्राप्तकर ली गई है। आसनपर विजय पानेके बाद प्राण और शरीर तथा दृष्टिपर विजय पाना चाहिये। परन्तु आसनपर विजय पाये बिना योग सिद्ध नहीं हो सकता। इसके बिना आत्म साक्षात्कार अर्थात् सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः सतत प्रयास द्वारा गुरुगमसे पाई हुई युक्तिके अनुसार आसनपर जय पा लेना चाहिये। आसनके जयमें मन और नियमपर जीत प्राप्त करनी चाहिये।

आसनको जीतनेके पश्चात् साधकजन अनेक प्रकारकी क्रियाएं सीख सकता है। परन्तु आसनको जीतकर दृष्टिको जीतनेकी पूर्ण आवश्यकता है। दृष्टि जयका पहला लक्षण अंधकार न दीखना है। इससे मेषोन्मेष रहित दृष्टि हो जाती है। योग परिभाषामें इसे त्राटक कहा जाता है। सूत्रोंमें भी मेषोन्मेष रहित होनेके कई अगाध प्रमाण मिलते हैं।

दृष्टिको जीतनेकेलिये या त्राटकमुद्राको सिद्धकरनेकेलिये सवेरे और सांझमें साधकको यथेष्ट आसनपर बैठकर अपनेसे एक हाथके अन्तर पर किसी रुईकी गोलीको बनाकर रख देना चाहिये और उस तर्फ जितनी देरतक दृष्टि जमाये रहो। अमुक समयके अनन्तर आंखमें पानी आयगा। आंसू आनेपर त्राटक रोक देना चाहिये। चार या आठ दिन तक आंसुओंको पोंछते रहना चाहिये, और त्राटक आरंभ रखना चाहिये। प्रयास ऐसा करना चाहिये जिससे पलक बन्द न हो सके, और इस प्रकारसे शान्तिपूर्वक प्रति दिन वृद्धि रखना चाहिये। जब एक घड़ीसे अधिक पलकको अपलक कर

कई नवीन बातोंके अचरज साधकपुरुष स्वयं देखने लगेगा, और ज्यों ज्यों इससे भी अगाडी बढ़ेगा त्यों त्यों उस साधकको अलौकिक आनन्दकी अंश अंशमें प्राप्ति होगी। ज्यों ज्यों दृष्टिको जीतता जायगा त्यों त्यों उसका मन शांत होता जायगा और दृष्टिके जयमें मनका भी जय होता है। अधिकतर आंखकी भवोंपर दृष्टि रखना इसीलिये सूत्रोंमें भी बताया है।

"एग पोग्गलनिविट्ठदिट्ठि।" 'एक पुद्गलपर दृष्टिकी स्थापना करे।'

इस प्रकार ध्यानकी प्रकियाएँ महात्मा पुरुषोंके पास सीखनी चाहिये। जब एक घंटा तक दृष्टिविजयका अभ्यास हो जाय तदनन्तर साधकको चाहिये कि दिनके पहले भागमें किसी सुन्दर पहाड़के शिखरपर या वृक्षकी चोटीपर दृष्टि जमाना चाहिये। रात्रिमें चान्द या शुक्र तथा मंगल तारेपर नजरको जमाना चाहिये। यह प्रयास ज्यों ज्यों बढेगा त्यों त्यों प्रकृतिके प्रत्येक पदार्थकी ओर पवित्र प्रेम उत्पन्न होगा, और सृष्टिके प्रत्येक अशमें वीतरागताका प्रकटीकरण होगा। परन्तु यह प्रयास भी एक घंटा तक रखना चाहिये इसके अनन्तर सृष्टिके चाहे जिस भागपर दृष्टि डालोगे तब एकदम वह वहीं स्थिर हो जायगी, और शरीरके कोषलेमेंसे दुःख निकल कर भागेगा, इस कक्षापर पहुंचनेपर साधकको तुरन्त प्रभु नामका भावना नामक जाप परम प्रेम पूर्वक शुरू कर देना चाहिये। जापमें इच्छानुसार शब्दोच्चार या 'नमो अरिहंताणं' जपना चाहिये। परन्तु कुछ समयके पश्चात् नमो पद आपसे आप उड़ जायगा, और आत्मा अर्हन् प्रभुमें एकाकार हो जायगा। प्रति समय यथावसर पाकर हिलते, चलते, उठते, बैठते, सोते, जागते वह ध्यान दिमागसे न निकल सकेगा। सांझ, सवेरे, मध्यान्ह और रात्रिमें योगकी क्रियाका आरम्भ रखकर जाप जपते रहना आवश्यक है। एक ओरसे योग क्रिया द्वारा सद्भावनाकी दृढता और दूसरी ओरसे जाप, इन दो साधनोंके मिलनेसे मन एकदम शान्त हो जायगा। क्योंकि—"**मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो।**" मनरूपी घोडा साहसिक और भयंकर दुष्ट है। "**इन्दिय चवल तुरंगो**" इन्द्रियोंके घोडे अधिक बलवान् होते हैं, परन्तु इस प्रयाससे उनकी मस्ती निकल जाती है, और वे शान्तिमय हो जाते हैं। इस प्रकारके संयोगोंमें साधककी विवेक दृष्टिमें अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टि हो जायगी तथा साथ-साथ आनन्दकी वृद्धि भी। यह साधना सन्तोष जनक होनेपर साधकको अपने योगकी

मृत्युका भय नहीं हो सकता, और साधकके संशय शल्योंका नाश हो जाता है। इसीको समझनेके लिये कहा जाता है कि शंकरका तीसरा नेत्र उघड आता है। तब संशय शल्यरूप विश्वका प्रलय हो जाता है।

त्रिकुटीमें बिन्दु दर्शन होनेपर साधक ज्यों-ज्यों विशेष प्रयास करता है त्यों-त्यों वह बिन्दु विशेष प्रकाशित होने लगता है, और अन्तमें साधक उस बिन्दुमें इतना विलीन हो जाता है कि उस शान्तिमें उसे नादका अनुभव होने लगता है। तब बिन्दुकी अपेक्षा नादमें विशेष आनन्द आनेसे बिन्दु गौण होने लगजाता है, और नाद विशेषातिविशेष श्रवणगोचर होता है। नाद भी अनेक तरहका सुनाई पडने लगता है, और वह चक्की, सितार, सरंगी और नौबतखानेसे भी अधिक और उत्कृष्ट होता है। मेघकी गर्जनासे भी अधिक गर्जना सुनाई देने लगती है। अन्तमें दिव्य नादका अनुभव होनेपर साधक उस नादमें अत्यधिक लीन हो जाता है। इस ध्वनिका अनुभव इतना अधिक बढ जाता है कि साधककी हिलने, चलने, उठने, बैठने आदिकी क्रिया-ओंमें भी नादका अनुसन्धान रहा करता है। नादके अनुभवसे ही जगत्में संगीतका प्रचार योगी लोकोंने किया है। जिस प्रकार नाद साधकको प्रिय है उसी भांति जगत्कोभी संगीत प्रिय है। अतः संगीत (गुणगान) द्वारा मनको एकाग्र बनाकर साधकजन आगे बढ सकते हैं। वास्तवमें संगीत बाह्य नाद हो गया है, और इस बाह्य नाद द्वारा अभ्यन्तर नादको मिलाकर पाया जा सकता है। साधक जब नादमें और भी आगे बढता है, तब उसको नादका अनुभव जहां होता है वह भ्रमर गुफाके ऊपर शंकुके आकारकी एक पोली प्रतीत होगी, और उस पोलके शिखरपर एक महान् प्रकाशवाले पदार्थका अनुभव होगा। वह प्रकाशमान पदार्थ गोलाकार और उलटे छत्रके आकारकी तरहका ज्ञात पडेगा। यह छत्राकार सहस्र दल

लगता है। इस अवस्थामें वह साधक रूपसे मिटकर सिद्ध, योगी, विदेही, महात्मा जीवन्मुक्त कहलाता है। उस योगीकी दृष्टि देहसे अन्य स्थलपर जहां जहां जाती है वहां वहां वह अलौकिक दिव्य आनन्दका अनुभव करता है। जलस्थान, स्थलस्थान, राजस्थान, धनिकस्थान, पशुस्थान, आकाश स्थान आदि जिन जिन स्थानोंपर उस महात्माकी दृष्टि होती है वहां वहां वह आनन्दका ही अनुभव करता है। सब जगह अभेद रूपसे अलौकिक अनुभव करनेसे द्वैत भावकी भ्रांति न रहनेसे वह वीतराग कहलाता है। ऐसा योगी पुरुष ही कृतकृत्य और सिद्ध है। ऐसे योगीके दर्शन भी जगतको पावन करते हैं।

जिस प्रकार अभ्यन्तरवृत्ति द्वारा हम योगके सम्बन्धमें समझ सके हैं। उसी दृष्टिसे बाहरके भागमें नाभिके ऊपर स्थापन करनेमें आता है, और जब उस प्रयासमें नाभि और चक्षुके बीचमें एक चमकनेवाली तेजस्वी लकीर अखंड-रूपसे दीखने लगे तब नाभिसे दृष्टि हटाकर छातीके मध्य भागमें स्थापन करनी चाहिये, और वहां भी जब इसी भांति तेजस्वी लकीर भासने लगे तब नासिकाके अग्रमें स्थापन करे। नासाग्रसे त्रिकुटीमें, वहांसे भ्रमर गुफामें होते हुए अजरामर चक्ररूप सिद्धशिलामें और वहांसे स्वरूप-अनुभवमें पहुंचा जाता है।

इस अनुभव मार्गमें भक्ति है, वह एक महान् साधन है, भक्तिसे प्रेम प्रकट होता है, और प्रेमके द्वारा भी आत्माका साक्षात्कार हो सकता है। किसी शास्त्रके श्लोकपर विचार करते-करते गंभीर तहमें उतर जाता है, और उसके द्वारा भी आगे बढ़ सकता है।

एक ऐसी भी रीति है कि जिसमें पद्मासनसे बैठकर जो विचार आवें उनको तटस्थ बैठकर देखा करे, परन्तु विचारोंको अटकने न दे। अभ्यासके प्रबल प्रयत्नसे विचारधारा स्वयं ढीली पड़ने लग जाती है, और अन्तमें एकदम शान्त हो जाती है। विचारोंके शान्त होनेपर साधकको अलौकिक आनन्द होने लगता है। तब अखिल विश्वपर विशाल और उत्कट प्रेमकी दृष्टि हो जाती है। समान भाव तो सबमें रखने लगता है। अपने आपमें ईश्वर भाव उदय होने लगता है। ज्यों-ज्यों वह प्रयास बढ़ता है, त्यों-त्यों अन्तरमें आनन्दकी विशेष जागृति हो जायगी। इतना ही नहीं, बल्कि बाहर भी सब जगह आनन्दका ही अनुभव होने लगेगा। और अन्तमें वह पूर्ण आनन्दमय

बन जायगा। सब जगह ईश्वरभावको स्थापन करता हुआ अति प्रेममय बनकर, प्रेमकी दृष्टिसे निश्चय दिन रात अवलोकन करनेसे सहजानन्द प्रगट होता है, और वह वीतराग हो जाता है।

पहले कहे गये प्रमाणानुसार साधकोंके लिये थोडी सी प्रक्रियाएँ संक्षेपमें बताई गई हैं। इन्हें विचारकर तथा उसी प्रकार मनन करनेसे अवश्य अलभ्य लाभ होगा। तथा अपरिमित सामर्थ्य पा सकेगा। योगका विषय अत्यन्त विशाल और गहन है, और इसे गुरुगमकी साक्षी विना सीख भी नहीं सकता। हठयोग, मंत्रयोग, लययोग और राजयोग इस भांति योग चार प्रकारोंमें विभक्त है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योगके आठ अंग हैं, और इनमें प्रत्येकको उत्तरोत्तर एकसे एककी अपेक्षा है। प्राणायाम कई प्रकारोंसे हो सकता है, परन्तु उनमें पूरक, कुंभक और रेचक मुख्य हैं, भस्त्रिका आदि प्राणायाम भी उपयोगी हैं। प्राणायामको सहायता देनेके लिये नेति अर्थात् नाकमेंसे डोरा पिरोकर मुखद्वारसे निकालना; तथा धोती अर्थात् कपडेको पेटमें उतारकर मलका निकालना; नौली अर्थात् मलोंको घुमाकर फिराना, वस्ति यानी गुदासे मल साफ करना, तथा कपालभाति गजकरणी आदि हठयोगकी अनेक क्रियाएं होती हैं। इसी प्रकार खेचरीमुद्रा, महाबन्धमुद्रा, वज्रमुद्रा इत्यादि मुद्राएं गुरुगमके विना न कर सकनेके कारण प्राणायाम आदि की बातें फिर बताई जायँगी, क्योंकि ये वस्तुएं भी विशेष हेयरूप हैं। अतः उनको महात्मा पुरुषोंकी संगतिमें रहकर सीखना चाहिये। योगसे बढकर संसारमें कोई अन्य विद्या उत्तम नहीं है। जो पुरुष योगकी साधना करेंगे अन्तमें वे परमपदको पायेंगे, और कर्मोंसे मुक्त होंगे। अतः इनको कर्मबंधके चार प्रकार समझना चाहिये जिनके ये प्रभेद हैं।

कर्मबन्धके ४ प्रकार और दुःख सुख

इस समय अनेक मनुष्य नाना पाप करते देखे जाते हैं तथापि वे सुखी क्यों हैं?

उन्होंने पुण्यरूपी बीज बोये थे, इसीलिये आज वे उनके सुखरूप फलोंको खा रहे हैं, परन्तु इस समय अन्य जीवोंको दुःख देकर पापके बीज बोते हैं, इससे भविष्यमें इसके अनन्तर उनके फल उन्हें दुःखरूप होंगे। इस प्रकार जो मनुष्य सुखी होकर भी पापिष्ठ होता है वह मनुष्य

"पापानुबंधी पुण्यवान्" समझा जाता है। इसीलिये कि इस समय पूर्वपुण्यके कारण सुखी है और वर्तमान पापके कारण भविष्यमें दुःखी होगा।

कितनेक मनुष्य धर्मी होवे हैं, अच्छे कार्य करते हैं, पुण्य भी करते हैं, तथापि दुःखित क्यों है?

इसका कारण यह है कि पहले उन जीवोंने पाप किये थे, अतः वर्तमानमें दुःख भोगते हैं, इतनेपर भी शुभ कार्य करते हुए इस समय पुण्य बांध रहे हैं। अतः वे आगे सुखी होंगे। ऐसे मनुष्योंको शास्त्रमें **'पुण्यानुबंधी पापी'** कहा है। इसीलिये कि भूतकालके पापके कारण दुःख भोग रहे हैं, परन्तु वे वर्तमानके पुण्य कार्यके द्वारा भविष्यमें सुख भोगेंगे।

तब क्या वर्तमान कालमें कोई मनुष्य दुःखको भोगता हो और उसे भविष्यमें भी दुःख भोगना पड़े क्या ऐसा भी कोई नियम है?

हां हां क्यों नहीं, बहुतसे मनुष्य पूर्वके पापके कारण इस समय दुःखोंको भोगते हैं इतनेपर भी [illegible] समय अन्य जीवोंको दुःख देते हैं तो वे अगले जन्मोंमें भी दुःखी ही होंगे।

ऐसे मनुष्योंकी शास्त्रमें क्या संज्ञा बताई है?

वे **'पापानुबंधी पापी'** अर्थात् पूर्वजन्ममें पाप किया था उसका फल तो भोग रहे हैं, और इस समय पाप करते हैं अतएव उसका दुःखरूप फल भी भोगेंगे।

तब क्या यह भी हो सकता है कि इस समय सुखी हो और आगे भी सुखी ही रहे?

हां यह भी हो सकता है, भूतकालमें जिसने अन्य प्राणियोंको सुख देकर पुण्य बांधा है, वे अब सुखी हैं, और अब पुण्य बांधकर भविष्यमें भी सुखोंका ही उपभोग करेंगे।

ऐसे पुरुषको शास्त्रमें क्या कहा है?

इसे **'पुण्यानुबंधी पुण्यवान्'** कहा है, क्योंकि पहले पुण्य करनेसे अब सुखी है, और वर्तमानमें पुण्य करता है जिससे आगे भी सुख ही पावेगा।

सार—ये क्रमोंके चार प्रकारके अनुबंध होते हैं, अनुबंध का अर्थ यह बंध है जिसका फल आगे भोगा जाता है। अच्छा अनुबंध होनेपर

अगाडी सुखोंका उपभोग करेगा। अशुभ अनुबंध हो तो अगाडी दुःख भोगना पडेगा।

(१) 'पापानुबंधी पाप' इस समय दुःख और पीछे भी दुःख।
(२) 'पापानुबंधी पुण्य' इस समय सुख और पीछे दुःख।
(३) 'पुण्यानुबंधी पाप' इस समय दुःख और फिर सुख।
(४) 'पुण्यानुबंधी पुण्य' इस समय सुख और फिर भी सुख।

इस प्रकारके कर्मोंसे या तो दुःख मिलता है या सुख मिलता है, परन्तु मोक्षके अव्याबाध सुख जो कि कभी समाप्त नहीं होते, ऐसा आत्मिक सुख पानेके अर्थ शारीरिक सुखोंका भोग छोडना चाहिये। अर्थात् पाप पुण्यका क्षय करके आत्मस्वरूपमें रहना सीखिये, और किसी भी प्रकारका अनुबंध न बांधना चाहिये। यदि अनुबंध डालना हो तो पुण्यका ही बांधना चाहिये। पापका अनुबंध तो बिल्कुल ही न डालना चाहिये क्योंकि पुण्यके अनुबंधसे कुछ ऐसा बल प्राप्त करता है कि जिससे कर्मोंका क्षय भी कर सकता है।

॥ अथाऽऽलोचनापुष्पाञ्जली योगस्य पुष्टये ॥

वीतरागोऽसि विज्ञानमयो गुरुवरोऽसि त्वम्। गुणागारोऽसि देवेश! सदा भव्यावने रतः ॥ १ ॥ इत्थं ते स्मरणाखिलं, नरा यान्ति भवाम्बुधेः। पारं सुखेन श्रीवीर! नान्योपायोऽस्ति भूतले ॥ २ ॥ शुभाऽऽनन्दस्य केलिस्त्वं, गुणोत्तमगृहं जिन! सुरासुरनरैस्त्वं हि, सेव्योऽस्यवनिमण्डले ॥ ३ ॥ त्वदीये चरणाम्भोजे, मतिर्मे स्वादकामतः। सर्वोत्कृष्टोऽसि सर्वज्ञो, रक्ष संसार-सर्पतः ॥ ४ ॥ महोदधिः कृपासुदेरादर्शस्त्वं शुभस्य च। आधारस्याऽनवद्यस्य, संघदेर्दुःखभञ्जकः ॥ ५ ॥ नैयो लोकत्रयस्यैव, रत्नाकर! जयोऽस्तु ते। श्रीशो जिनवरोऽसि त्वं, कृपाकर! दयानिधे! ॥ ६ ॥ कर्मघ्नो जातसर्वज्ञ! विरतिर्मे त्वयि प्रभो! वीतरागमयोऽसि त्वं, दुर्बुद्धेर्मे निशामय! ॥ ७ ॥ विज्ञोऽसि हे प्रभो! देहि, वरं चाभयदं शुभम्। पित्रोरग्रे शिशुः स्पष्टं, नोचारयति किं? पुनः ॥ ८ ॥ मोदाय तस्य किं लीला, न भवेत्त्वं विचारय। हे मनः! स्वसुवृत्तं च, रीतिं चैव स्वकीयकीम् ॥ ९ ॥ नम्रो भूत्वा स्वयं प्रीतिं, विभो कुरु मुदाऽनिशम्। भवेऽस्मिन्नहं दुःखेन, मनसा दत्तवान्नु किम् ॥ १० ॥ दानं किञ्चित्सदाचारो, ज्ञानं नैव तपश्च मे। पवित्रं नो मनो मेऽलं, कथमाराधये विभुम् ॥ ११ ॥ अद्यापि वासनाहानिर्न जाता पुद्गलेषु च। भ्रमान्मे

भ्रमणं मिथ्या; संसाराब्धौ दयानिधे ! ॥ १२ ॥ क्रोधाग्निना प्रदग्धोऽहं, दिवारात्रि शुभाशुभे। लोभोरगेन सन्दष्टो, देहि मे ज्ञानभेषजम् ॥ १३ ॥ अभिमानग्रहग्रस्तश्चाज्ञानवशतो ह्यहम्। जायते न गुरो ! ज्ञानं, कपटावृतचेतसः ॥ १४ ॥ जगत्यत्र मया किञ्चिन्न कृतं परहितं विभो ! शोकसागरमग्नस्य, सुखं मे स्यात्कथं किल ॥ १५ ॥ मादृशस्य नरस्यात्र, जातं जन्म मुधैव च। मन्यतां पूर्णये सर्वज्ञैनदेव ! भवस्य च ॥ १६ ॥ दर्शनं च त्वया दत्तं, स्वगुणरसैव निर्मलम्। सुस्थिरो भवतामिते, मदीये जायते फलम् ॥ १७ ॥ आनन्दरससम्मग्ने, न भवेत्सत्त्ववर्तनम्। ममास्ति हृदयं वज्रसमं जानीहि सत्प्रिय ! ॥ १८ ॥ दुर्लभं च मया प्राप्तं, ज्ञानरत्नं दयाकर ! भ्रमणे बहुदिनाख्याते, न निवृत्तो भवो मम ॥ १९ ॥ नष्टं मे ज्ञानरत्नं च, सदाऽऽलस्यप्रभावतः। कस्यान्तिकमुपागम्य, रारटीमि मुहुर्मुहुः ॥ २० ॥ जगतो वञ्चनायैव, वैराग्यं विधृतं मया। हास्यमर्थे भवे जातं, धर्मोऽथं न लब्धवान् ॥ २१ ॥ मदीये रसनाग्रे च, विद्या वसति निर्मला। तथापि कलहो नित्यं, ज्ञानादिगुणनाशकः ॥ २२ ॥ तथापि निग्रहीनश्च, चातोऽहं येन मे रतिः। हास्ये प्रजल्पिते चैव, जायते च महाप्रभो ! ॥२३॥ भ्रमणोऽपीषवेऽप्यस्मिन्, सगवज्जीवो हि निस्तरः। अतोऽहं चाधमो लोके, सुखं त्वत्कं विचारय ॥ २४ ॥ सदाऽन्यान्दूषयित्वाऽहं, मन्ये स्वमुखनिर्मलम्। परदारान्विलोकयैवं, जाते नेत्रे च वैकल्ये ॥ २५ ॥ परनिन्दारतत्वेन, चित्तं मे मलिनं गुरो ! कस्मादितं भवेन्मेऽथ, न जातं विमलं मनः ॥ २६ ॥ गुप्ता वै डाकिनी चेष्टा, तथैको रविरोऽर्चकः। मत्प्रविज्ञा तदायत्ता, कदापि न च तिष्ठति ॥ २७ ॥ करोमि प्रकटं गुर्व्यं, लज्जां त्यक्त्वा गुरोऽधुना। त्वया तु ज्ञायते सर्वं, जगत्कसे दयानिधे ! ॥२८॥ गुरोर्वचनमलब्ध्वं, मया त्यक्तं च हे प्रभो ! तथा साध्वाचरणवचनं, मिथ्या पुष्पाहितं परम् ॥ २९ ॥ दुष्कर्मनिरतो नित्यं, दुस्सङ्गी च तथैव हि। मिथ्यात्वपङ्कसंलिप्तमधमं विद्धि मां गुरो ! ॥ ३० ॥ मते भ्रमो न मे नष्ट इति चेद् भिया गुरो ! त्वत्कं लब्ध्वा च त्वां देव ! निशिर्दं भवकष्टकम् ॥३१॥ अज्ञानजं च मे पापं, दृष्ट्वाऽज्ञानवशादहो ! हाहाकारस्तदा जातोऽनेनेति मयि नो सुखम् ॥३२॥ मृगाक्षीकुचद्वन्द्वे मे, ध्यानं चतुरहर्निशम्। यथा ध्यानं तथा लब्धं, न प्राप्तः श्रीजिनेश्वरः ॥ ३३ ॥ चन्द्राननं मनोहारि, दृष्ट्वाऽक्षिस्तुगमेधते। इति त्वयि परे लग्नं, मनो जातं क्वचिन्न मे ॥ ३४ ॥ सप्ततत्त्वस्य च सिद्धान्तविधि

श्रुत्वापि नो भयम् । संसारतारकं श्रुत्वा, ज्ञातं नो कारणं मया ॥ ३५ ॥ स्वान्तस्य मयि नो भासो, जातेय सुमनोरमः । गुणौघश्च मयि स्वामिन्! विमला नो रतेः कला ॥ ३६ ॥ प्रभुत्वं न च मे जातं, स्वप्नेऽपि दृश्यतां प्रभो! तथापि गर्वसर्वेशात्करिष्येऽहं कथं हितम् ॥ ३७ ॥ प्रतिक्षणमायुर्हसते, मनस्तापो न यात्यसौ । दुःखदा च जराऽवस्था, सम्पद्या विषयादरात् ॥ ३८ ॥ निवर्तते न चाद्यापि, हस्तावचरणागतः । मेषजेच्छा मदीयाऽस्ति, धर्मवृत्तौ न मे मतिः ॥ ३९ ॥ मोहरूपग्रहाविष्टो, न शिष्टः कोऽपि चाधुना । चैतन्येन समाविष्टो, लभते पदमव्ययम् ॥ ४० ॥ इत्याद्यमन्यमानोऽहं, गुरो! रक्षां मयि कुरु । तन्मुखे त्वं मदीये हि, स्थितो दैन्यवियोचकः ॥ ४१ ॥ तथापि दीनवाक्यानि, शृणोमि तव सन्निधौ । धिक्कारं मे दयागार! मुधा मे जननं भवे ॥ ४२ ॥ जिनसेवा कृता नैव, सविधिगुरुसेवनम् । तथा कर्म कृतं धर्मपालनं न क्वचित्कृतम् ॥ ४३ ॥ दत्तं नो दानमत्युग्रं, न चित्ते स्मरणं तव । केवलं त्वयि संलग्नो, यथायोग्यं निशामय ॥ ४४ ॥ नृदेहं दुर्लभं प्राप्य, तथाप्यश्च मया कृतः । यथैकाकी मरोऽरण्ये, रोरवीति मुधा तथा ॥ ४५ ॥ प्रत्यक्षफलदातृत्वादम्भे जैनं शुभं मतम् । तत्र जाता च नो प्रीतिर्मदीया दुःखनाशिनी ॥ ४६ ॥ महामौर्ख्यं च मे पश्य, यतो जातं भयं मुहुः । कल्पवृक्षं तथा कामधुग्धा प्राप्य द्वयं मया ॥ ४७ ॥ सहसा दुःखसमूहं च, सहमानेन नाशितम् । दुर्लभं जन्म प्राप्याद्य, न मया साधितं तपः ॥ ४८ ॥ रोगदुःखे निरुद्धे नो, दृष्टौ च सुखभोगकौ । इति मे ह्यपराधं च, क्षमस्व कृपया गुरो! ॥ ४९ ॥ अपमृत्युभयापत्तिनाशार्थं न कृतं क्वचित् । कान्ताजनसमासक्तो, धनादेः सङ्ग्रहः कृतः ॥ ५० ॥ कारागृहसमा नारी, नरकागारस्खलत्प्रदा । तन्नासक्षमवाक्षाहं, न जिनं ध्यातवान् पुनः ॥५१॥ नो साधितं च साधुत्वं, सद्वृत्तिर्नो धृता मया । अतुल्य नार्जिता कीर्तिर्न परेषु दया कृता ॥ ५२ ॥ परदुःखं प्रहाणेच्छ, तथा दीनजने दया । स्वप्नेऽपि नोपकारश्च, कृतं न गुरुसेवनम् ॥ ५३ ॥ रत्नकल्पं नृजन्मादिग्रामीणजनसेवया । नष्टं जातं मुधा विद्वन्! तद्रक्षस्वाधुना गुरो! ॥ ५४ ॥ वैराग्ये च समायाते, शास्त्रज्ञानं न जायते । कोपाविष्टं दुर्जनस्य, वाक्यं मा सोढुमर्हसि ॥ ५५ ॥ आध्यात्मिकी च विद्या नो, नास्त्युत्तमकलाऽपि च । कथं भवाब्धेः पारं च, गमिष्यामि सुबोधय ॥ ५६ ॥ भवान्तरे चोत्तमं कर्म, न कृतं किञ्चिदुत्तमम् । जन्मान्तरे करिष्यामि, नास्त्याशा मे गुरो! किल ॥ ५७ ॥ जिनदेवेदृशं चार्हे,

कष्टं न स्यात्कथं न हि । चोत्तमो यो भवारण्ये, मत्तः कोऽपि प्रभावतं ॥५८॥ चरित्रं चानेकविधं, कथं ज्ञेयं मयाऽनघ । मदीयमधमत्वं श्रुत्वं, न श्रुतं वै महा-प्रभो ! ॥ ५९ ॥ जगत्त्रयस्वरूपत्वं, प्रजानासि प्रभो ! ध्रुवम् । मार्गदर्शयिता त्वं हि, मनोऽभिप्रायविदया ॥ ६० ॥ त्वत्समो नास्ति हे नाथ ! परो दुःख-प्रणाशकः । दुरवस्थामहं प्राप्य, नो याचेऽन्यत्त्वमादपि ॥ ६१ ॥ अर्हन्योपा-स्यकं ज्ञानं, याचे त्वत्तो भवापहम् । शिवदो जगतामीश ! प्रार्थयेऽहं प्रयाचय ॥ ६२ ॥ शपंतु.स्वान्तरायं च, हर ! ज्ञानं प्रदीयताम् । चक्षोर्धिदिशके चिंत, धमुत्सवं सुप्रदुपे ॥ ६३ ॥ कलकत्ताऽभिधे रम्ये, मतिर्मे शुभगा भवेत् । यतो जगत्कलम्भोधे, पारे यास्यामि यत्नतः ॥ ६४ ॥ समितौ सज्जनानां च, चित्तस्थं प्रमोदतः । प्रकटं करोमि सर्वज्ञ ! येनाप्यालोचना भवेत् ॥ ६५ ॥ यथा चित्तप्रसादः स्यात्तथा कुरु महाभवे ! छन्दज्ञानं न मे चास्ति, तथा पिङ्गल-छन्दसाम् ॥ ६६ ॥ इंद्रवज्रो नरो यथ, न पठेद्वितवामयम् । वेदोष्ठेदेश्गणा-ङ्कैरब्दे, पत्सरे निर्मितं स्तियम् ॥ ६७ ॥ वीरस्तुतेरभ्यासस्य, दीक्ष च पुण्य-निधुना । रचिता चोत्तमत्वं, वीरप्रभस्य तुष्ये ॥ ६८ ॥ गुरुर्मदीयोऽस्ति फकीरचन्द्रो, ज्ञानं मया लब्धमिदं यतश्च । योधं च लब्ध्वा स्तुतिकियां करोमि, ततोऽ*मरत्वं च भवेत्स्फुटं मे ॥ ६९ ॥

इति श्रीमज्ज्ञातपुत्रमहावीरजैनसङ्घीयमुनिश्रीफकीर-
चन्द्रजिच्छिष्यपुष्पभिक्षुविरचिताऽपूर्वशान्तिवरा-
ऽऽलोचना पुष्पाञ्जली समाप्ता ।

भगवान् महावीरकी वैराग्य भावना.

हो शैदेजुल्म आज महावीर महावीर, इस्तम हो सबों पर दयेफरवीर महावीर । आलमके जिया हस्ती तनवीर महावीर, बदफदकी नू हस्ती तसवीर महावीर । आलमके लिए मर्जोंके सुर्दानवेदाफक, दुनियाकेलिए मतलए इसरारे हकीकत ॥ १ ॥ इक बार महावीर जुबां पर अगर आया, उस हाँथए रहमत पर फकत पाया । हर जीवेमजूरत या हुआ बरहे रापरसा, जुंगे अमत्र हस्ती हस्तो से हुआया । क्या नालया लिए नालये

---

* मोक्षमित्यर्थः ।

क़ुदरतकी झलक थी, क्या ज़ात थी जिस ज़ातमें फ़ितरतकी चमक थी ॥ २ ॥ महसूस हुआ जब इसे दरपेश सफ़र है, मंज़िल है कहीं राहमें गुमराही का का डर है। दुनिया जिसे कहते हैं वह इक सानए घर है, आराम कहां दर्दोमुसीबतका यह घर है। सोचा के यह क्या है के हूं खुद में भी इसी में, नाफ़हमी से माख़ज़ूं हूं राहते उल्वी में ॥ ३ ॥ जब गौर किया हस्तीए अशिया नज़र आई, दर असल अजब सैर सरापा नज़र आई। बचोंका घरोंदा सा यह दुनिया नज़र आई, मिट मिटके भी होती हुई पैदा नज़र आई। जौहरके अरज़का नहीं कुछ ठीक ठिकाना, गिरगटकी तरह रंग बदलता है ज़माना ॥ ४ ॥ बेसबाती (अनित्यता) हर रंगेजहां असलमें बिजलीकी चमक है, जो शक्ल हवेदा है वह धोखेकी लपक है। गुंचोंकी चटक है न वह फूलोंकी महक है, इक हस्तीएमोहूमकी यों ही सी झलक है। पल भरमें न वह शक्ल न वह शान न सूरत, था वहमे नज़र आंखने देखी थी जो मूरत ॥ ५ ॥ हर चीज़ के जिस चीज़पे होनेका गुमां हो, बेहरकतो बेजान हो या साहिबेजां हो। इक शक्ल हो तस्वीर हो हस्तीका निशां हो, कमज़ोर हो शहज़ोर हो बातामोतवां हो। वक्त आए तो फिर ज़ोर किसीका नहीं चलता, वह हुक्मेक़ज़ा है के जो टाले नहीं टलता ॥ ६ ॥ कहते हैं जवानी जिसे बचपनकी फ़ना है, पीरी जिसे कहते हैं जवानीकी क़ज़ा है। हर अहदमें [illegible] ज़रफ़ है हर ज़रफ़ जुदा है, इक ज़रफ़में सौ दर्द हैं हरदर्द सिवा हैं। फिर दर्द के राहत कोई क़ायम भी कहीं है, क्या है जिसे "है" कहिए के है भी तो नहीं है ॥ ७ ॥ बेपनाही (अशरणता) मादर पिदर व दुख़्तरो फ़र्ज़िन्दो बिरदार, याराने वफ़ादार रफ़ीक़ान दिलावर। औरंग कुलाहे महो खज़ाने जवाहर, इन्सानोंकी फौजें हों के देवोंका हो लश्कर। होनी कभी टलती नहीं आपहुंचे जब इंज़ाम, हर सुबहके दामनसे है वाबस्ता यहां शाम ॥ ८ ॥ कमज़ोर हो मज़बूत हो बाशानो असर हो, मुफ़लिस हो गदा हो कोई या साहिबेज़र हो। ज़ंगी हो फिरंगी हो कोई रश्के क़मर हो, हो खारेनज़र सबका के मंज़ूर नज़र हो। वक्त आया तो फिर नोए दिगर हो नहीं सकता, यमराजके पंजेसे मफ़र हो नहीं सकता ॥ ९ ॥ मरता है पिसर बापसे रोका नहीं जाता, मां रोती है दम बेटेका थामा नहीं जाता। मुंह तकते हैं सब पाससे बोला नहीं जाता, भाईसे भी भाईको बचाया नहीं

जाता। तदबीर किसी तरह किसीकी नहीं चलती, मौत ऐसी बला है के जो टाले नहीं टलती ॥ १० ॥ सदका कोई देता है के कुछ रद्देबला हो, पढ़ता है अमल कोई के तासीर हुआ हो। कहता है तबीबोंसे के कुछ ऐसी दवा हो, झूठा किसी सूरतसे कहीं हुक्मकज़ा हो। दोनों ही मगर कोई दुआ है न दवा है, जो होना है आख़िरको वही होके रहा है ॥ ११ ॥ फितरतका तक़ाज़ा है के होकर ही रहेगा, जो जिसने किया है उसे भोगेगा सहेगा। कुछ डर नहीं काफ़िर जो मुझे कोई कहेगा, जिस रुख़पे बहा जाता है दरिया वह बहेगा। हामी कोई बंदा है किसीका न ख़ुदा है, समझे है उसी फेलका जो जिसने किया है ॥ १२ ॥ **अज़तराबे दुनिया (संसारता)** इस पर भी तो दिल वक़्फ़े तमन्ना व तलब है, राहत जिसे कहते हैं मयस्सर ही वह कब है। इक आरज़ू सौ रंजो मुसीबतका सबब है, और हसरतें लाखों हैं फिर एक एक ग़ज़ब है। वह कौन है? जो शौक़का शैदा नहीं होता, किस दिलमें यहां ख़्वाहिशे बेजा नहीं होता ॥ १३ ॥ मुफ़लिसको अगर ग़म है के रोटी नहीं घरमें, ज़रदार है मुज़तर हविसे दौलतो ज़रमें। इक दर्दकी तस्वीर है इक ज़ौके सियरमें, राहत न इसे है न उसे आठ पहरमें। इक आंख तो फ़र्ज़न्दके अरमानमें नम है, औला-दकी कसरतसे कहीं नाकमें दम है ॥ १४ ॥ आराम समझता है कोई मालको ज़रको, कन्धे लिए फिरता है कोई दुख्तोपिसर को। रोता है कोई फुरक़ते मंज़ूरनज़रको, तामीर कराता है कोई गुम्बदोदरको। यह मेरा है मैं इसका हूं यह मान रहा है, दुख दर्दके सामानको सुख जान रहा है ॥ १५ ॥ दिल शौक़से रंजूर है और शौक फ़िज़ूं है, आंखोंमें जो नम है किसी अरमानका खूं है। राहत जिसे कहते हैं वह इक ख़्वाबे जुनूं है, हासिल है तमन्ना मगर फ़रवेतमन्ना से फ़ुज़ूं है। इक आरज़ू पूरी हुई सौ करगई पैदा, आराम किसी तरहसे मिलने नहीं पाता ॥ १६ ॥ **दुनिया और बहम हमदर्दी (अन्यत्वता)** हर आत्मा दुनियामें अकेली है अज़लसे, पाबंद तनाख़ुस है मगर बंद अमलसे। मर मरके कहीं छुटती है यह कैद हमलसे, इक कुदरती लड़ती हुई आती है अज़लसे। बीमारीमें आजिज़ रही दरमां तलबीसे, जब मरती है तो पाती है छुटकारा तबीबीसे ॥ १७ ॥ सब झूठे तालुक़ हैं ग़लत दावए उल्फ़त, कहनेकी मुहब्बत है दिखावेकी रिफ़ाक़त। बीमारी हो या

मौत हो या दौरे मुसीबत, मुमकिन ही नहीं उसमें किसी गैर की शरकत। मुंह तकते हैं हैरतसे मदद कर नहीं सकते, मां बाप भी बेटेके लिए मर नहीं सकते ॥१८॥ **अलेहदगी बेतअल्लुकी और तनहाई (एकत्वता)** ये महलोमकों हमने जो तामीर किए हैं, वह ऐशका सामान के दम जिसपे दिए हैं। वह लालो गुहर औरोंसे जो छीन लिए हैं, औलाद के जिसके लिए मर-मरके जिए हैं। हम जायेंगे ये साथ न जायेंगे हमारे, ये हमसे जुदा हैं यहीं रह जायेंगे सारे ॥१९॥ यह रूप यह रंग और यह नकशा ये खत व खाल, है नूरके सांचेमें ढला आइने तमसाल। गो रूहसे मखलूत नज़र आता है फ़िल-हाल, लेकिन है जुदा जानसे यह जानका जंजाल। यों आत्मा इस पैकरे-खाकी में बसा है, है आइनेमें अक्स मगर उससे जुदा है ॥ २० ॥ **नापाकी और गिलाज़त [अशुचिता]** यह पैकरेखाकी के हर इक जिसपे फिदा है, हर दायसको मंजूर नज़र जां से सिवा है। कुछ गोश्त है कुछ खून है बलगमसे भरा है, इक ज़रफ़े गिलाज़त है जो झिल्लीसे ढका है। बोल और निजासतके सिवा खाक नहीं है, नापाक है इतना के कभी पाक नहीं है ॥२१॥ मचाहूरे ज़माना हो जो हुस्ने नमकीं से, दिल छीन लिया करता है जो खंदे-हसी से। उसके हो कोई ज़ख्म कटे जिस्म कहीं से, फव्वारह छुटे पीपका और लहूका वहीं से। देखे न नज़र चाहनेवालोंकी पलटके, मक्खीके सिवा गैर कोई पास न फटके ॥ २२ ॥ **आमद-ज़रांते अमल [आस्रवता]** कर देवे हैं ज़रांते अमल रूहको नाचार, फल देके ही टलते हैं ये अगयार सितमगार। गो कर्म हैं दो किस्मके बदकारो निकोकार, होना ही मगर इनका है सद बाइसे आज़ार। इक इक ज़रूफ़ए रूहपे बैठे हैं हज़ारों, उठता है अगर एक तो आजाते हैं लाखों ॥ २३ ॥ जो टलता है वह खूब झलक अपनी दिखाके, गेज़ो गज़बो किब्रसे दीवाना बनाके। जज़बो कशिशे ज़ंगे अमल हदसे चढाके, खुद छोड़ता है लाखके फंदोंमें फँसाके। बंधती है योंही रूह इस आमदसे अमलकी, गर्दिश नहीं मिटती के यह है रोज़ अज़लकी ॥ २४ ॥ **सद्देबाब [संवरता]** अब जब कभी इस मोहका कुछ ज़ोर घटा हो, खुश तालईसे दुश्मनेजां ज़ेर हुआ हो। उस वक्त कोई रहबरे हक़ राहनुमा हो, तब रूहका कुछ होश ठिकाने हो बजा हो। जाने ही न दे ध्यानको गैरोंकी फ़िज़ामें, रोके रविशेइल्मको खुद उसकी ज़ियामें ॥ २५ ॥ **ज़रांते अमलका इखराज [निर्जरा]** काफूर बने कुछ हो मिटजाए अज़ालत, ताबां

हो नूरेइल्म बढ़े नूरेसदाकत । क़ाबू हों हवासोंपे हो दिल मदवेरियाज़त, गुप्ति सुमति शील हो सन्तोष हो आदत । यह बाइसे सरगश्तगी फिर आप ही टल जाएँ, ज़र्रोंसे अमल रूहके जुध्योंसे निकलजाएँ ॥ २६ ॥ आमद भी हके बंदे अमल छूटने लग जाए, फंदेसे खुलें दाम कुहन टूटने लगजाए । ये मोह की मदिराका घड़ा फूटने लगजाए, खुद आत्मा अपने ही मज़े लूटने लगजाए । फिर अपना तमाशा हो और अपनी ही नज़र हो, अग़ियारसे अग़ियारकी छोड़-बतसे दूर हो ॥ २७ ॥ आलिमे असबाब [संसार] यह जहां फ़ानी जिसे सब कहते हैं ससार, छःद्रव्य इकट्ठे हैं यह इक जावसद इसरार । फाइल कोई इनका न कोई मालिको सर्दार, पैदा कभी होते हैं न मिटते हैं ये ज़िन-हार । इनसे कभी कम और सिवा हो नहीं सकते, बनते हैं बिगड़ते हैं फ़ना हो नहीं सकते ॥ २८ ॥ पान्च इनमें हैं बेहोश तो इक साहिबे अदराक, पांच इनमें सभी एक मकां खाली वकग्रवाक । चार इनमें जुदा रहते हैं बेलौस सदा पाक, दो मिलते हैं आपसमें तो हो जाते हैं नापाक । इक मादह इक रूह जब हो जाते हैं मख़्लूत,, खोली न खुले ऐसी गिरह लगती है मज़बूत ॥ २९ ॥ पांच ऐसे के जिनकी कोई रंगत है न सूरत, एक ऐसा के हर हिसको है वह बाइसे लज़्ज़त । कहते हैं उसे मादह सब बहके बसीरत, जब रूहसे मिलता है तो यह होती है हालत । जां रूह तो वह जिस्म है और वह अमल है, जो ताइरे जां के लिए सय्याद अजल है ॥३०॥ वह आंख गुलअफ़्शां वह अबरू जो तनी है, वह शोख नज़र जो करे नावक फ़िगनी है । मंज़ूर गरज़ सबको जो नाज़ुकबदनी है, हर सूरतेदिलकश इन्हीं दोनोंसे बनी है । महजूब है इल्मो नज़रे रूह बज़लसे, महकी हुई फिरती है ग़रीब अपने अमलसे ॥३१॥ इन्सान भी हैवान भी और हूरो परी भी, यह नज़्म यह अख़्लाक़ यह घरकी भी तरी भी । गुलज़ार ये और कोहमें हर कान ज़री भी, जो इसके हैं सामने खोटी भी खरी भी, बेजान भी जीरूह भी अच्छे के बुरे हैं, जल्वे इन्हीं दो के हैं के आंखोंमें खुबे हैं ॥ ३२ ॥ यह असल है दुनिया की यह आलमकी हक़ीक़त, ख़राबोंमें है टोह जवाहरकी ज़रूरत, हां एक बहुत इसका बहुत इसकी है वुसअत, रूहोंके लिए है यही मैदान अज़ीयत । ये इसमें सदी आत्मा काबिल वजूदी से, आवारह व सरगश्ता है गद बेख़बरी से ॥ ३३ ॥ दूसरे इल्म सही की दुश्वारी [बोधि दुर्लभ] आंखोंसे कभी जीव दिखाया नहीं जाता, क्या आंख किसी दिलके नमूना नहीं आता ।

मैयक़को अदाकालमें लाया नहीं जाता, जुज़ कदफ़ज़मीरी उसे पाया नहीं जाता। इन्कार मगर रूहकी हस्तीसे खता है, हर शैको फ़क़त इल्मने मालूम किया है ॥ ३४ ॥ होशो खिरदो इल्म फ़क़त रूह की है ज़ात, जुज़ रूह किसी और को हासिल नहीं ये बात। छिपटी है अज़लसे जो उसे बंदकी आफ़ात, इनके ही सबब बहकी हुई फिरती है दिन रात। फिर भी सिफ़्ते ज़ात कभी जा नहीं सकती, वे होशको होश और खिरद आ नहीं सकती ॥ ३५ ॥ सब जड़ हैं मगर आत्मा है ज्ञानका भंडार, जो ज्ञान है और इल्म है चेतनका चमत्कार। खुद इल्म भीमालूम का वाहोशो खबरदार, उस ज़ातमें मुमकिन ही नहीं शरकते अग़ियार। पुद्गलने मगर ज्ञानको आवरण किया है, खुद भूलसे अपनी ये गिरफ़्तारे बला है ॥ ३६ ॥ इक बार अगर भूल कोई इसकी मिटादे, दाख़ आइनेमें इसकी कोई उसको दिखादे। खुद ज़ातका इसकी इसे दीदार करादे, यह बंद अमल काटसे फिर दममें उडादे। ज़ायिदनो मुरदनकी बला इक आनमें टलजाए, आज़ाद हो जू हरमकी बंदिशसे निकल जाए ॥ ३७ ॥ दुनिया है अजब चश्म फ़रेब आइना खाना, सौ बार यहां मिलके जुदा ऐसो खज़ाना। यार ऐसे वफ़ादार के बेमिस्लो यगाना, वह हुस्नके जिस हुस्नका मुश्ताक़ ज़माना। मिल जायें यह आसान है दुश्वार नहीं है, मुश्कल तो फ़क़त ज़ातका अपनी ही यक़ीं है ॥ ३८ ॥ **रूहानियत या सिफ़्ते ज़ाति [धर्म]** कहते हैं जिसे धर्म वह कुछ और नहीं है, बस ज़ातका अपनी ही फ़क़त इल्मोयक़ीं है। लारेब है इसमें न चुना और चुनी है, सच ऐसा के रोशन सिफ़्ते मेहरेमवी है। भटकी है जो आपेसे वही रूह है नाशाद, और मुहब्बते यकजाईसे है गैरकी बरबाद ॥ ३९ ॥ **परिणाम**—यह राज़की सूरत थी जो पाबन्द हुया थी, अब उठ गया पर्दा तो वही जल्वहनुमां थी। गो इल्म सरीहीकी अभी जू न ज़िया थी, लेकिन वरके दहरकी तफ़सीर सो था थी। देखा तो इन औराक़ पै यह साफ़ लिखा है, भूला है जो आपेको वह कर्मोंसे बंधा है ॥ ४० ॥ **भगवान् विचार**—भगवान् महावीर थे दर असल महावीर, मति-श्रुति-अवधिज्ञानकी थी रूहमें तनवीर। पढते ही यह समझे वरके दहरकी तहरीर, है मूल खुद अपनी सबब ज़िल्लतो तहक़ीर। सोचा के अब इस मोहको निर्मूल करूंगा, फिर चन्द न हो जिससे वह चारित्र धरूंगा ॥ ४१ ॥ मैं ज्ञान फ़क़त ज्ञानकी जू बनके रहूंगा, मैं होश हूं बेहोश का पाबंद न हूंगा। आज़ाद है फ़ितरत मेरी आज़ाद बनूंगा,

हूं पाक तो अब ग़ैरकी शरकतसे बचूंगा। वह ज़ात हूं रहता हूं मैं जो अपनी सफ़ा में, है अक्सफ़िगन चीज़ हर इक मेरी ज़िया में ॥ ४२ ॥ यह है ख़िफ़्ते ज़ात मिटाई नहीं जाती, पुद्गलसे किसी तरह दबाई नहीं जाती। जो ज़ंग लगे फिर भी सफ़ाई नहीं जाती, वह शान यह एजाज़नुमाई नहीं जाती। इस पर मिरी हस्तीमें है इक लुत्फ़ इक आनन्द, और ऐसा के जिसका कोई हमसर है न मानन्द ॥ ४३ ॥ थी भूल के था महवे तमाशाए जहां में, फिरता था तलाशो हविस ख़ामो ज़बां में। नादान था जो क़ैद था इस बंदेगिरां में, मफ़्लूज थी मसरूफ़ ही न था सदो ज़ियांमें। आया है जो अब होश तो बेहोश न हूंगा, चिद्रूप हूं चिद्रूप ही में मगन रहूंगा ॥ ४४ ॥ असबाबो तअल्लुक़ जो बज़ाहिर थे किए दूर। दिल शर्मसे मजबूर न जज़बातसे मामूर। था जामए उरियां ही लिबासे तने पुरनूर, जो रूप यथाजात था बस था वही मंज़ूर। कहने को तसव्वुर था अहिंसा थी दया थी, फ़िलअस्ल वह इक रूह थी और उसमें सिफ़ा थी ॥ ४५ ॥ वह ज़ोर जो था बादे मुख़ालिफ़का रुका था, तूफ़ान जो उठा था अज़ल से वो थमा था। लहरोंमें जो था शोर वह ख़ामोश हुआ था, उस ज्ञानके सागरमें क़रार आया हुआ था। साकिन जो हुआ आब तो आब आगई ऐसी, साफ़ उसमें झलकने लगी जो चीज़ थी जैसी ॥ ४६ ॥ यह इल्म ज़रीही था बस इक ज्ञान था केवल, सूरजसा निकल आया छुटा कर्मका बादल। हर सूक्ष्म-स्थूल हर इक आला व असफ़ल, थे उसमें अयां थी न था पर्दा कोई हायल। सर्वज्ञ इमादा हुए पता उनसे छुपा था, जो बातिने असबाब में था जान लिया था ॥ ४७ ॥ गुप्त लहजा सदा एक तने पाकसे निकली, थी रूहकी आवाज़ मगर ख़ाकसे निकली। यह ख़ाक भी बेहतर कहीं अफ़्लाकसे निकली, मसजूद जौहर सााहिबे अदराकसे निकली। सिजदह उसे इन्सान भी करते थे मुल्क भी, फ़ितरतकी ज़िया थी वह हक़ीक़तकी झलक थी ॥ ४८ ॥ रूहोंका इधर पुण्य वचनका था उधर शोर, सिरनेकनी अब वर्षना मुनवेलको सन शोर। हर सम्त अयां होगया आने लगा सन्तोष, सिजदेमें झुके जिसो बशर दोश सारे दोष। हां मेरे महावीर इस आवाज़के सदक़े, इस वाक़्यके मायल हूं इन अंदाज़के सदक़े ॥ ४९ ॥

- (फ़क़ीर मायल).

मङ्गलाचरणम् ।

सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम् ॥ १ ॥

रत्नत्रयपुरस्काराः, पञ्चापि परमेष्ठिनः ।
भव्यरत्नाकरानन्दं, कुर्वन्तु भुवनेन्दवः ॥ २ ॥

[अर्हन् परमेष्ठी] ॐ निखिलभुवनपतिविहितनिरतिशयसपर्य्यापरम्परस्य, परानपेक्ष्यापर्य्यायमवृत्तसमस्तार्थावलोकलोचनकेवलज्ञानसाम्राज्यलाञ्छनपञ्चमहाकल्याणाष्टकमहाप्रातिहार्य्यचतुस्त्रिंशदतिशयविराजितस्य, षोडशार्धलक्षणसहस्रांकितदिव्यदेहमाहात्म्यस्य, द्वादशगुणप्रमुखमहामुनिमनःप्रणिधानसंनिधीयमानपरमेश्वरपरमसर्वज्ञादिनामसहस्रस्य, विरहितारिरजोरहःकुहकभावस्य, समवसरणसरोऽवतीर्णजगत्त्रयपुण्डरीकखण्डमार्तण्डमण्डलस्य, दुष्पाराजवंजवीभावजलनिमज्जज्जन्तुजातहस्तावलम्बपरमागमस्य, भक्तिभरविनतविष्टपत्रयीपालमौलिमणिप्रभाभोगनभोविजृम्भमाणचरणनक्षत्रनिकुरुम्बस्य, सरस्वतीवरप्रसादचिन्तामणेर्लक्ष्मीलतानिकेतकल्पानोकहस्य, कीर्तिपोतिकामवर्धनिकामध्ये नीरवीचिपरिचयखलीकारकारणाभिधानपात्रमन्त्रप्रभावस्य, सौभाग्यसौरभसंपादनपारिजातप्रसवस्तवकस्य, सौरूप्योत्पत्तिमणिमकरिकाघटनविकटाकारस्य, रत्नत्रयपुरःसरस्य, भगवतोऽर्हत्परमेष्ठिनो भूयो भूयः स्मृतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

नरोरगसुराम्भोजविरोचनरुचिश्रियम् ।
आरोग्याय जिनाधीशं, करोम्यर्चनगोचरम् ॥ १ ॥

[सिद्धपरमेष्ठी] * सहचरसमीचीनचार्वीत्रयविचारगोचरोचितहिताहितप्रविभागस्य, अत एव परनिरपेक्षतया स्वयंभुवः सलिलान्मुक्ताफलमिव उपलादिव च कांचनमदेवात्मनः कारणविशेषोपसर्पणवशादाविर्भूतमखिलबलविलयलब्धात्मस्वभावमसमसहायक्रममवधीरितान्यसंनिधिव्यवधानमनवधिमयत्नसाध्यमवसितातिशयसीमानमात्मस्वरूपैकनिबन्धनमन्तःप्रकाशमध्यासितवन्तमनन्तदर्शनवैशद्यविशेषसाक्षात्कृतसकलवस्तुसर्वस्वमनवसानसुखस्रोतसमपर्यन्तवीर्यमचाक्षुषसूक्ष्मावभासमसदृशाभिनिवेशावगाहमलघुव्यपदेशमपगतबाधापराकारसंक्रमगतिविशुद्धस्वभावतया, निवृत्ताशेषशरीरव्यापारतया च, मनाग्भुक्तपूर्वापरसान्तरमरूपरसगन्धशब्दस्पर्शमशेषभुवनाशिरःशेखरायमाणपदविध्वंसमुपशान्तसकलसंसारदोषप्रसरं, परमात्मानमुपेयुषो गुरुणापि प्रतिपन्नगुरुभावस्य रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्तुतिं करोमीति स्वाहा, अपि च—

अष्टकर्म्मविनिर्मुक्तान्मूलकर्म्मविवर्जितान् ।
यत्नतः संस्तुवे सिद्धान्, रत्नत्रयमहीयसः ॥ २ ॥

[आचार्यपरमेष्ठी] * पूज्यतमस्य अदिगेतोतदिगुरुवर्शलगुरुपरम्परोपावसमधीतिश्चरहस्यसारस्य, अध्ययनाध्यायविनियोगविनयनियमोपनयनादिक्रियाकाण्डनिष्णातचित्तस्य चातुर्वर्ण्यसंघसंवर्धनाधुरंधरस्य, द्विविधात्मधर्मावबोधनाविधूतैहिकत्वपेक्षासम्बन्धस्य, सकलवर्णाश्रमसमयसमाचारविचारोचितवचनप्रपञ्चमरीचिविदलितनिखिलजनतारविन्दनीमिथ्यात्वमोहान्धकारपटलस्य ज्ञानतपःप्रभावप्रकाशितजिनशासनस्य शिष्यसम्प्रदानोपमिव भुवनमुदर्द्धुमुपगतस्य भगवतो रत्नत्रयस्य पुरःसरस्याचार्यपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्तुतिं करोमीति स्वाहा। अपि च—

विचार्य सर्वमैतिह्यमाचार्य्यकमुपेयुषः ।
आचार्य्यवर्य्यानर्चामि, सञ्चार्य्य हृदयाम्बुजे ॥ १ ॥

[उपाध्यायपरमेष्ठी] ॐ श्रीमद्भगवदर्हद्वदनारविन्दविनिर्गतद्वादशांगचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णविस्तीर्णश्रुतपारावारपारङ्गमस्य, अपारसम्परायारण्यविनिर्गमानुपसर्गमार्गणनिरतविनेयजनशरण्यस्य दुरन्तैकान्तवादमदमषीमलिम्लिपरवादिकरिकण्ठीरवोत्कण्ठकण्ठरवायमाणप्रमाणनयनिक्षेपानुयोगवाग्व्यतिकरस्य, श्रवणग्रहणावगाहनावधारणप्रयोगवाग्मिस्वकवित्वगमिकशक्तिविस्मापितचित्तनरनिलिम्पाम्बरचरचक्रवर्तिसीमन्तमीतपर्य्यस्तोत्संसत्सत्सौरभाधिवासितपादपीठोपकण्ठस्य प्रतविधानवद्धदयस्य भगवतो रत्नत्रयपुरःसरस्य उपाध्यायपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्तुतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

अपास्तैकान्तवादीन्द्रानपरागमपारगान् ।
उपाध्यायानुपासेहमुपायाय श्रुताश्रये ॥ १ ॥

[सर्वसाधुपरमेष्ठी] ॐ विदितवेदितव्यस्य बाह्याभ्यन्तराचरणकरणत्रयविशुद्धित्रिपथगापगाप्रवाहनिर्मूलितमनोजकुञ्जकुम्भाडम्बरस्य अमराम्बरचरनितम्बिनीकदम्बनदमादुर्मूलमदनमदमकरन्दद्दुर्दिनविनोदारविन्दचन्द्रायमाणोदितोदितव्रतव्रातापहसितार्वाचीयकामनचरित्रच्युतविरश्चिविरोचनादिवैतालसरसस्य, अनेकत्रस्त्रिभुवनक्षोभविधायिभिर्मनोगोचरातिचरैराश्चर्य्यप्रभावभूमिभिरनवधारितविधानैस्तैस्तैर्मूलोत्तरगुणग्रामणीभिस्तपःप्रारम्भैः सकलैहिके सुखसाम्राज्यवरप्रदानावहितायातावधीरितत्रिस्त्रितोपनतवनदेवताल्कालिकुलविलुप्यमानचरणसरसिरुहपरागस्य निर्वाणपथनिष्ठितात्मनो रत्नत्रयस्य पुरःसरस्य भगवतो लोके सर्वसाधुपरमेष्ठिनो भूयो भूयः स्तुतिं करोमीति स्वाहा । अपि च—

बोधापगाप्रवाहेण, विध्यातानगवह्नयः।
विध्याराध्यांघ्रयः सन्तु, साध्यबोधाय साधवः ॥ १ ॥

[सम्यग्दर्शनम्] ॐ जिनजिनागमजिनधर्मजिनोक्तजीवादितत्त्वावधारणद्वयविजृम्भितनिरतिशयाभिनिवेशाभिमानासु, प्रकाशितशंकाकांक्ष्यावह्लादनकुमतार्तिशल्योद्धारासु, प्रशमसंवेगानुकम्पाऽऽस्तिक्यस्तंभसंभृतासु, स्थितिकरणोपगूहनवात्सल्यप्रभावनोपचारितोत्सवसमर्थ्यासु, अनेकत्रिदशविशेषनिर्मापितभूमिकासु, सुकृतचेतःप्रासादपरम्परासु कृतक्रीडाविहारमपि च, यन्निसर्गोन्महामुनिमनःपयोधिपरिचितमशेषभरतैरावतविदेहवर्षधरचक्रवर्तिचूडामणिकुलदेवतं, अमरेश्वरनतिदेवतावतंसकल्पवल्लीपल्लवं, अधरचरलोकहृदयैकमण्डनं, अपवर्गपुरप्रवेशागण्यपण्यालमसात्करणसत्यंकारं, अनुल्लङ्घ्यदुर्नयघटादुर्दिनेष्वपि जन्तुषु, ज्योतिर्लोकादिगतिगर्तपातनमकाण्डभेदनमामनन्ति मनीषिणस्तस्य संसारपादपोच्छेदप्रथमकारणस्य सकलमंगलविधायिनः मञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यग्दर्शनरत्नस्य पुनः पुनः शुद्धिं करोमीति स्वाहा। अपि च—

मुक्तिलक्ष्मीलतामूलं, युक्तिश्रीवल्लरीवनम्।
भक्तितोऽर्हामि सम्यक्त्वं, शुक्तिचिन्तामणिप्रदम् ॥१॥

[सम्यग्ज्ञानरत्नम्] ॐ यन्निखिलभुवनतत्त्वार्थलोचनं, आत्महिताहितविवेकयाथात्म्यावबोधसमासादितसमीचीनभावं, अधिगमसम्यक्त्वरत्नोत्पत्तिस्थानं, अखिलास्वपि दशासु क्षेत्रज्ञस्वभावसाम्राज्यपरमलाञ्छनं, अपि च यस्मिन्निदानीमपि नदीस्नातचेतोभिः सम्यगुपाहितोपयोगसमार्जने द्युमणिमणिदर्पण इव साक्षाद्भवन्ति ते ते भाविकसम्प्रत्ययाः स्वभावक्षेत्रसमयविप्रकर्षिणोऽपि भावास्तस्यात्मलाभनिबन्धभय-

हेतुविहितविचित्रपरिणतिभिः, मतिश्रुतावधिमनःपर्य्यायकेवलैः पञ्चतयीमवस्थामवगाहमानस्य सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरसरस्य भगवतः सम्यग्ज्ञानरत्नस्य पौनःपुन्येनादरणं करोमीति स्वाहा। अपि च—

नेत्रं हिताहितालोके, सूत्रं धीसौधसाधने ।
पात्रं पूजाविधेः कुर्वे, क्षेत्रं लक्ष्म्याः समागमे ॥ १ ॥

[सम्यक्चारित्रम्] ॐ यत्सकललोकालोकावलोकनप्रतिबन्धकान्धकारविध्वंसनं, अनवद्यविद्यामन्दाकिनीधरं, अशेषसत्वोत्सवानन्दचन्द्रोदयं, अखिलव्रतगुप्तिसमितिलतारामपुष्पाकरसमयं, अनल्पफलप्रदायितरुःकल्पद्रुमप्रसवभूमिमसयोपशमसौमनस्यवृत्तिधैर्य्यप्रधानैरनुष्ठीयमानमुशन्ति सद्धीमनाः परमपदप्रासेः प्रथममिव सोपानं, तस्य पञ्चतयात्मनः सर्वक्रियोपशमानिशपावनस्य, सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यक्चरित्ररत्नस्य सम्यगवधारणं करोमीति स्वाहा । अपि च—

धर्मयोगिनरेन्द्रस्य, कर्मवैरिजयार्जने ।
शर्म्मकृत्सर्वतत्वानां, धर्म्मधीर्वृत्तयाश्रये ॥ १ ॥
जिनसिद्धसूरिदेशकसाधुश्रद्धानबोधरत्नानाम् ।
कृत्वाष्टतयीं स्मृतिं विदधामि ततः स्तवं युक्त्या ॥ २ ॥

अथ भमाक्रन्दनकाव्यम् ।

श्रीमद्वन्द्यपदारविन्दयुगलो ध्यानैकवेद्योऽस्ति यो, व्याप्तं येन चराचरात्मकमिदं क्षीरं यथा सर्पिषा । यद्भासा तरणिर्विभाति दहनश्चेन्दुर्निशान्धापहस्तं वन्दे मनसा गिरा च शिरसा जैनेज्यमीशं जिनम्

॥ १ ॥ संसारोरगवैनतेयसदृशो विज्ञानकोशालयः, कल्पद्रुर्हि जिनाट-
नेष्व हुतभुग् ज्वालाजटालाकृतः । बीजं धर्मतरोश्च विश्वजलधौ पोतो-
ऽस्ति यस्सेविनां, ध्येयस्तं मुनयो भजन्तु नितरामानन्दकन्दालयम्
॥ २ ॥ पञ्चक्लेशनिरासवासरमणिर्विज्ञानवाराम्बुधिर्भव्याभीष्टशतप्रपूरण-
विधौ चैतन्यचिन्तामणिः । सज्जैनेप्सितसाधुभक्तिनलिनीव्याङ्कुरहेतू-
दयः, सोऽस्माकं कुलत्यात्कपायशमनं श्रीमाँजिनेन्द्रः प्रभुः ॥ ३ ॥
जैना भिक्षुवराः ! पिताऽस्ति परमोऽस्माकं हि वीरो जिनो, यो दीपो-
त्सवसंज्ञके शुभदिने निर्वाणतामाप्तवान् । सोऽन्ते नो निगमागमादि-
जनितज्ञानात्मके चक्षुषी, प्रादात्संयमिनो विधाय सुखदं ध्यायन्त्व-
तस्तं विभुम् ॥ ४ ॥ धर्मज्ञानचरित्रसंयमतपोयोगाग्र्यभागानदात्, यो
नो जैनमतावरोधनकरप्रध्वंसनार्थं विभुः । हित्वा बौद्ध वयं भवाब्धि-
पतिताः किञ्चिन्न कर्तुं क्षमास्तस्मादुक्तविधौ समाहितधियो यत्नं च
कुर्मो मुहुः ॥ ५ ॥ मायाजालमपास्य चात्मनि मनस्संधीयते योगिभि-
र्योगाभ्यासतपोऽपरिग्रहवलात्तत्सङ्गतेः संवरात् । ते विभा जिनपाद-
पद्मरजसः सेवानुरक्तस्य च, तस्मात्तान् परिहृत्य चैक्यकरणे चेतस्स-
मापीयताम् ॥ ६ ॥ चक्रे द्वादशधा तपोवल्लमदो दत्वा तपस्यान्वि-
तान्, द्वारा गुप्तधिया विवेकपटवो जाता विरक्ता यतः । शीलादे-
र्निलयाश्च चेतनगुणैरात्मीयभावाश्रयास्तस्मात्कालविचारणे मुनिवरा
यष्टाङ्गसिद्धिमदम् ॥ ७ ॥ स्याद्वादो विदुषां हिताय गदितोऽनेकान्त-
वादस्तथा, सिद्धान्तप्रतिपादनं मतभिदां येनाक्षयं जायते । सर्वं तत्र
विहाय मोहजलधौ मग्ना वयं दुस्तरे, रागद्वेषतरङ्गाकुले च प्लवको मध्यं
जुष्टो नो भवेत् ॥ ८ ॥ मायानिर्मितलोकसारविषये वैराग्यमेवाश्रयं,

---

१ भिक्षाऽमतक्षायप्रमरावन्नभयोप्यक्षवादवः ।

दत्वा नश्च महाव्रतादिनियमानष्टप्रवाक्यांस्तथा । संसारे जिनदेवधर्मतरणिं प्रादादथो संयमान्, तं साधुं सुखसागरं प्रतिपदं ध्यायन्त्वतिमेमतः ॥ ९ ॥ अहिंसा तथा सत्यमस्तेयमाहुर्मंहद्ब्रह्मचर्यं सुनिर्वाणहेतुम् । यतस्तत्वबोधस्समुत्पद्यते च, ह्यतो रक्षणीयाश्च ते भिक्षुवर्यैः ॥ १० ॥ यस्यामोघात्मशक्तिं प्रबलगुणगणैर्नो प्रवक्तुं समर्था, नास्माकं [साधुबोधस्तदनु च कथने तत्स्वरूपस्य तत्वम् । तस्य ज्योतिःप्रवाहं प्रबलगुणकरं वक्तुमीशाः कथंचित्रो वा धाताप्यशक्तौ मतिरपि सुतरां नेदृशी तादृशी च ॥ ११ ॥ श्रामण्यप्रतिपालनाय सुधिया जातावतारा वयं, कामक्रोधविमोहलोभममतामानावरोधाशयाः । चेतः संघपदारविन्दयुगले जितेन्द्रियमामकं, संसारानृतभोगरोगशमने विचीमये धार्य्यताम् ॥ १२ ॥ कामक्रोधविमर्दनेन च पुनर्लोभः समुत्पद्यते, तस्मान्मोहसमुद्भवः स्मृतिहरो विज्ञाननाशस्ततः । पश्चाद्धर्म्मविपर्य्ययोऽनृतमयी भोगैषणा जायते, इत्थं दुःखमये विचित्रविषये जीवोऽनिशं बध्यते ॥ १३ ॥ आदाविन्द्रियनिग्रहे च विषया नश्यन्त्यनायासतः, काये चारुपरिमहादिशमने ज्ञानोदयो भासते । पश्चात्कर्मसमुच्चयप्रणशनं धर्म्मे प्रवृत्तिः स्थिरा, तस्मादिन्द्रियसंयमे हि मुनिभिश्चैतः प्रदेयं सदा ॥ १४ ॥ तच्छ्क्तेरात्मयोगात्सकलगुणमयः स्यात्प्रतापोदयश्च, तस्यामे चोत्थितायाः प्रचलति नितरां वर्द्धमानाः समस्ताः । जाते शीले महत्वे सकलगुणविधेः सुप्रवाहं नियुज्य, वीर्य्यं चान्तेऽवरोधं त्वत्मतिविमलं नो मनः शान्तिमत्वम् ॥ १५ ॥ चित्तं मे विमलायतं जिनवरे लग्नं गुरोर्भावनात्, सेवाभावबलं च संयमबलं प्रोत्कृष्टममेऽकरोत् । रक्ष्यं

१ समितिगुप्तिरूपान् । २ साधुसाध्वीश्रावकश्राविकामयः सघः । ३ श्रुतमये ।

संघबलं प्रतापसहितं कार्यं सुवाक्यार्चनमीर्षाशून्यबलं विघातकबलं[1] तत्वात्मकं धार्यताम् ॥ १६ ॥ धैर्य्येण क्षमया विभान्ति मुनयः कज्जै-र्यथाम्बुवाशयाः, सत्यासत्यविमर्शनेन विषयासक्तं मनः शाम्यति । तच्छान्तेः सकलेन्द्रियाणि विषमाच्छाम्यन्त्यसद्भावनात्, साक्षात्कारतरं भवेद्धृदि पुना रूपं परस्यात्मनः ॥ १७ ॥ हस्त्याहस्त्यभिदापवारणकरे लोलायुपश्चेतसा, सौत्रैः[2] सञ्चारितामृतादिविलसच्छास्त्राश्रये स्थीयताम् । चार्वाचारविचारसारपटवो येनाखिलाऽमीष्टदा, तस्मिन् ज्ञानमये जगत्य-नुदिनं सत्संयमैरन्विताः ॥ १८ ॥ रुद्धं सर्वमनर्थकं भगवता हिंसाबलं नर्कदं, साधूनां भवकारिनाशनकरं साध्वीगणानां तथा । तीव्रं भावक-षायकादिशमनं तत्वानुरूपं महत्तीर्थं स्थापितवान् स्वनामविजितं सार्थ-क्यमेवं कृतम् ॥ १९ ॥ तत्कालीनगुणानुरूपमभिधां थोधात्मिकीं नूतनां, संघे सस्थितिमेकतां सुमधुरां कृत्वा स्वधर्म्मार्थिने । योग्यत्वं समये विधाय हृदये जाता यतो योगिनः, सूत्रोक्ते वचने कुरुध्वम-निशं विश्वासमेवं मुहुः ॥ २० ॥ येनोद्धातबलं च हिंसकबलं पूर्णा-त्मना सम्मुखो, भूत्वा नष्टतरं कृतं सुमनसा रुद्धं च मिथ्याबलम् । शुद्धश्रावकश्राविकागणमयं संस्थाप्य तीर्थं शुभं, श्रीतीर्थङ्करनाम स्वं सुललितं सार्थक्यमेवाकरोत् ॥ २१ ॥ तत्काले जनता स्वधर्मनिरता सङ्घे सदा सम्मता, मावैक्यस्य रसस्य पानमसकृद्धत्पायिते प्रेमतः । आज्ञा विश्वहिता सुबोधजननी संस्थापिताऽमानदा, धैर्य्यं शौर्य्यमथा-वलम्ब्य सुखदं प्रद्योतितं नो मुदे ॥ २२ ॥ धैर्य्यादेर्वलधारणं च विषयासक्तेन्द्रियाणां गणं, रुद्ध्वा योगतपोऽसिना च जगतो जन्यं महा-नर्थदम् । दुःखापायकरे तमोऽपहरणे ज्ञाने मनो दीयतां, स्याच्चित्तं

---

१ विगतं घातं यस्मात् । २ सूत्रस्य भावाः सौत्राः ।

सकलेन्द्रियैः सह ततः शान्तं प्रयासं विना ॥ २३ ॥ पश्चाच्छान्तिगतं मनो न विषये लग्नं कदाचिद्भवेत्पूर्वाचार्य्यवरैः सुसंयमरतैरित्येवमुक्तं पुरा । साधूनां जगदन्तरायशमने मोक्षाशये साधनं, हित्वाऽशान्तिकरान् समस्तविषयांश्चेतो गिरौ स्थाप्यताम् ॥ २४ ॥ कामिन्याः कनकात्कषायविषयाचे साधवो बिभ्यति, जीवात्राणकरादसत्यवचनाद्दुष्ट्वानकृष्णोरगात् । स्वाद्वत्राशनतः परिग्रहरताचे भव्यभावाशया, लोके भव्यजनानवन्ति सततं सद्बोधतत्त्वामृतैः ॥ २५ ॥ तेजस्तस्य प्रकाशतां गतमदो भव्याशयानां हृदि, काण्डं भीषणवत्त्वमत्र गहनं संस्थापितं संयमे । जैनाचार्य्यवरैः परस्परमथो संस्थाप्य चैक्यं बलं, संयुक्ताखिलशक्त्यमोघसहिता संघादिविद्युत्प्रभा ॥ २६ ॥ विद्युच्छक्तिरिवारविन्दहृदये प्रोद्भासिता येन नः, सद्धे शक्तिमदोचयोऽतिक्षपया जाता यतश्चैकता । तां विस्मृत्य च मोहमानममवाक्रान्ता वयं दुःखिनस्तामुद्भावयितुं मुहुर्यतिवरा यत्ने मनो धीयताम् ॥ २७ ॥ पूर्वाचार्यगणैः परस्परमदश्चैक्यं सुसंस्थापितं, शक्त्यानन्तप्रवाहसङ्गतडितः शक्तिः समुत्पादिता । वीरं शासनमेव निम्नपतितं येनोद्धृतं शान्तितः, एतावन्नहि किन्तु शासनवरं संवर्द्धितं न्यायतः ॥ २८ ॥ योगासक्तधियो जिनेन्द्रमृदुलाम्भोजाङ्घ्रिसेवारता, मिथ्यात्वादिनिरस्तसर्वविषयाः कारुण्यवन्तो दयाम् । धृत्वा चेतसि वो निधाय च गुरोर्निर्द्वन्द्वपादाम्बुजं, व्याख्यातायं निबन्धरूपममलं ह्याक्रन्दनाख्यं मुवे ॥ २९ ॥ ॥ इति प्रस्तावना ॥ अथाऽनयमपेक्षते च महती हानिः समाजस्य च, भाग्यान्मन्दमयादुतावरयुगायच्छासनास्यं बलम् । क्षीणत्वं प्रतिपद्यतेऽनुदिवसं न ज्ञायते कारणं, द्वन्द्वारम्भविधौ च कष्टमधिकं संवर्धते हानिकृत् ॥ ३० ॥ ईर्षाकारणतो न कोऽपि कमपि ब्रूते न सम्मन्यते, दृष्टेदं

मतभेदकारकमिदं चेतस्ततो धावति । विधाऽपि हसते तथाप्यनयतो धर्मो विलुप्तो भवेन्न्यायान्यायविचारदुर्बलतरो जातोऽधुना बुध्यताम् ॥ ३१ ॥ जातोऽयं मतभेदभेदकवशादाचारभेदोऽपि च, संख्या त्रिंशतितोऽपि जातमधिकं किं वर्णयामो वयम् । साम्प्रदायिकभेदवेशकरणादाचारभेदोऽपि च, ज्ञात्वैवं शमसाधनेऽनुदिवसं धर्मे प्रवृत्तिर्वरमे ॥ ३२ ॥ दृष्ट्वेमं विषयं च कस्य न मनस्खेदं हितेच्छावतां, प्राप्नोत्यन्तमनन्तशासनवतां केषां मनस्खेदताम् । यात्याधीरतया च हेति सुमहच्छब्दः समुत्पद्यते, जाते सत्यपि साधुचेतसि पुनर्नोत्पद्यते भावना ॥ ३३ ॥ तद्दौर्बल्यमहत्तरं न कुरुते प्रत्येकमत्रान्तरे, सर्वेषां मनसा विचारकरणे नो भेदभावोऽधुना । वासं नो कुरुते परस्परमहो सम्मेलनं नैकतां, नान्येषां हितमीहते शुभधिया कश्चिन्नरः प्रेमतः, दृष्ट्वा चोन्नतकं पदं परजनस्यार्ता भवेयुर्जनाः ॥ ३४ ॥ केषां ज्ञानोपलब्धिर्न भवति सुवरां नास्ति शिक्षोपलब्धिस्त्यक्ता सेवापि नित्या निजमुनिचरणाम्भोजयोः साधुवर्य्यैः । सेवाधर्मोपलोपेऽजनि जनहृदयात्स्नेहमतुल्यो नराणां, क्रोधाविष्टैश्च छिन्नं प्रतिदिनमखिलं सम्यमूलं विहिंस्रैः ॥ ३५ ॥ योऽन्येषां धर्मलोपे प्रबलबलमयो धारयित्वा प्रवृत्तः, मार्गं शिक्षाविभागे प्रचुरसमबलं संविभर्तुं समर्थः । सोऽनर्थं स्फोटयित्वा रिपुदलगहनं दग्धुमग्निस्वरूपः, कार्यं तस्यापि नित्यं वितरति समये नाभिमानप्रयोगः ॥ ३६ ॥ सम्मेले विलयं गते च कियती सम्भावना दुर्दशा, जातोऽहं पतितो भवे च कियती चाघातसंवेदना । यस्या मे महती तृतीयजननी क्रान्तातिदुःखादरा, ■ किञ्चिन्नहि मेधि वृद्धिगणना कार्ये प्रसिद्धे सति ॥ ३७ ॥ मानक्रोधपरिमदोदयवशाद्धर्मक्षयो जायते, तत्क्षीणे जिनदेवशासनपदे ह्रासः

समुत्पद्यते । तद्ध्रासे च कलङ्कितं जिनमतं निष्ठा ततो भावना, तस्माद्दोष-समुच्चयापनयने चित्तं समाधीयताम् ॥ ३८ ॥ अस्माकं यदि बोधमस्त्य-वनतेर्मानापमानस्य च, पातस्यैव च वाऽवहेलनजनेर्जाता पराकाष्ठता । लब्धज्ञानबलेऽपि कुम्भथवसो निद्रालयाः शेरते, विद्युत्तेजसमम्रिजं किमु पुनर्मानूदये तिष्ठति ॥ ३९ ॥ अत्याचारसमुद्भवे च निखिलं नष्टं च भव्यात्मनां, सर्वाधारमयी क्रियापि विपुला नष्टा तथा भावना । शास्त्राणां पठनं प्रणष्टमधिकं जैनावतारे मुनौ, किं कर्त्तव्यमतः परं मुनिवराः सश्चिन्तयध्वं हृदा ॥ ४० ॥ शिक्षार्थं बहुशो जनैर्विरचिताः पाठालयाः कालया, नो वा साधुगणैश्च विश्वविदितं संस्थापितं वा क्वचित् । विद्यापीठमनल्पकं यतिवराश्छात्राः पठेयुर्मुदा, ज्ञानाभ्यासकरा नयन्ति सकलं धर्मादिकं श्रेयसे ॥ ४१ ॥ धर्मे नाभिरुचिर्गुरौ न नियतिर्विद्या-श्रमे नो मतिः, तत्सूत्रे पठनादरो न हि रतिः सङ्घे मुनीनां तथा । न्यायान्यायविचारणे न च गतिर्योगाश्रमे नादरः, श्रेयो नश्च कथं भवे-दनुदिनं चेतः परं क्षुभ्यति ॥ ४२ ॥ मोहेनाधिकतृष्णया च महति सञ्जायते नः क्षतिः, वर्द्धन्ते ममतादयोऽहितकरा ज्ञानं ततः क्षीयते । तत्क्षीणे जिनधर्मशर्म विलयं यास्यत्यथो भावना, निष्ठा सूत्रसमुद्भवा सुरगुरौ लोके कथं स्यात्स्थितिः ॥ ४३ ॥ रागद्वेषविवर्धनेन च मनो न स्यात् स्थिरं चञ्चलं, तद्रोधानयनं विना न विषयाः शाम्यन्ति योगा-श्रयाः । यावत्कर्मनिरोधनं न हि भवेत्तावत्कथं भावुकं, ज्ञात्वैवं परि-हृत्य रागविषयं सांघं बलं सेव्यताम् ॥ ४४ ॥ गर्तेऽशान्तिमये वयं निपतिताः कश्चित्प्रबन्धो न हि, सर्वाधारजिनेश्वरोपकरणे नो विस्मृति-र्योग्यता । दत्तं तेन ततोऽखिलं च विषयं संलब्धवन्तो मुदा, तत्सर्वं कथमन्यथापहरणं कुर्वन्ति चान्ये नराः ॥ ४५ ॥ सामाजस्य सुरक्षणं

च भवतामाधीनतामागमदेवं चाभ्युदयोऽपि भिक्षुकवरा ज्ञात्वा द्वयो रक्षणम् । संयुक्तैष्टवलं विना न हि भवेत् तद्रक्षणं नालसात्, संयुक्ता-भ्युदयप्रतापजनना चैक्यादिकं प्राप्नुयात् ॥ ४६ ॥ पूर्वं देशमवेक्ष्यतां हि कियतीमत्युन्नतिं प्राप्तवान्, तद्देशोऽप्यधिवासिनो हि नितरां स्वार्था-भिमाने रताः । तन्नैक्येन बलेन सज्जनजनाः कुर्वन्ति निष्कण्टकं, राज्यं छत्रधराश्च भोगनिरताश्चैकाधिपत्ये स्थिताः ॥ ४७ ॥ देशेऽस्मिन् दुरवस्थता प्रतिदिनं वृद्धिंगता पश्यत, अत्रत्या विषयोपभोगनिरता जाताः पराधीनताम् । ऐक्याभावपरा न संयमकरा नो दूरदर्शोप्सवो, रागेर्ष्याशयसंयुताश्च सुतरां विज्ञानशून्याशयाः ॥ ४८ ॥ दारिद्र्येण दुःखेतरा जनपदा साहाय्यमाप्यान्यतः, दग्धं चान्यजनेन चलमनिशं सन्धार्यते दुःखतः । पश्यामोऽधमदुर्दशां च महतीं भुंज्मः पराधीनतां, बद्धाः शृंखलया वयं परवशाः स्वातन्त्र्यहीनास्तथा ॥ ४९ ॥ पूर्वस्था मनुजाः स्वलघ्ननिरता राज्यं वहन्त्याहिताः, प्रत्यक्षात्मकशुल्यकेन नियताः सत्यप्रमाणेन च । ऐक्यं चाधिगताः स्वधर्मविलया विख्यात-सेवाः पराः, ज्ञात्वैवं समयादिकं न हि भवेत्त्याज्यं कदाचिन्नहि ॥५०॥ जाते वस्तुनि रोदनादिकरणं मिथ्यैव होच्चारणं, पश्चात्तापनिवेशने न हि पुनर्नेत्राश्रुपातं शुभम् । क्षुद्राशादिविकत्थनं किल मुधा सर्वं व्यलीकं त्यजेच्छ्रीमद्वीरजिनानुशासनवरं चोत्थाप्यतां श्रीध्वजः ॥ ५१ ॥ वीर-स्वाम्यनुशासनानुसरणं संघैक्यता सेवनं, सूत्रागाथमहोदधेश्च तरणं ज्ञानक्रियाराधनम् । कापायाद्यपवारणं जिनमुनौ सेवार्पणं प्रेमतः, सन्त्येतानि शुभार्थिनामनुदिनं श्रेयःकराण्यग्रतः ॥ ५२ ॥ मृत्युभाय-गतस्य चैक्यसुखलस्योत्थापनं कार्यतां, यदेकेन समाजकेन समये साम-र्थ्यभाजा न हि । धीरत्वेन च यत्नरत्नकरणे चेतः समाधीयतां दार्ढ्यं

निश्चयमाविधाय मनसः शुद्धिर्विधेया पुनः ॥ ५३ ॥ रागैश्चापि परि-
ग्रहैरनुदिनं मुक्त्वा भवन्त्वादरात्, सर्वानिष्टकरैर्ममत्वबलिभिः सङ्गः
परित्यज्यताम् । स्वश्लाघाकरणे ममत्वकरणे दोषो महाञ्जायते, सर्व-
स्माद्विषयान्मनोपहरणं श्रेयस्करं स्यात्ततः ॥ ५४ ॥ शास्त्रे वस्त्रे शिष्य-
वर्गे शरीरे, ग्रामे देशे श्रावके चान्यकार्ये । शोकं मोहं सम्परित्यज्य
नैजं, स्वायत्तायां नैव भाव्यं कदाचित् ॥ ५५ ॥ बोधार्थं जनताहिताय
सकलो ग्रन्थो मुदा ह्यर्प्यतां, न स्थाप्यो निकटे कदापि मनसो भारा-
दयं नित्यशः । त्यज्यन्तां प्रियवस्तुनोऽपि नितरां नो कार्यतां सञ्चयो,
नित्यैकं वसनं निधाय सुखदं स्वे जीवने रक्षणम् ॥ ५६ ॥ ग्राह्यं
मृण्मयमेव भाजनमथो नोऽनल्पमूल्यात्मकं, चैकं चाम्बरमेव धारणवरं
नान्यन्महर्घं क्वचित् । धार्यो नान्यपरिग्रहश्च शयनं भूमिस्थले शोभनं,
नो वाच्यं परुषाक्षरं क्वचिदथो जातापमानैरपि ॥ ५७ ॥ नो भोक्त-
व्यमनुत्तमं रससैर्युक्तं सदन्नं क्वचित्, गार्हस्थ्यैर्मनुजैर्न सङ्गतिरदः
कार्या शुभाकाङ्क्षिभिः । स्थातव्यं शुभशासनैः शमदमक्षान्त्यादिभिः
संयुतैरेवं जैनमुनिं समुन्नतपदारूढं भवेन्नान्यथा ॥ ५८ ॥ स्वातन्त्र्यं
समवाप्य चात्मनिहिता शक्तिः समाश्रीयतां, चारित्रं च निरीहता सर-
लता सत्यं निवासं वने । एवं संयमता क्षमत्वमनिशं सत्याग्रहत्वं तथा,
इत्यादेर्बलमुद्विभाव्य सकलं स्वातन्त्र्यसच्चिन्तनम् ॥ ५९ ॥ यत्रानन्त-
सुखं भवत्यनुदिनं तां पद्धतिं गच्छत, श्राद्धानां भवनं त्यजन्तु मुन-
योऽरण्यं गुहां चेच्छत । स्थित्वा तत्र सुसंयमं प्रकुरुत नान्योऽस्ति
पन्थाऽपरः, सर्वस्मिन् विषये भवन्तु निपुणाः पारंगताः स्युः पुनः
॥ ६० ॥ भगवद्वीरजिनस्य जन्मभवनं नित्यं श्रमन्त्वाहिताः, शीताद्य-
न्वितदेशमार्गपथिको भूत्वा महावेदना । सोढव्या च महोष्णदेशज-

नितं चोष्णादिकं वा तथा, सेव्यं साधुजनस्य सङ्गमखिलं हेयं गृहिस्त्री-जने ॥ ६१ ॥ साध्वीस्त्रीगणसंगते न च पुनर्नो दर्शयेच्चाननं, संघसोन्नतिके मनो मुहुरथो सन्दीयतां प्रेमतः । तच्चाप्युन्नतशेखरे स्थिरविधुं यत्नेन संस्थीयतां, सन्तोः भिक्षुवराः समाजविषये सद्गौरवं धार्य्यताम् ॥ ६२ ॥ स्वच्छं जैनमतं तदुक्तविधिना स्याद्वादचित्तार्पणं, तत्तन्त्रोक्त-विमर्शतत्त्वमननं शश्वद्धिताऽऽधायकम् । कर्तव्यं प्रतिवासरं सुमुनयो हित्वा कषायादिकं; शास्त्रेऽन्यत्रमते (परसमये) सुबोधकरणे कल्पन्तु सद्बुद्धिभिः ॥ ६३ ॥ शास्त्रोद्धारकृतेऽनुरक्तमनसः प्रत्यन्तदेशंप्रति, मा गन्तव्यमसत्कराँश्च विषयान्नो चिन्तयध्वं हृदि । सच्चित्रैर्विलसद्गृहं तु धनिनां हेयं सदा दूरतो, दध्याज्येन समन्वितं च पयसा त्याज्यं सदन्नाशनम् ॥ ६४ ॥ शीतोष्णादिकजन्यतापसहनं मौनं मिताभाषणं, येन स्याज्जनतोपकारसुखदं वाक्यं च धार्यं हृदि । गन्तव्यं गहनं गिरौ न मिहितं सत्कन्दरामन्दिरं, भोक्तव्यं विरसादिकं च शयनं धृत्वा प्रशान्ति मुदा ॥ ६५ ॥ योगाभ्यासपरायणो गुरुपदाम्भोजार्चनासक्तधीः, सूत्रा-भ्यासरतो दमादिसहितः सद्भावनासंयुतः । ध्वस्ताशेषकषायको जित-महापड्वैरिशत्रुर्गुरुः, सद्वक्ता परिपूर्णशान्तहृदयो योगाश्रमे दत्तधीः ॥६६॥ नो वै वेषविधानमात्रकरणाच्छिष्यो भवेत्कर्हिचिच्छान्तं धर्मरतं गुणान्वितजनं संशिक्षयेद्दीक्षया । नानाशास्त्रविचारणोत्सुकमनास्त्वर्केषणो दुःसहद्, एतादृग्गुणवद्वरो ह्यतिप्रियः शिष्योऽभवेयो मुहुः ॥ ६७ ॥ हे भिक्षुप्रवरा मयाऽद्य समये सन्दृश्यते संस्थितिः, ये केचिद् गृहिणो गृहादिरहिताश्चायान्ति नष्टे धने । दुःखार्ताश्च बुभुक्षवो हि भवता-माराद् पिपासाकुला, नो कृत्वा च परीक्षणं पुनरथो दीक्षां ददत्याद-राद् ॥ ६८ ॥ तेभ्योऽप्योग्यतरेभ्य दीक्षणमहो सन्दीयते वा हठा-

दीक्षामात्रविधानकेन नियता मन्त्रं प्रदत्वा मुदा । किञ्चिद्व्या-पणयुक्तिशक्तिसहिता भाषात्मिका दीयते, दशवैकालिकनन्दिसूत्रविषय उत्तीर्णता चेद्भवेत् ॥ ६९ ॥ नो वैराग्यरतो विचारकरणेऽदक्षो न विद्यान्वितः, क्षिप्रं श्राद्धजनाय मोहकरणेऽविद्यावशः सत्कथाम् । नो वा जैनमतानुसारचलनो भक्त्या विरक्त्या युतः, (नैवं शिष्यगणोऽतिदीक्षणपरो नो भावशुद्धो रतिः) अन्येभ्यो हठवधनाय नितरां शिष्योऽप्यनिष्टः स्मृतः ॥ ७० ॥ न्यायप्राकृतजन्यकाव्यविषयं सच्छाब्दिकं वा पुनर्दद्याज्ज्ञानमनन्तरं सुमुनये शिष्याय दीक्षामपि । येन स्यात्समितौ सुयोग्यगणना लब्धप्रतिष्ठो भवेन्नो चेत्कर्मविगर्हितं च भवतां निन्दास्पदो जायते ॥ ७१ ॥ दृष्ट्वेमां घटनां बुधो हृदि महत्कष्टं मनस्त्वोदवं, हास्यं वा विदधाति रोदनमथो याथार्थमेषो जनः । हीनं योग्यतया जनो न मनुते सत्कारमातन्यते, जन्मान्धस्य दिवाकरः प्रकथनं नामात्यनर्थप्रदम् ॥ ७२ ॥ ज्ञानं नैव विभाति यस्य हृदयेऽज्ञानान्धकारापहं, नो शिक्षा विशदा सतां न मुखरो भूत्वाऽन्यथा वञ्चनम् । लोकान् वञ्चयितुं करोति विविधां धृत्वा मुखे वस्त्रिकां, जैनानां मतदूषणं प्रकुरुते न स्थापनीयो जनः ॥ ७३ ॥ साङ्गोपाङ्गतया च सूत्रविषये साद्यादज्ञाने तथा, छन्दःशास्त्रसमन्विते॒ऽन्यविषये ज्ञानं प्रदायाथवा । साधुभ्यश्च परीक्षणं सुनियतं संस्कारयित्वा पुनः, पश्चाद्वीरपदानुसारवशतो दीक्षा प्रदेयाऽन्यथा ॥ ७४ ॥ व्याख्यानप्रतिभाप्रबन्धरचना शिक्षाप्रणाली ततो, धर्माख्यानपरं च भाषणमयी सद्भावना जायते । ज्ञानं न्यायकरं समस्तजनताकल्याणकृद्भाव्यत, एवं रीतिमुपाश्रयेद्यदि मुनिर्धर्मप्रवाहोदयः ॥ ७५ ॥ अर्हद्वीरनिमित्तधर्मसरणीमाश्रित्य देशान्तरं, भ्रान्त्वा विश्वहिताय धर्मत-

रणीं हिंसाद्यभावात्मिकाम् । दत्वाऽनेकविवादवादनपरं निर्घृणं वोधाश्रये, तिष्ठतास्तिलक्लेशनाशनपरा ज्ञाने परे निष्ठया ॥ ७६ ॥ देवेशकं च वयं सुसंयमरताः संसेवयामो मुदा, ताम्रचूडमयाण्डवत्प्रतिदिनं संसारस्वादवनकम् । भूत्वा च श्रमणं तु निष्फलमहो कुर्मो विरामः सदा, तेषां चर्यणपरा मतानुकरणे जाताः प्रवृत्ता रहः ॥ ७७ ॥ चित्तं देवबलोत्स्यतां च गृहिणो विश्वासमासाद्य च, युष्माकं मनसा धिया च सुतरां तिष्ठन्ति सेवाश्रये । ध्यात्वैवं च यथाविधौ जनपदांश्चोरधापयध्वं ध्रुवं, नोचेल्लिम्नतलं पतन्ति बहुधा कृच्छ्रत्वादुन्नतेः ॥ ७८ ॥ भारत्या भवने च पुस्तकचयं संस्थाप्य साधूत्तमाश्चाद्रक्षाकरणे प्रयत्नशतकं शश्वद्विधेयं तथा । यत्राभूषणयोर्यथेवरजनाः कुर्वन्ति सद्रक्षणं, सूत्राणां चयनं सदा च मुनिभिः कर्तव्यमत्रात्थ्ये ॥ ७९ ॥ अर्हद्वीरसुधर्मरोधकरणं यत्पुस्तकं वर्तते, नो तद्वाचमसत्करं च मुनिना स्पृश्येयसे सर्वदा । यत्र स्त्रीरसिवर्णनादिविषयं तद्दूरतस्त्यज्यतां, स्याद्वादादिकशास्त्रमेव हितकृत् माद्यं शुभाकाङ्क्षिभिः ॥ ८० ॥ येन ज्ञानविवर्धनं च भवतां सञ्जायते मोदतस्तद्योग्यं च हिताय योऽनुदिवसं माद्यं बुधैः सत्यतः । द्यूतादेरनुवर्णनं च कथनं भावोऽस्ति यत्रापि वा, हिंसाभावपरिग्रहप्रकथनं हेयं सदा साधुभिः ॥ ८१ ॥ यच्चानर्थकरं सुसंयमहरं शान्त्यादिविक्षेपदं, न माद्यं मनखेदकं च यतिभिर्योगे च विघ्नप्रदम् । येनाप्यापनधर्मशर्मविलयस्तद्दोषपर्योपयत्नम् माद्यं च यत्नादपि प्रयततां योगार्थिनां श्रेयसे ॥ ८२ ॥ युष्माकं परिपाटिकेयनपरा यच्छास्त्रसूत्रादिकं, मोहादिप्रबलायतेऽधिकतरं दृष्ट्वा जनैर्हस्यते । नैनादसुविपातनं च नितरां कुर्वन्ति हे भिक्षवः ! पात्रे वाऽप्यथवाम्बरे च ममता सन्दृश्यतेऽन्येषेनैच्छलादप्यधिकं . पय-

दिविषये मोहं समुज्जृम्भते ॥ ८३ ॥ तत्किं हीने हि जायते भगवतां दीक्षार्थिनां लोकतो, लोकानां च धनार्जनं परजनश्रेयस्करं ज्ञायताम् । युष्माकं परिरक्षितं गतपदं न श्रेयसे पुस्तकं, ज्ञात्वैवं ममतां जहत्व-नुदिनं भव्यं भवेदेन च ॥ ८४ ॥ विद्याऽध्यापनकार्यलुप्तमधिकं तत्रापि पाठ्यक्रमो, हा वो हानिकरी विभाति कियती संख्या विरामस्य च । नोऽवस्था सुव्रतमहस्य नियता नो वा व्रतादेस्तथा, न स्वस्यापि गुरो-र्विचारमननं कुर्वन्ति काऽन्यत्कथा ॥ ८५ ॥ यच्छास्त्राणि च पुस्त-कानि पठने चोपक्रमात्पाठने, तानीर्षाममतावशाद्धहिगृहे ग्रंथि विधा-याग्रतः । नष्टमायगतानि विश्वजलधौ नोद्धाटयन्त्यालसात्, शिष्येण प्रतिवासरं च गुरवोऽन्योन्य प्रयुध्यन्त्यतः ॥ ८६ ॥ वैरं भावगताः परस्परमहो प्रेमोच्चकाधःपतन्, लोकान्तानि निजानि संकलुषयन् यान्त्या विनायासवः । ज्ञात्वेमां च दशां मदीयमनसि स्याद्दुःखसङ्गं पुनर्जैनाचारसुशास्त्रतत्त्वमननात्स्वाध्यायवृद्धिर्भवेत् ॥ ८७ ॥ नीतिन्या-यप्रमाणतत्त्वनिखिलात् सर्वं विरुद्धं मतं, कोऽपि प्रीतिपुरःसरं न कुरुते कर्माखिलं सज्जनः । तेनाधःपतनं मतादिविहितं धर्मोच्च यायान्मुहु-स्तेनाऽहं च करोमि चिन्तनमहो धर्मस्य वृद्धिः कथम् ॥ ८८ ॥ शवालयगतौ यद्वत्सारमेयौ परस्परम् । युध्यन्तः साधवस्तद्वत्, युध्यन्ति प्रीतिमन्तरा ॥ ८९ ॥ अतोऽस्माकं च साधुत्वं, गतं नास्त्यत्र भावना । दुर्दशा कीदृशी जाता, स्वधर्मो निधनं गतः ॥ ८९ ॥ येनास्माकं वर्धते ज्ञानशक्तिर्यस्याधाराज्ञीतितत्त्वावबोधः । स्वाध्यायस्या-मूल्यरत्नं वदन्ति, शान्तिर्दान्तिर्ज्ञानरूपे परेशे ॥ ९० ॥ तच्चेदानीं नाशभावं प्रयाति, नो वा शुद्धिः संयमादेश्च प्राप्तिः । तद्द्वारा वा नैव बोधो न भावस्तस्माच्छास्त्रं साधवोऽप्यात्मपार्श्वे ॥ ९१ ॥ तद्वद्रूथाँल्लो-

कल्याणहेतोर्लोके धर्म्मप्राप्तये वै वहन्तु । येन स्यान्नो रक्षणं संयमादेर्न स्याद्धानिः कार्यसिद्धौ मुनीशाः ॥ ९२ ॥ तस्मात्सर्वान् भारतीगेहमध्ये, सन्तो ग्रन्थान् स्थापयन्तु प्रयत्नात् । येन स्याद्वै सर्वलोकोपकारो, ज्ञात्वैवं वै नो विलम्बं हि कार्यम् ॥ ९३ ॥ शुद्धस्फाटिकवत्सरोजहृदयो विद्याकलावारिधिर्भाव्यस्तापत्रयापहो गुणनिधिः शिष्येष्टकामप्रदः । यद्येताद्दक्षमावधारणकरः,स्याच्चेद्गुरुः क्षिप्रतः, .शिष्यारिष्टनिनाशनं च भवतान्नास्त्यत्र सन्देहकः ॥ ९४ ॥ एवं भिक्षुवराश्च शिष्यरचने क्लेशप्रदा वः प्रथा, यः कश्चिद्भवति प्रदीक्षणपरः स्यात्तस्य दीक्षेच्छया. । कायास्यारद्वहुहिम्प्रसरते वार्ता स्फुटाक्षित्यहः, श्रुत्वाऽनेकवरिष्ठसाधुचतुराः स्यास्यारक्षरन्त्यम्बु च ॥ ९५ ॥ यत्नेनायमतद्विदो यदि भवेन्मे स्याद्वरः शिष्यकस्तस्यापि प्रभवेत्सुजीवनवरं लोके च धन्यो जनः । अन्ते सिद्धिकृतेऽन्तरस्यघटको दुर्वासनां वर्द्धयेत्, नाशार्थं समये सुसंयमयमाश्रित्यं यतन्ते मुहुः ॥ ९६ ॥ संग्रहः पुस्तकानां यो, दोषो वर्वर्ति तद्विदाम् । शिष्याणां करणे तद्वन्महान् दोषो हि जायते ॥ ९७ ॥ मातापित्रोर्विनाज्ञां च, व्ययं दीक्षोत्सवे बहु । अपव्ययमपि कर्तुं, प्रेरयन्ति मुहुर्मुहुः ॥ ९८ ॥ भिक्षवः शिष्यतृष्णार्ता, नश्यन्ति धर्मकर्मतः । सगौरवं भवं चापि, नाशयन्ति मुधा स्वतः ॥ ९९ ॥ रोगस्यास्यैषधमस्तीह, शान्तिः श्रीस्वामिनो वरा । महावीरस्य संघस्य, सेवा सर्वार्थसाधिनी ॥ १०० ॥ सम्प्रदायानुरोधेन, संयमादेश्च सेवनम् । गच्छवादं गुरोर्वादं, शिष्यवादं विवर्जयेत् ॥ १०१ ॥ भारतस्याखिलस्यैकमुख्याचार्यो भवेद्ध्रुवम् । मूला तस्यैव शिष्यास्तु, तदाज्ञां पालयन्तु च ॥ १०२ ॥ यः कश्चिद्दीक्षणं

---

१ सार्वजनिकपुस्तकालये ।

प्राप्तुं, समीहेत मुदान्वितः । स्वदेशे संयमं दीक्षां, निर्वेदेन च धारयेत् ॥ १०३ ॥ तदा व्यवस्था सन्मार्गे, गत्वोच्चतपदं ततः । गच्छेच्च शिवसम्प्राप्तिः, सर्वेषां नो भविष्यति ॥ १०४ ॥ सङ्घे चैकः स्थापनीयो गणेशः, सर्वानर्थान् वेदितुं यः समर्थः । येन स्यान्नः सम्प्रदायानुरोधाद्धर्मे वृद्धिश्चिन्त्यतां भिक्षुवर्य्यैः ॥ १०५ ॥ कश्चित्समाजस्य महत्पदास्पदं, बिभर्तुमिच्छेत् किल तस्य वागुराम् । कर्तुं करे तस्य सदेषणास्ति वा, प्रगृह्यतां चेद्वरिवर्ति शक्तिः ॥ १०६ ॥ कश्चित्स्वयं सर्वसमाजकार्यकर्ता तथा धारयिता बुभूषुः । तथा व्यवस्थापि समाजशक्तौ, स्वशक्तिमास्थापयितुं प्रवृत्तः ॥ १०७ ॥ कस्यापि चेच्छास्ति समाजनेता, सदा भवेयं च सुशासकोऽपि । एतद्वितेच्छा च प्रवर्धतेऽनिशं, सर्वस्वमेवास्तु मयि प्रपन्ने, ॥ १०८ ॥ यदीदृशीच्छा परिवर्तते तदा, समाजलोपोऽपि भवेद्धि शीघ्रम् । इत्थं समाजस्य च दुर्दशा भवेद्विचिन्त्यतां जैनमुनिप्रवीणैः ॥ १०९ ॥ कृच्छ्रादाप्तपदोन्नताद्धि पतनं निम्नं समाजस्य च, एवं गौरवनाशतां परिव्रजेत् सर्वे भवेयुस्त्वरम् । दुःखार्ता जिनदेवभक्तिनिरता धर्मोऽपि नाशं व्रजेत्, ज्ञात्वैवं जिनशासनोऽनुदिवसं तद्रक्षणे स्थीयताम् ॥ ११० ॥ रोगोऽनेन समाजभोगविषये वृद्धिंगतो नित्यशः, साधूनामहमालिकाविकृतितो नष्टाऽधुना सभ्यता । सर्वेषां हि महत्त्वतत्त्वविषये जातैषणा सर्वतो, मानं चातपधावने निपतितं मिथ्याप्रलापो मिथः ॥ १११ ॥ भिक्षूणामभिमानभावमधिकं काषायसंसेविनामेतस्यापणमार्गभागविषये जातं महर्घं ध्रुवम् । योग्यायोग्यविचारणापि विलयं याता समाजस्य किं, तेनैवास्ति समाजकोऽपि नितरां पिष्टस्ततो घुणवत् ॥ ११२ ॥

---

१ संघस्य प्रधानाचार्यः.

भिरुचिं विदध्युः ।। लोकान्तरप्राप्तिनिमित्तभूतसज्ज्ञानकर्मादिकरा भवन्तु ॥ ७ ॥ अत्रान्तरे मानवलं त्यजेयुः, सत्साधुसेवा नितरां विशेषा। सत्वात्मिकां वृत्तिमनूपसृत्य, मनश्च स्वाध्यायवले नियुज्य ॥८॥ स्वजीवनेनाद्यसमाजसेवा, रश्मिं गृहित्वा परिरक्षणीया। निश्चित्य चित्तेन समाजवृन्दे, साहाय्यदानं करणीयमाशु ॥ ९ ॥ अथाभ्याख्यानग्रहरणम् ॥ सन्दृश्यते भिक्षुवरा ! मयाद्य, किञ्चिद्विकारान्वितसाधुभावाः । तेषां च जाते परिवर्तनादिकं, कुत्सान्वितं तेन विचारणीयम् ॥ १० ॥ दुष्टस्वभावान् कथयन्ति चान्यान्, कुर्वन्ति स्वस्यैव प्रशंसनं च । विद्वत्सु दोषं परिभावयन्ति, गुणं पिधायाथ गुणं स्वकीयम् ॥ ११ ॥ प्रकाशयन्ते च स्वकीयदोषं, पिधाय ते संयमिनः वरिष्ठाः । निन्दन्ति ते दुष्कृतिनोऽभिमानात्समाजभाजः प्रवदन्त्यसिद्धान् ॥ १२ ॥ यदापहर्तुं वरिवर्ति शक्तिस्त्वदेतरस्मान् गुणदिव्यसंघान् । आच्छिद्य सिद्धमवरा भवेम, इति प्रजल्पन्ति विचारशून्याः ॥ १३ ॥ मदीयेऽत्र काये यदि शक्तिरुग्रा, जगन्मात्रजातान् गुणानाविच्छिद्य । स्वकीये तनौ स्थापयित्वा वरिष्ठो, भवेयं तदा सर्वतो माननीयः ॥ १४ ॥ परन्त्वस्ति भव्यं न चेदृग् बलं वा, न विज्ञानशक्तिर्विधातुं कुतः स्यात् । परेषां च निन्दाभिधानं मुखेन, परं मन्यते शाकपत्रादिकल्पम् ॥ १५ ॥ अयेऽन्यत्र निन्दे ! न लब्धं पदं ते, विहाय स्थलं साधुसघे प्रवेशः । कुतस्ते न जाने सदा दूरतस्त्वां, त्यजेयुर्जना मानवन्तो मनस्तः ॥ १६ ॥ अये पापिनि त्वत्कृते धर्मनाशो, भवेन्निम्नपातश्च नो धारयत्वम् । अतस्त्वेर्मुखं नीलवर्णं च नाशः, समाजाद्बहिस्त्वं गता चेद्वरेण्यम् ॥ १७ ॥ अयेऽनिष्टभावे ! पिशाचस्वभावे ! मुनीनां समाजात्त्वमन्यत्र गच्छ । न भव्यं भवेत्तत्र संभे-

लने च, सुजाते सुरम्ये कुतश्चेऽत्र वासः ॥ १८ ॥ सदा सर्वतामद्य ते न प्रवेशो, वयं वञ्चिता ज्ञानिनोऽज्ञातसंगाः । मुखं पश्यतेऽग्रे च संमेलनं नो, भविष्यत्यनायासतश्चाजमेरे ॥ १९ ॥ न याचेऽतिरिक्तं समाजान्मुनीनां, मनो मे प्रसक्तं समाजप्रसङ्गे । अतो धारणीयं मन-स्वस्य सिद्धौ, यतो नो भवेद्धर्मलाभो मुनीशाः ॥ २० ॥ वयं चाप (स) भोगान्मुदोद्घाटयिष्यामहे द्वादशास्मान् यदा भेगभावात् । अरण्ये निवासाय यत्नं विधाय, जनावेष्टवस्त्रं मुहुर्धारणीयम् ॥ २१ ॥ मृदा निर्मितं पात्रमेकं सदैव, ध्रुवं धारणीयं गृहस्थैः समं नो । कदाचिद्वि-धेयाऽशुभा सङ्गतिश्च, दलं प्रेषणं वर्जनीयं तथैव ॥ २२ ॥ मुखावा-सिद्धेतोश्च कर्तव्यमेवं, मिताहारमेकत्र काले वरीयः । मिलित्वा च सांवत्सरं पर्वचैकं, वयं चाखिलाः साधवो यत्नवश्च ॥ २३ ॥ सदाऽऽ-चार्यवर्योऽखिलानां मुनीनां, वुधैको भवेच्छिष्यशिक्षाप्रदायी । त्यजे-द्दुर्विचारे च यं भेदवादं, करिष्यामहे ज्ञानविज्ञानवादम् ॥ २४ ॥ अहो ज्ञानरूपेऽस्य गङ्गाप्रवाहे, सदुत्साहशक्तिं च कुर्मोऽतिहर्षात् । समाजेऽत्र सर्वे मिलित्वा त्वदीयं, बहिष्कारमेवं करिष्यामहे च ॥ २५॥ यदा ते भवेन्मूलभमोऽद्य निन्दे ! कथं त्वं समाजे च तिष्ठेर्बदेर्न: । यदा ते च्युतिस्स्वाधिकाराद्भवेद्वत्, तदा ते [illegible] यानं भवेद्भूहि क्षिप्रम् ॥ २६ ॥ सुसम्मेलनस्य प्रसंगे बलेन, बहिष्कारभावो न जातः कदाचित् । खर ! त्वं मुखं नावलोके त्वदीयं, स्वकीयं तथा नैव सन्द-र्शयामि ॥ २७ ॥ तथा नैव केनापि साकं वदामि, वद मौनतायाम् तिष्ठामि शश्वत् । गतं वैलक्ष्यं शरीराच्च नेऽद्य, त्वयि निन्दनाये गते वैमनस्यात् ॥ २८ ॥ यदा द्रोहबुद्धिस्तदा ते निवासोऽन्यथा त्वं मया दीयते संघान्मुनीनाम् । अगद्धर्तिदं नो विविक्षस्व निन्दे ! निव-

तस्य तूर्णं वने पर्वते वा ॥ २९ ॥ इतः पेषणं ते करिष्यन्ति लोका, अतोऽन्यत्र गन्तव्यमेवं विचार्य । न वा भद्रमत्राधिवासे बलिष्ठे, जगचे करिष्यत्यहोऽनादरं हि ॥ ३० ॥ भवद्भिर्मुखात्स्वाच त्याज्या वरिष्ठेस्तपस्यावलं संयमादेर्बलं च । तथा संघसेवा बलं चात्मनोऽपि, भवेद्यष्टमेवं हि सर्वस्वनाशः ॥ ३१ ॥ मया निश्चयं दीयतेऽद्य भवद्भिः, परित्यज्य निन्दां सकर्तव्यतां हि । तथेर्ष्याभयं क्रोधमात्सर्यमेवं, समाहृत्य धर्मं चरेयुर्विरक्तिम् ॥ ३२ ॥ [अथाऽपलापविषये] यदा कश्चिदायाति पार्श्वे स्वकीये, समुत्थाप्य हस्तेन चोर्द्धं (हर्म्ये) नयन्ति । तथैकान्तगेहे च तेनैव वार्ताऽपलापं प्रकुर्वन्ति मोदैः प्रमोदैः ॥ ३३ ॥ विनाज्ञानसम्पन्नमेकं स्वशिष्यं, विधायाथवा द्वारपालं स्वकीयम् । विनोदेन कुर्वन्ति कार्यं विगर्हमहो वर्तते कीदृशी साधुवृत्तिः ॥३४॥ मुखे चानने चक्षुषा चक्षुरेवं, तथा कर्णके कर्णवृत्तिं निधाय । करोत्याहितः किञ्चिदात्मानुकूलामनिष्टप्रदां सर्वनाशाय वार्ताम् ॥ ३५ ॥ निन्दा यस्य मुखेऽस्ति तापसजनाः सत्कर्मतो धर्मतो, ऽप्यत्र च तस्य नश्यति तपो ज्ञानं पुनः संयमः । तस्मात्तां परिहृत्य संयमपरैश्चित्तं समाजे मुहुः । संस्थाप्योत्तमकर्मसेवनपरैर्जैने मते दीयताम् ॥ ३६ ॥ यदैकस्मिन् स्थाने निवसति मुनिस्तत्र न परान् । समाजस्थान् साधून् न हि हितकरानाहितधियः ॥ निवासार्हान् रागान्निजनिकटतो दूरयति च । तथा वार्तालापं तैः सह हृदा नैव कुरुते ॥ ३७ ॥ समानीतं तैश्च मधुरजलमन्नं न मनुते । न वाऽऽतिथ्यं तेषां न च किमपि सत्कारकरणम् ॥ परं चैवं ज्ञात्वा परमतरतान्छून्यहृदयः । अहं वै पश्यामि व्रतमपि च तेषां मतिहरन् ॥ ३८ ॥ यथा श्वाऽन्यश्वानं परमनिजकोपेन निकटं ।

समायं भक्ष्यांशं किमपि न हि चातुं प्रभवतु ॥ विचार्येत्थं शब्दैर्विः कल्पमनसा दूरयति च । मुनीनां संघेऽयं भवति कलहो द्वेषमनसा ॥ ३९ ॥ प्रसन्नोऽयं दृष्ट्वा नहि भवति कश्चिन्मुनिवरस्तथाऽन्योन्यं द्वेषं विषममतिनोत्पाद्य कुरुते ॥ पशुष्वेयं नीतिर्न हि न हि न जाने कथमगात् । इतः श्रेष्ठश्छागः कपिरपि कपोतश्च सुधियः ॥ ४० ॥ मिलित्वैतेऽन्योन्यं समयमनसा रक्षणमहो । सदा कुर्वन्त्यन्ये विषयसुखभोगेऽपि नितराम् ॥ सहाया जायन्ते इति मनसि निश्चित्य भवतो, (परं द्वेषा युक्ताः सुसद्गुणवन्तो मुनिजनाः) विलुम्पन्त्यां शक्त्या विषयगुणभोगैकनिपुणाः ॥४१॥ [अथ शान्तिकराष्टकम्] न वा साधुवृत्तिर्न वा कोपशान्तिर्न मा संयमादौ प्रवृत्तिर्मुनीनाम् । न हि ज्ञानसिद्धिर्न विज्ञानवृद्धिः, कथं जैनसंघे निवृत्तिर्जनानाम् ॥ ४२ ॥ गता संघभक्तिर्गतश्चित्तरोधो, गतं चात्मतत्वं गतं शुक्लध्यानम् । इदानींतनानां मुनीनां प्रवृत्तिः, सुखे श्रावके चासने शिष्यवर्गे ॥ ४३ ॥ गताऽध्यात्मविद्या गताऽऽनन्दवृत्तिर्गता भावभक्तिर्गता संघचिंता । गता भिक्षुसेवा गता धर्मवृद्धिर्गता शान्तचर्य्या निवृत्तिः शुभा न ॥४४॥ गतं ज्ञानगाम्भं परं धैर्य्यरूपं, यतो नष्टतोऽस्तो भवेदर्म्महानिः । कथं स्याद्भवाम्भोधिपारं मुनीशा, विना सत्क्रियां चिन्तयध्वं मनस्त्वः ॥४५॥ सदा शिष्यलोभाश्रये नः प्रवृत्तिर्न वा चिन्तनं कोविदानां च संघे । अनेकान्तसिद्धान्तस्वाध्यायहीना, मनोरोधने नो गतिर्वो कथं स्यात् ॥४६॥ गता जैनसंघाद्दया साधुभावाद्गतो न्यायसिद्धान्तजन्यो विचारः । सुसम्यक्त्वमानन्दकन्दाख्यं नो, ध्रुवं नैव चित्ते कदाचिन्मुनीन्द्रैः ॥ ४७ ॥ जलाध्यायतोऽज्ञानवृद्धिप्रसङ्गात्तं भेदरूपं सुगम्यकल्पं वत्तम् । सदा चिन्त्यते केन धर्मं भवेनेत्थमा सेवनीयं, यरा संघः

साम्यम् ॥ ४८ ॥ न वाऽरण्यवासो न वा त्यागशक्तिर्न वा चावनं धर्मतत्त्वस्य शश्वत् । वरीवर्ति चिन्तोदरार्थे सदैव, अतोऽहं तपाम्यात्तभावं यतीशाः ! ॥ ४९ ॥ भजन्त्वाहिता देवदेवं जिनेशं, यतो जायते दुःखमूलस्य भंगः । तथा संवृतौ प्रेमभावो निवृत्तिर्भवांभोधितो ज्ञायतां साधुवृन्दैः ॥ ५० ॥ गता मोक्षप्राप्तिर्गता लब्धिशक्तिर्गता रे गता रे जिनेशस्य भक्तिः । मुनीनामिदानींतनानां प्रवृत्तिः, सुखे शायके चाशने शिष्यलोभे ॥ ५१ ॥ गतं वस्तपो योगचर्य्यापि नास्ति, गतो ध्यानस्वाध्याययोगोऽपि दूरम् । गतः सूत्रपाठो गतं न्यायसूत्रं, न स्याद्वादवादे रुचिर्वा कदाचित् ॥ ५२ ॥ गतोऽध्यात्मवादोऽप्यितो जैनसंघो, गतं रे ! गतं रे ! गतं माकृतत्वम् । इदानींतनानां मुनीनां प्रवृत्तिः, सुखे शायके चाशने शिष्यलोभे ॥ ५३ ॥ [अथापायनिवृत्तेरुपायः] रे चित्त ! चिन्तय जिनाम्बुजपादरेणुं, पारं गमिष्यसि सुखेन यतो भवाब्धेः । शिष्यादयोऽन्यजनता न हि ते सहायाः, सर्वं विलोकय मुने ! मृगतृष्णिकाभम् ॥ ५४ ॥ संसारसागरमगाधमगम्यपारं, श्रीमज्जिनेन्द्रचरणाम्बुजश्रद्धया वा । उल्लङ्घयिष्यति सुखेन च ते प्रयासस्तस्मात्कुरुष्व मुनिभक्तिमघौघहर्त्रीम् ॥ ५५ ॥ सुखे दुःखे किञ्चिन्न भवति समाजान्तरमुनेः, सहायो रागान्धो निजहठधरो द्वेषनिरतः । तथा विद्याभ्यासं प्रतिपदवमन् द्वेषमनिशं, घृणां तद्वल्लोके निजमतिविरोधेन तनुते ॥ ५६ ॥ जना उच्चैर्हास्यं विदधति घृणापात्रमिति वो, न वा संघप्रीतिर्न च सहनिवासं प्रकुरुते । अतो मोहस्पर्द्धेर्निखिलमतके नैव भवतां, सुजातं बन्धत्वं दृढतरसुरज्वा मुनिवराः ॥ ५७ ॥ यदा वृद्धिर्मोहावृतिरपि कथं शान्तिरधुना, न वा जाताशा नः पुनरपि सहावासकरणे । निवृत्ति-

मोहस्य कथमखिललोकानुसरणे, विचार्य्यैवं सन्तः कुरुत मुनयो मोहशमनम् ॥ ५८ ॥ कुरीतीनां नाशो भवति हि च रूढेरपि तथा, सहावासः पश्चादनुभवजविज्ञानमभवत् । तदा प्रेम्णाऽऽमोदः सह दमशमादेः सुकरणं, जनाधारे जैने निवसति सदा चित्तमचलम् ॥५९॥ स साम्योत्कर्षे वा भवति सहवासस्य जनकं, परं च ज्ञानस्योत्कटकमपि तस्यास्ति फलदम् । यदाऽभ्यासासक्तं मुनिमपि वदन्त्याहितजनाः, समं केन स्पर्द्धा निगमसकलाऽध्यात्मविदुषा ॥ ६० ॥ सुविद्याप्त्यर्थं यदि मनसि चिन्ताऽप्युदयते । तदा स्पर्द्धावृद्धिर्निखिलमुनिसंघे विलसति । तदा विद्यालाभो भवति मुनिवृन्दैरधिगता । भवे विख्यातिः स्यान्निजनिजमताचारवशतः ॥ ६१ ॥ विना स्पर्द्धां नापि प्रसरति समुत्साहविषयः । सहावासे नैवं न लगति मनश्चंचलतया । विनान्तः स्वाध्याये न वसति धियो वृत्तिरचला । ततो विद्यालाभो भवति विदुषां मोदसहितः ॥ ६२ ॥ सहाध्यायिनं वा सहावासिनं वा, विनाधीतविद्याविनोदप्रचारः । सहाचारिणं चान्तरा नो विचारी, ततो नो भवेच्छास्त्रतत्त्वावबोधः ॥ ६३ ॥ तथा नावलोक्यो भवेच्छास्त्रचर्या, विना तत्कृते नैव पुष्टिं प्रयाति । न काठिन्यकं स्थायिभावं तथैव, चिरं चित्तभित्तौ मुहुश्चिन्तयध्वम् ॥ ६४ ॥ तथाऽध्ययनतोऽध्यापनाद्वा विचारात्समुत्पद्यतेऽपूर्वसत्किप्रवाहः । यदैकत्रवासो मिलित्वाऽखिलानां, तदा यत्र येषां प्रवेशोऽधिकोऽस्ति ॥ ६५ ॥ प्रवीणोऽथवा वै विशेषाधिकारी, सहाचारिणे वा सहाध्यायिने च । सहावासिने वा प्रवीणं करोति, भवेत्तस्य सौख्यं नितान्तं मुनीनाम् ॥ ६६ ॥ स्वकीयेन तुल्यं च योग्यं विधाय, समाजे समुत्तेजनां वै करोति । अतो भेदभावं परित्यज्य शक्तिं, स्वकीयां तथा योग्यतां सन्तनोतु ॥ ६७ ॥

चरित्रं सुविद्यां परस्मै ददातु, सुवक्तृत्वबोधोऽखि केषां विशेषः। तदा तत्फलं चापि देया परस्माययं नो विचारो हृदा धारणीयः ॥६८॥ स्वविद्या मया दीयते चेत्परस्मै, तदा तस्य लोके प्रतिष्ठाऽधिका स्यात्। तथा योग्यता वृद्धिरेवं प्रयाति, विचारं च नेत्थं कदाचित्करोतु ॥ (पठित्वा च विद्या प्रदानेऽधिका स्यात्) ॥ ६९॥ तदा ज्ञानवृद्धिश्चरित्रमवृत्तिर्गरिष्ठो जनेऽथो भवेत्त्वं विचार्यं। परस्मै कुरुष्वार्पणं स्वं गुणानां, समाजे प्रवृत्तिर्विधेया सुखेन ॥ (तथाऽनन्यभावेन प्रीतिं विधाय) ॥ ७० ॥ यथा यश्च यस्मै विधत्ते च भावं, तथैवेतरोऽपि करोत्यात्मभावम्। धिया प्रेमभावो विचार्यैव कार्यो, यतोऽन्योन्यसंमेलनं स्यात्सुसौम्यम् ॥ ७१ ॥ न याचे गुरोः पादसेवातिरिक्तं, विरक्तिं तु वाऽऽध्यात्मविद्याप्रशक्तिम्। परं प्रेमतः साधुभावं प्रयाचे, समाजोन्नतिर्येन मे तद्विधेहि ॥ ७२ ॥ त्रिधा तापतप्तोऽहमस्मिन् भवाब्धौ, कथं मे निवृत्तिर्भवेद्दुःखराशेः। अतो मेऽभिलाषामिमां पूरयस्व, गुरो! स्वां दयां मे विधायाथ भावात् ॥ ७३ ॥ जीवत्राणकरीं निधाय विशदामास्येऽनिशं पट्टिकां, काये चोलपटं विलुंचितशिखः कक्षे स्थितां मार्जनीम्। विद्याशून्यमुखारविन्दहृदयः श्राद्धादिकैर्गीयते, लोकान् शिक्षयितुं सुवेशरचना यस्यास्ति तस्मै नमः ॥ ७४ ॥ उपर्युक्तमर्थं हृदा

स्यात् ॥ ७७ ॥ भवेत्काचिदित्थं जने योग्यता च, तथा शक्तिभावोऽस्ति यस्मिन् विशेषः । प्रदेयस्तदान्ये नरे भक्तितश्च, सुविज्ञानवृद्धिस्तथा शक्तिवृद्धिः ॥ ७८ ॥ स्वशक्त्येत्तया योग्यतायां च विद्योपयोगस्य वृद्धौ च संयुक्तवीर्ये । ध्रुवं योजनीयं ध्रुवं योजनीयं, स्वचित्तस्य शंकां निराकृत्य लोके ॥ ७९ ॥ [अथ परोपकृतिः] शिक्षाप्रेमधराः पवित्रहृदया भिक्षार्थिनो ध्यानतो, ज्ञायन्तां प्रतिजीवकार्यसमये लक्ष्यात्मविन्दुं मुहुः । मत्वानन्तपरोपकारकरणे शूरा भवन्त्वाहिता, लक्ष्यं नैव कदापि विस्मृतिपथं कर्तव्यमेवं विदुः ॥ ८० ॥ धर्मे मोन्नतिकार्यगौरववशान्नान्यत्ररोधे करः, येन स्यादुपकारकेऽनुदिवसं लोकोपकारी भवेत् । न स्थानं च कचित्प्रदेयमधुना भेदस्य भावस्य च, सामाजे वितरन्तु कार्यपरतां ध्यात्वा हृदा भिक्षुकाः ॥८१ साहाय्यं च भवेज्जनान्तरमुदेऽन्योन्यं विचारेण च, शक्तौ स्याद्दृढताबलं विवरणादेकं विचारस्य वा । तन्माहात्म्यबलं भविष्यति पुनः स्यादुन्नतत्वेन हि, संयुक्तस्य बलस्य वर्द्धनमथो स्यात्सोऽप्यनायासतः ॥ ८२ ॥ एकस्यान्यसहायकोऽनुदिवसं भूत्वा सहायं कुरु, स्वान्ते वासकराय देयमखिलं नो वा विचारो मुने । विधिवं च समाजके प्रसरति लोकोपकारस्ततो, ज्ञात्वा सर्वमिदं विचारनिरताः श्रेयस्करा बुध्यताम् ॥ ८३ ॥ [अथाऽऽधुनिका सम्यक्त्वादानरूढिः] अथानघभवे च भिक्षुकवरैप्याधीनजैनेषु च, सम्यक्त्वं प्रविधाय योगमिषतः शिष्यं स्वकीयं तथा । भक्तं पक्षधरं विनेतुमसत्वां रूढिर्विचित्रा गता । मत्वा सार्द्धमियं प्रवृद्धिरतुलां याता स्वरूपेण च ॥ ८४ ॥ मूकस्योऽप्यमितीव दोषविषयाज्ज्ञेयो मुनीन्द्रैस्त्वो । वृक्षाणामिव संततेश्च नितरां स्वार्थेन नाशो मुहुः ॥ सम्यक्त्वस्य तथान्थतथपवित्सच्च-

परिष्ठाः ॥ १०२ ॥ कृते चाभिमाने तपस्याविनाशः, समाजोन्नतौ जायते विप्रलंपः । अतश्चाभिमानं न वै धारणीयं, न वै धारणीयं न वै धारणीयम् ॥ १०३ ॥ महापक्षपाताभिमानाभिभूताश्चरन्त्यात्मनः कुमथा लोकगर्हाम् । समुत्पद्यते योगिनी मोहमाया, ततो बध्यते वल्लते भोगजाले ॥ १०४ ॥ मुनिजनहृदि भानुर्ज्ञानरूपी यदेति । सकलदुरितनाशो जायते चाप्ययासात् ॥ विकसति यदि पद्मं ज्ञानचारित्ररूपं । भवति मनसि शान्तिर्योगसिद्धिस्ततः स्यात् ॥ १०५ ॥ गृहस्था न चास्मिन्महामोहजाले, निबद्धुं त्वदीये समर्था भवन्ति । महानीरसपे मिलित्वा च सर्वे, भवेयुश्च यद्वात्स्वो जैनधाद्धाः ॥१०६॥ सदा संघसम्बन्धमात्रेण सर्वं, स्वकीयं विदित्वा कुटुम्बात्मरूपम् । [अथ शरीरसाहाय्यदानम्] यदा रोगयुक्तो भवेत्कोऽपि साधुः, क्वचित्कश्चिदेवं च देशान्तरस्थः ॥ १०७ ॥ न चेच्चानुकूल्यं जलं वायुरेवं, न तेषां सुखायायको वैद्य एव । चिकित्सालयं नास्ति तद्देशमध्ये, न वा साधनं किञ्चिदन्यं विदित्वा । तदा तत्र देशे विहारे भवद्भिर्भुवा साधुवर्य्येश्च ह्री दोलिकायाम् ॥ १०८ ॥ समारोप्य वा स्कन्धमारोपयित्वा, समानीयतामन्यदेशोऽनुकूले । यदा सम्प्रदायस्य भेदो हि छिन्नस्तदैवं भवेन्नान्यथा वै शुभं स्यात् ॥ १०९ ॥ केचित्स्वार्थपरायणाश्च मुनयः केचित्स्वकुक्षिंभराः, सन्त्यन्ये श्रुतसञ्चयेऽपि निरताः केचित्स्वधर्मच्युताः ॥ विचारस्वसुवञ्चितात्पमतयो मन्दाश्च केचिद्ध्रुवं, केचित्साधनसारशून्यहृदयास्ते वै कथं पारगाः ॥ ११० ॥ मुनिः सेवनास्ये निजे धर्मपदेऽमुद्धान्तरात्मातिपूतो विभाव्य । सुदास्यं भवेः सूरिभिर्वर्णितं च, महत्त्वं भवे भव्यभावेन सिद्धः ॥ १११ ॥ ततस्तस्य सम्बन्धभावो महान् हि, यतस्तेन सेवाख्यधर्मप्रचारः । मनाङ्‌ नाम

पुनरथो तेभ्यश्च देयं क्वचित् ॥ ९२ ॥ नेदं सर्वमपस्मृतिं कुरु न चेत्स्वर्गेऽपि न स्याद्गतिर्धर्मे मोक्षपथं च नाकमथवा स्वस्यैव पाणौ स्थितम् । जानन्त्येवमहं गुणोऽस्मि निखिलादन्येऽवराः सन्ति च, श्रद्धेयं परिज्ञायतामचिरतं स्यादन्धकारावृताः ॥ ९३ ॥ अस्त्यन्योऽपि महानुभावविषयः सन्धार्यतां चित्ततः, सम्यग्दृष्टप्रदत्तमन्यमुनिभिस्त्यक्त्वा च तत्त्वं पुनः । सम्यक्त्वं च प्रदाय नैव कुरुते सर्वोत्तमं मानतः, केचित्तेस्य समीपके च रहसि संलेखयित्वा मुदा ॥ ९४ ॥ संस्थाप्योत्तमग्राहकेण सदृशो नामाङ्कितं पुस्तकं । तीर्थस्याश्च स्वकीयपत्रनिचये संलिख्यते नाम च ॥ यात्रार्थं च जनाः प्रयान्ति नितरां तेषां यथा यत्नतस्तद्वज्जैनमताबलम्बनपराः कुर्वन्ति कुत्सान्विताः ॥९५॥ कठोरात्मिकायाश्च निन्दास्पर्द्धायाः, प्रवृत्तेश्च सञ्जायते कुमहत्वम् । ममत्वान्धकारेण संछादनं स्यात्तथा रागद्वेषादिकस्थानमेवत् ॥ ९६ ॥ सम्यक्त्वसंयुक्तवत्ते च सम्यङ् मन्दत्वमायातमितो विचिन्त्यम् । मदीयसम्यक्त्वबलस्य मूलं, संछिद्यते कुत्सितया च रीत्या ॥ ९७ ॥ अतोऽस्य रोगस्य चिकित्सकत्वं, कर्तव्यमेवं कुमश्रामणाद्यः । तदेकदेशस्य मलं विधाय, धर्म्मं भयङ्कारि च राजयक्ष्मा ॥ ९८ ॥ रोगो यथोत्पन्नतया करोति, विकारतामात्मगृतीयकेऽन्तः । महाननर्थो भवतीति ज्ञेयं, गृहस्थरागात्मकदृष्टिभावः ॥ ९९ ॥ विधाय दोषं परितः करोति, तथाऽनिशं पुत्तलिकेव दशा । सम्वर्तयन्त्यत्र विवर्द्धनं च, वैषम्यभावस्य निशम्य योगिन् ! ॥ १०० ॥ स्वकीयजालस्य महाधिकारं, सघोटयचैव स्वयं च सम्यक् । त्वदीयजालेन विशन्ति लोकाः, कुतश्च लोके प्रविवेकबुद्ध्या ॥ १०१ ॥ जानन्ति सर्वे च वरावरं वा, विचारसारस्य करोति मानवम् । धावन्ति ते चात्मपरम्परातो, दूरं परं क्रोशमितं

सुज्ञाः, शृण्वन्तु व्याख्यानमनन्यभावात् ॥ १३५ ॥ पश्चाद्भवन्तोऽपि
ह्युरासनं वरं, तन्वन्तु मत्सात्त्व तथोपदेशम् । कुर्वन्तु वृद्धिं च प्रशास-
नस्य, सुस्वागतं चापि तथैव सुज्ञाः ॥ १३६ ॥ साध्यं सुधर्मैकमेव
मुनयः सर्वे मिलित्वा दृढा । स्वाचार्यं परिकल्पयन्तु सुधियं विद्याच-
रित्रात्मकम् ॥ येन स्याच्च समाजकोन्नतिदशा शिक्षाविभागस्य च ।
नो चेद्धर्मविपर्ययस्य समयो जातोऽयमार्य्यं बुधैः ॥ १३६ ॥
संस्थाप्या किल भारतस्य जनता पोते च संघात्मके । सिद्धाख्यं नगरं
सुदारचरिता संस्थापयन्त्वाहिताः ॥ एतावत्करणेन याति भवता पार-
त्रिकं चैहिकं । सर्वं कार्यमदभ्रमेव विषयासक्तं मनोहीयताम् ॥१३७॥
स्वादर्शं च जगद्भवन्तमधुना जानातु चात्मा पुनर्व्यंकिं नाम भवेत्ततोऽ-
नुचितं धर्मानुसन्धानतः ॥ एवं धर्मपरायणो यदि भवेत्ते स्याच्च
कीर्तिः परा । तत्कालसंघविवर्धनाय भवतां स्थायेमवृद्धिस्तुभा ॥१३८॥
[अथ क्षमाऽभ्यर्थना] भवान् वीरपुत्रोऽस्ति शान्तमूर्तिरहिंसा
व्रतस्यान्वितः सत्यग्राही । तथा ज्ञानतोऽप्यन्यथादूरकोऽस्ति, पुनर्वी-
तरागानुसारं करोति ॥ १३९ ॥ नयनेन्दुसंख्योपरके शतस्य, दिना-
धिपत्वं कुरुते क्षमाम् । अवश्यमस्मिन्परोऽस्ति लोके, चोपाधि-
भाम्यस्ति विचारणीयम् ॥ १४० ॥ लघुत्वतो विधिरिदं, न समग्रं
न सत्यज्ञतिर्मेऽस्ति । स्वल्पानुभवोऽपि न शास्त्रेऽहं, व्याकरण-
दानेऽपि न मेऽस्ति शक्तिः ॥ १४१ ॥ मतिप्रसारि न चास्मि
विद्वान्, किन्त्वल्पबुद्धिरिव बालकोऽहम् । क्षमायमत्वं विद्याभि
श्रेयां, तथाऽस्ति संयुक्तकरताभिलाषी ॥ १४२ ॥ यतादिकं वै निवे-
धामि मन्दं, मतो यदि प्राग्वयसोऽन्यथानम् । जाने तथा विस्मृतिता-
परभृत्या हि गुणान्तरमोहनाय ॥ १४२ ॥ क्षमा विधेयाविन्य-

शुद्धिपत्रम्

कृतेऽपि भूयसि संशोधनप्रयासे काश्चिदशुद्धयोऽवशिष्टा एवेति ताः कृपया अधोनिर्दिष्टसङ्केतानुसारं संशोध्यैव पठन्तु पाठयन्तु भव्यजनाः श्रावका मुनयश्चेति सविनयमभ्यर्थयतेऽयं लघुतमः पुष्पभिक्षुः ॥

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तयः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१६	११	जैनतरमतावलम्बी	जैनेतरमतावलम्बी
१९	५	•	अनन्तशक्ति
२१	१५	सम्यग्दर्शनका	सम्यग्दर्शनकी
२८	४	मेल	मेल
२७	२३	भावन	भावना
३५	५	निशंकसे	निःशंकसे
४८	११	नश्वर	नश्वर
,,	२१	कार्माण	कार्मण
५२	२५	बुद्धिशाकिने	बुद्धिशाकिने
७३	१६	तेओ	ते
९०	११	कल्मापास्रवकारणम्	कल्मषास्रवकारणम्
९१	२२	पुरुपेष्वयि	पुरुषेष्वपि
१००	११	वहभी	वह भी
१००	२२	इनकि	इनकी
१०१	२	कि	की
१०३	२३	इत्यभिधानप्यदीपिका	इत्यभिधानप्पदीपिका
१०४	३	सबशदोंम	सब शब्दोंमें
,,	२५	सेठे	सेठं
१०६	५	तेन	तेने
१०९	१०	धुनीका मताः	धुनिकाः

(३) उस कर्ममलके कारण इस जीवको नाना योनिओंमें अनेक संकट भोगने पडते हैं और उसीके नष्ट हो जानेपर यह जीव अनन्तज्ञान-अनन्तदर्शन-अनन्तसुख और अनन्तशक्ति आदिको जो कि इसकी निजी सम्पत्ति है और जिसे मुक्ति कहते हैं वह प्राप्त करता है।

(४) निराकुलता लक्षणयुक्त मोक्ष सुखकी प्राप्ति इस जीवके अपने निजी पुरुषार्थके अधिकारमें है किसीके पास मांगनेसे नहीं मिलता।

(५) पदार्थोंके स्वरूपका यह सत्य श्रद्धान [Right belief] सत्यज्ञान [Right knowledge] और सत्य आचरण [Right conduct] ही यथार्थमें मोक्षका साधन है।

(६) वस्तुयें अनन्त धर्मात्मक हैं, स्याद्वाद ही उनके प्रत्येक धर्मका सत्यतासे प्रतिपादन करता है।

(७) सत्य आचरणमें निम्नलिखित बातें गर्भित हैं, यथा–

[क] जीव मात्र पर दया करना, कभी किसीको शरीरसे कष्ट न देना, वचनसे बुरा न कहना, और मनसे बुरा न विचारना।

[ख] क्रोध-मान-माया-लोभ और मत्सरआदि कषायभावसे आत्माको मलिन न होने देना, उसे इनके प्रतिपक्षी गुणोंसे सदा पवित्र रखना।

[ग] इन्द्रियों और मनको वश करना एवं बाह्य संसारमें लिप्त न होना।

[घ] उत्तम क्षमा-निर्लोभ-सरलता-मृदुलता-सत्य-शौच-संयम-तप-त्याग-ज्ञान ब्रह्मचर्यादि दशलक्षणात्मक धर्मको धारण करना।

[च] झूठ-चोरी-कुशील आदि निन्द्य कर्मोंसे ग्लानि करना।

(८) यह संसार स्वयं सिद्ध अर्थात् अनादि अनन्त है, इसका कर्ता हर्ता कोई नहीं है।

(९) आत्मा [soul] और परमात्मा [God] में केवल विभाव और स्वभावका विशेष है। जो आत्मा रागद्वेषरूप विभावको छोडकर निज स्वभावरूप हो जाता है उसे ही परमात्मा कहते हैं।

(१०) ऊच-नीच-छूत-अछूतका विचार मनुष्यका निजका किया हुआ विचार है वैसे मनुष्यमात्रमें प्राकृतिक भेद कुछ भी नहीं है।

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्यः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२४०	८	हि	च
२५२	२१	धर्मं	धर्म्मं
२५४	३	जिव!	जीव!
२५६	१२	निजा	निजां
,,	१९	नंक्ष्यत्ति	नंक्ष्यति
२५९	३०	समस्त्येद्वा	समस्त्येतद्वा
३०५	४	ऽश्नावि	ऽश्नाति
३१३	२४	दश्यते	दर्श्यते
३१४	२०	चैतना	चेतना
३१७	१७	स्वसन्	श्वसन्
३२०	१८	मस्तुवे	मश्नुवे
,,	२२	ऐसा	ऐसे
३२६	२५	दीनानो	दीनाँथ
,,	२८	चलते	चलति
३३०	२७	क्षेदं	क्षेदं
,,	२९	शंकटान्	संकटान्
३३१	१२	वेविवि	वेनेति
३३६	९	प्रयागमण्डल	प्रयागमण्डले
३४१	१९	निवेवनम्	निवेशनम्
३४७	२९	मादिनियमादि	यमादिकानां वि.
३४८	२८	जनोप्यू	जनैरू
३५३	१४	न भवयोगवित्तमम्	न भवेद्योगवित्तनः
३६६	२५	तद्रक्षसाधुना गुरो!	रक्षमामधुना गुरो!
३७०	९	जयज्ज्वलाम्भोधे	जगज्ज्वलाम्भोधेः
,,	१९	पुष्पाञ्जली	पुष्पाञ्जलिः
३७१	२१	विरदार	विरदर

पृष्ठाङ्काः	पङ्क्त्यः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३७२	२२	आपना	अपना
„	२५	अन्यत्वता	अन्यत्व
३७३	३	एकत्वता	एकत्व
३८१	९	तहः	वह
३८४	११	बोधात्मिकीं	बोधात्मिका
३८७	२१	कश्चित्प्रबन्धो	कश्चित्प्रबन्धो
३९९	६	दीयतेऽद्य	दीयते यद्

गच्छतः स्खलनं क्वापि, भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः ॥

विवृतिकारः

दानी पुरुषोंकी नामावली

१००) शे० जगजीवन महता, मु० झरिया, १००) शेठ मानकचन्द महावीरप्रसाद, सुपुत्र शेठ ज्वालाप्रसादजी राजा बहादुर कलकत्ता, १००) शे० शिवलाल पोपट संघवी, झरिया, २००) शे० मनोहरलाल जैन, कानपुर, २०) शे० अमरचंद नाहर, कलकत्ता, २०) शे० सुजानमल पन्नालाल कलकत्ता, २०) शे० गोपीचंद हीरावत कलकत्ता, ११॥) शे० चांदमल मूसल कलकत्ता, ११) शे० सुंदरलाल सारड कलकत्ता १४) शे० रतनलालजी पदलिया कलकत्ता, ७) शे० मांगीलाल बोरडिया सरधाड.

पुस्तकें मिलनेका पता—

मन्त्री-ज्ञातपुत्र महावीर जैनसंघ,

मु०, पो०, पाटोदी, [स्टेट]

जि० गुडगाँव, (पंजाब)